

**PADMASUNDARASŪRI'S
PĀRŚVANĀTHACARITA-
MAHĀKĀVYA
WITH HINDI TRANSLATION**

L. D. SERIES 100
GENERAL EDITORS
DALSUKH MALVANIA
NAGIN J. SHAH

EDITED WITH HINDI TRANSLATION
By
KSHAMA MUNSHI



L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY AHMEDABAD 9

**PADMASUNDARASŪRI'S
PĀRŠVANĀTHĀCARITA-
MAHĀKĀVYA**
WITH HINDI TRANSLATION

L. D. SERIES 100
GENERAL EDITORS
DALSUKH MALVANIA
NAGIN J. SHAH

EDITED WITH HINDI TRANSLATION
By
KSHAMA MUNSHI



L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY AHMEDABAD 9

Printed by
Jhalak Printers
Maliwada Pole
Shahpur
Ahmedabad-380 0001

and

Published by
Nagin J. Shah
Acting Director
L. D. Institute of Indology
Ahmedabad 9

FIRST EDITION
April 1986

PRICE RUPEES 24-00

पद्मसुन्दरसूरिविरचित

पार्श्वनाथचरितमहाकाव्य

हिन्दी अनुवाद सह

संपादिका
क्षमा मुन्शी



प्रकाशक :

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर
अहमदाबाद-९

प्रधान संपादकीय

अकबर बादशाह के विद्वद्मंडल में प्रतिष्ठित जैन कवि पद्मसुन्दरसूरि की अद्यावधि अप्रकाशित संस्कृत कृति पार्श्वनाथचरित महाकाव्य को प्रकाशित करते हुए ला. द. विद्यामंदिर को बड़ा ही हर्ष हो रहा है। पार्श्वनाथ जैनों के २३ वें तीर्थंकर है जो भगवान महावीर से २५० वर्ष पूर्व हुए। इतिहासकारों ने उनकी ऐतिहासिकता का स्वीकार किया है। प्रस्तुत महाकाव्य में पार्श्वनाथ के अन्तिम दस भवों का काव्यमय वर्णन है। यह महाकाव्य सात सर्गों में विभक्त है।

डॉ. क्षमा मुन्शी ने बड़े ही परिश्रम से इस महाकाव्य का संपादन किया है और साथ में ही हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। क्षमाजी ने अध्ययनपूर्ण विस्तृत प्रस्तावना में पद्मसुन्दरसूरि के जीवन और कृतियों का परिचय दिया है, पार्श्वनाथचरित महाकाव्य का अनेक दृष्टि से मूल्यांकन किया है, पार्श्वनाथ के जीवन की सामग्री का जैन आगम, जैन पुराण और अन्य जैन ग्रन्थों में से चयन किया है और पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता के बारे में आधुनिक विद्वानों की क्या राय है यह दिखाया है। छन्द, अलंकार और पाठान्तर विषयक तीन परिशिष्ट भी उन्होंने जोड़े हैं। क्षमाजी ने प्रस्तावना के साथ अपना यह संपादन ला. द. ग्रंथमाला में प्रकाशित करने की अनुमति दी इसलिए ला. द. विद्यामंदिर की ओर से उन्हें अनेकशः धन्यवाद।

संस्कृत साहित्य के अध्येताओं और विद्वानों इस नये संपादन को पढ़कर लाभान्वित और संतुष्ट हो ऐसी आशा रखता हूँ।

ला. द. विद्यामंदिर
अहमदाबाद-३८०००९
१५ अप्रैल १९८६

नगीन जी. शाह
कार्यकारी अध्यक्ष

उपोद्घात

गुजरात युनिवर्सिटी की पीएच. डी. की उपाधि के लिए मैंने अप्रकाशित कृति का संपादन किया है। १६ वीं सदी के सुप्रसिद्ध जैन कवि श्री पद्मसुन्दरसूरि की अप्रकाशित कृति श्री पार्श्वनाथ महाकाव्य का संशोधित संपादन, प्राचीन हस्तलिखित दो प्रतियों की सहायता से तैयार किया गया है।

प्रस्तुत महाकाव्य सात सर्गों में विभक्त, लगभग १००० श्लोकों में लिखा सरल संस्कृत भाषा में निबद्ध महाकाव्य है। इस काव्य में जैनों के तेइसवें तीर्थंकर पार्श्व के अन्तिम दस भवों की कथा आई है।

हस्तप्रतों के आधार पर महाकाव्य का प्रथम संपादन किया गया है। साथ में संपूर्ण महाकाव्य का हिन्दी में सरल अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया है।

कवि श्री पद्मसुन्दर के विषय में जो भी सामग्री विभिन्न ग्रन्थों एवं उनकी स्वयं की कृतियों से प्राप्त हो सकी है उसे प्रस्तावना में रखा गया है और उसके साथ ही साथ कवि की प्राच्य समस्त प्रकाशित एवं अप्रकाशित कृतियों का परिचय भी दिया गया है।

प्रस्तावना में प्रस्तुत महाकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन विस्तार से किया गया है। इसमें काव्य दृष्टि से काव्य की विवेचना करते समय संस्कृत साहित्य के सभी मूर्धन्य कवियों की कृतियों को दृष्टि में रखते हुए स्थान स्थान पर तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है। यहाँ मेरी चेष्टा यही रही कि मैं इस प्रस्तुत काव्य में से भी काफी कुछ उतनी ही साहित्यिक सामग्री निकाल सकूँ जितनी हम आज तक कविश्रेष्ठ कालिदास, श्रीहर्ष, माघ एवं भारवि आदि कवि की कृतियों में से पढ़ते आये हैं।

बाद में पार्श्व के जीवन से संबंधित सामग्री को प्रस्तुत करने के लिए जैनों के प्रमुख १२ आगमों में से पार्श्व-सामग्री का संकलन कर अध्ययन प्रस्तुत किया है। यहाँ पार्श्व से संबंधित जानकारी को एकत्रित करने के लिए आगम, पुराण एवं पुराणेतर ग्रंथों को क्रमानुसार रखा है। तत्पश्चात् मैंने पार्श्व के बारे में ऐतिहासिक दृष्टिकोण क्या रहा है उसकी पर्याप्त चर्चा की है।

अन्त में परिशुष्ट विभाग के अन्तर्गत, काव्य में आये सभी अलंकारों एवं छन्दों का वर्गीकरण दिया है, साथ ही पाठान्तर भी ।

मेरा यह कार्य अप्रकाशित ग्रंथ का संपादन होने से संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में एक नया प्रदान है, यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती । इसके साथ ही इस कृति को प्रस्तुत करने में मैंने जो अध्ययन किया है वह इस काव्यग्रंथ को समझने में बहुत ही सहायक सिद्ध होगा, यह निश्चित है । साधारण पाठक अथवा कोई भी संस्कृत जिज्ञासु इस महाकाव्य का निर्विघ्न पाठ कर सके इसके लिए मैंने सम्पूर्ण काव्य का सरल हिन्दी में अनुवाद भी प्रस्तुत किया है ।

जयपुर युनिवर्सिटी से संस्कृत साहित्य में एम. ए. (१९६९) करने के पश्चात् अहमदाबाद की ला. द. विद्यामंदिर संस्था में पीएच. डी. के लिए कार्य करना (१९७०) प्रारम्भ किया । हस्तलिखित प्रति का अध्ययन और संपादन, यह मेरे लिए बड़ा ही नया कौतुकमय अनुभव रहा है । अपने इस कार्य को पूर्ण करने में मुझे अपने गुरु डॉ. श्री नगीनभाई शाह से पद-पद पर मदद प्राप्त हुई है । उन्हीं के अत्यन्त प्रेरणादायी मार्गदर्शन में मैं अपना कार्य सुचारु रूप से पूर्ण कर पाई हूँ । पं. श्री दलमुखभाई माहलवणियाजी के प्रति मैं अपना विनम्र आभार प्रदर्शित करती हूँ जिनके संचालन में मुझे इस संस्था में सभी सुविधाएँ प्राप्त हुईं और जिन्होंने अपना अमूल्य समय मेरे संशोधनकार्य को देखने-सुधारने में खर्च किया । इसके साथ ही ला. द. विद्यामंदिर के समस्त कार्यकर्ताओं के प्रति मैं आभारी हूँ, उन सभी की सहायता मुझे हुई है । विद्यामंदिर के व्यवस्थापकों ने मेरा यह संपादन ला. द. ग्रन्थमाला में प्रकाशित किया इस लिये उनके प्रति मेरा आभार प्रदर्शित करती हूँ ।

२ अप्रैल, १९८६

अहमदाबाद

क्षमा मुन्शी

विषयनिर्देश

| | |
|---|--------------|
| प्रस्तावना | १-१०३ |
| प्रतिपरिचय | १ |
| कविपरिचय और उनकी कृतियाँ | २ |
| महाकाव्य का आलोचनारमक अध्ययन | १५ |
| पार्श्व के जीवन से संबंधित सामग्री | ६५ |
| पार्श्व-धरणेन्द्र और बुद्ध-मुत्तुलिन्द | ९१ |
| पार्श्व-एक ऐतिहासिक पुनरवलोकन | ९२ |
| मूल एवं अनुवाद | १-१३३ |
| परिशिष्ट-१ पार्श्वनाथचरित में प्रयुक्त अलंकार | १३४ |
| परिशिष्ट-२ पार्श्वनाथचरित में प्रयुक्त छन्द | १३५ |
| परिशिष्ट-३ पाठान्तर | १३६ |

पार्श्वनाथचरितमहाकाव्य

प्रस्तावना

प्रतिपरिचय

प्रस्तुत श्रीपार्वनाथमहाकाव्य का संशोधन प्राचीन हस्तलिखित दो प्रतियों की सहायता से किया गया है। इन दो प्रतियों में से भी विशेषतः शुद्ध पाठ 'अ' प्रतिका है। दूसरी 'ब' प्रति का पाठ प्रायः अशुद्ध है। अतः 'अ' प्रति का ही विशेष रूप से उपयोग किया गया है।

'अ' प्रति : लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद में सुरक्षित यह प्रति मुनिश्री पुण्यविजयजी के संग्रह की है। इसका क्रमांक ३७६९ है। यह प्रति कागज पर लिखी हुई है। इसकी लिपि नागरी है। इस प्रति का परिमाण २५. ७×११ से० मी० है। इस प्रति में कुल ४२ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में ११ पंक्तियाँ हैं। मात्र अन्तिम पृष्ठ में काव्य पूर्ण हो जाने के कारण से ६ पंक्तियाँ आई हैं। प्रत्येक पंक्ति में अक्षरों की संख्या समान नहीं है। पंक्तियों में अक्षरों की संख्या ३४ से ४० तक पाई जाती है। प्रति की अवस्था अच्छी है। इस प्रति का लेखनकाल १७ वीं शती का उत्तरार्ध है। काव्य के अन्त में पुष्पिका नहीं है। प्रथम सर्ग के अन्त में "इति श्रीमत्परापर-मेष्ठिपदारविन्दमकरन्दसुन्दररसास्वादसम्प्रीणितभव्यभठ्ये पं० श्रीपद्ममेरुविनेय पं० श्रीपद्म-सुन्दरविरचिते श्रीपार्वनाथमहाकाव्ये प्रथमः सर्गः" लिखा है। इसी प्रकार सम्पूर्ण काव्य में, प्रत्येक सर्ग के अन्त में लिखा गया है।

'ब' प्रति: बङ्गोदा की ओरिएण्टल सेन्ट्रल लाइब्रेरी की इस प्रति का क्रमांक २२१३ है। यह प्रति भी कागज पर लिखी हुई है। इसकी लिपि नागरी है। इसका परिमाण २४.८×११ से० मी० है। प्रति में कुल ३४ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में १५ पंक्तियाँ हैं तथा अंतिम पत्र में ११ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पत्र के बीच में षट्कोण के आकार में जगह खाली है। पंक्तियों में अक्षरों की संख्या असमान है। ३२ अक्षर से लेकर ४२ अक्षर तक की संख्या पाई जाती है। प्रति की अवस्था अच्छी है। परन्तु अधिकतर पाठ अशुद्ध है। प्रति का लेखनकाल १७ वीं शती का उत्तरार्ध है। काव्य के अन्त में पुष्पिका नहीं है। मात्र काव्य की समाप्ति की सूचना 'अ' के समान ही दी गई है।

कवि परिचय और उनकी कृतियां

कवि पद्मसुन्दर

पार्ष्णनाथ महाकाव्य के रचयिता श्री पद्मसुन्दर पद्मसेरु के शिष्य थे, तथा आनन्दसेरु के प्रशिष्य थे। वे नागपुरीय तपागच्छ के गणि थे¹।

श्री पद्मसुन्दर बादशाह अकबर के दरबार के प्रतिष्ठित साहित्यकारों में से एक थे। उनका उल्लेख अकबर के मित्र के रूप में भी किया गया है²। अतः यह स्पष्ट है कि श्री पद्मसुन्दर अकबर के समकालीन थे। बादशाह अकबर का शासनकाल सन १५५६ (1556 A. D.) से लेकर सन १६०५ (1605 A. D.) तक का रहा है³।

एक अन्य प्रमाण जो पद्मसुन्दर को अकबर के समय का ही बोधित करता है, वह यह है—सन १५८२ में जब श्रीहीरविजयसूरि अकबर के दरबार में आये थे तब तक पद्मसुन्दर का देहान्त हो चुका था तथा उनकी पुस्तकों का भंडार राजकुमार सलीम के पास था। उस भंडार को सलीम ने हीरविजयसूरि को भेंट में दिया जिन पुस्तकों से हीरविजयसूरि ने आगरा में एक पुस्तकालय स्थापित किया और थानसिंह नामक एक जैन भावक को उस पुस्तकालय का संचालक बनाया था⁴।

1. 'पद्मावली समुच्चय,' भाग २, चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला क्र० ४४. अहमदाबाद, १९५०, पृ० २२४।
'हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर,' एम० कृष्णामाचारी, दिल्ली, १९७०, पृ० २९४।
2. इसका उल्लेख श्रीअगरचन्द नाहटा ने 'अनेकान्त' भाग ४, पृ० ४७० में अपने लेख 'उपाध्याय पद्मसुन्दर और उनके ग्रन्थ' में किया है। 'अकबरशाहा शृंगारदर्पण,' गंगा ओरिएण्टल सीरीज नं० १, सम्पादक के० माधव कृष्ण शर्मा, प्रस्तावना, प्रो० दशरथशर्मा का लेख, पृ० २३, 'पद्मसुन्दर, a friend of Akbar'
3. 'अकबर द ग्रेट,' प्रथम अट्टि, आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, दिल्ली - १९६२, पृ० १ व ४८८।
4. प्रो० दशरथ शर्मा के पद्मसुन्दर पर लिखे लेख से, जिसका उद्धरण के० माधवकृष्ण शर्मा ने अपनी पुस्तक अकबरशाही शृंगारदर्पण के पृ० २३ पर किया है। 'सूरीश्वर और सम्राट,' मुनिराज विद्याविजय, गुजराती संस्करण, भावनगर, सं० १९७६, पृ० ११९-१२०।

जैनग्रन्थावली¹ के अनुसार पद्मसुन्दर ने रायमल्लाभ्युदय की रचना संवत् १६१५ (1559 A.D.) में की और पार्श्वनाथचरित की रचना संवत् १६२५ (1569 A. D.) में की परन्तु विन्टरनिज² का कहना है कि पद्मसुन्दर ने पार्श्वनाथचरित्र की रचना सन् १५६५ में की थी। अकबरशाही शृंगारदर्पण की प्रति का लेखनकाल सन् १५६९ है³। अतः इस कृति की रचना इस तिथि के पूर्व की होनी चाहिए। यद्यपि प्रो० दशरथशर्मा⁴ अपने पत्र में, विभिन्न तर्कों के साथ इसका रचनाकाल सन् १५६० का निश्चित करते हैं। उनका यह भी कहना है कि रायमल्लाभ्युदयकी रचना पद्मसुन्दर ने ई० १५५९ में की है अतएव उस समय तक तो वे जीवित थे ऐसा मानना चाहिए⁵।

सम्राट अकबर संस्कृत साहित्य के प्रेमी के रूप में सुप्रसिद्ध रहे हैं⁶। उनके ग्रन्थागार में संस्कृत साहित्य की कई पुस्तकें परशियन भाषा में अनुदित थीं⁷। मुगल बादशाहों के समय जैन आचार्यों को आदरयुक्त प्रश्रय प्राप्त रहा है। आनन्दराय (आनन्दमेरु) जो पद्मसुन्दर के गुरु पद्मेरु के भी गुरु थे, उन्हें बादशाह बाबर और हुमायूँ के समय में आदर प्राप्त था। उसी गुरु परम्परा में आगे चल कर श्रीपद्मसुन्दर को अकबर द्वारा आदर

नोट : यहाँ यह दर्शनीय है कि दोनों पुस्तकों के विवरण में भेद है। सूरेश्वर और सम्राट में लिखा है कि हीरविजयसूरि अकबर से मिले और अकबर ने अपने पुत्र शेखजी से मँगवा कर, पद्मसुन्दर द्वारा प्रदत्त पुस्तकों को उन्हें भेंट में दीं परन्तु प्रो० दशरथ शर्मा ने अपने लेख में लिखा है कि पद्मसुन्दर की पुस्तकों का संग्रह सलीम के पास था और सलीम ने हीरविजयसूरि को दिया था। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि हीरविजयसूरि बादशाह अकबर के दरबार में संवत् १६३९ में आए थे अतः पद्मसुन्दर का स्वर्गवास इससे पूर्व होना सिद्ध होता है।

1. जैनग्रन्थावली, श्री जैन श्वेताम्बर कॉन्फरन्स, बम्बई, सं० १९६५, पृ० ७७।
2. हिस्ट्री ओफ इन्डियन लिटरेचर, मोरिष विन्टरनिज, भाग २, दिल्ली, १९७२; पृ० ५१६।
3. अकबरशाही शृंगारदर्पण, पृ० २३।
4. प्रो० दशरथशर्मा का लेख, के० माधवकृष्णशर्मा द्वारा उद्धृत, अकबरशाही शृंगारदर्पण पृ० २३।
5. "He had been alive in 1559 A. D., the date of his रायमल्लाभ्युदय", प्रो० दशरथशर्मा के लेख का उद्धरण, सम्पादक के० माधवकृष्ण शर्मा की पुस्तक 'अकबरशाही शृंगारदर्पण,' पृ० २३।
6. "We might perhaps add that he enjoyed during this period also the company of literati like Padmasundar and was more fond of literature than philosophy."

अकबरशाही शृंगारदर्पण, २४।

7. के० एम० पनिकर द्वारा लिखित प्रस्तावना, अकबरशाही शृंगारदर्पण, पृ० ७।

प्राप्त हुआ¹ । इसी प्रकार पद्मसुन्दर के पश्चात् हीरविजयसूरि अकबर के दरबार में आदर के पात्र बने ।

अकबर के समय, उनके राज्य में राजमन्त्रियों एवं दरबारियों में कई विद्वान् उपस्थित थे । मुख्यतः हम दो के नामों से तो भली प्रकार परिचित हैं ही— पहले राजा टोडरमल, रेवन्युमिनिस्टर, जिनका धर्मशास्त्र पर लिखा ग्रन्थ आज भी 'संस्कृत लाइब्रेरी,' बीकानेर में मौजूद है । दूसरे पृथ्वीराज राठौर जो आज हिन्दी कवि की हैसियत से ही जाने जाते हैं उस समय के माने हुए संस्कृत भाषा के विद्वान् भी थे² ।

अकबर के दरबार के साथ जैन विद्वानों का मेलजोल एक ऐतिहासिक सत्य है । युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि, एक विख्यात जैन साधु, सन् १५९१ में अकबर द्वारा दरबार में बुलवाये गये थे और उनकी साहित्यिक कृतियों पर अकबर ने उन्हें 'युगप्रधान' का खिताब दिया था³ ।

हर्षकीर्तिसूरि की धातुतरंगिणी की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि जौधपुर नरेश मालदेव द्वारा भी पद्मसुन्दर सम्मानित हुए थे⁴ ।

नागपुरीयतपाच्छ की पट्टाविल के एक उल्लेख के अनुसार पद्मसुन्दर ने अकबर के दरबार में, एक बार किसी गर्वित ब्राह्मण को वाद-विवाद में हरा कर अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमाया था और सम्राट का मन जीत लिया था तथा कतिपय उपहार भी प्राप्त किये थे⁵ । उन्हें उपहार में ग्राम मिले थे, ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं । अतः यह धारणा निर्धारित होती है कि वे प्रथम पंडित रहे, और बाद में उन्होंने जैनी दीक्षा ली होगी ।

1. अकबरशाही शृंगारदर्पण, पृ० २० देखिए—

मान्यो बाबरभूसुजोऽत्र जयराट् तद्वत् हमाऊं नृपो —

त्यर्थं प्रीतमनाः सुमान्यमकरोदानंदरायाभिधम् ।

तद्वत्साहिशिरोमणेरकबरश्चमापालचूडामणे—

मान्यः पंडितपद्मसुन्दर इहाभूत् पंडितव्रातजित् ॥ २ ॥

2. के० एम० पनिकर द्वारा लिखित प्रस्तावना—अकबरशाही शृंगारदर्पण, पृ० ७ एवं ८ ।

3. वही ।

4. साहे: संसदि पद्मसुन्दरगणिजित्वा महापण्डितं

श्रीमग्रामसुखासनाद्यकबरश्रीसाहितो लब्धवान् ।

हिन्दूकाधिपमालदेवनृपतेर्मान्यो वदान्योऽधिकं

श्रीमद्योधपुरे सुरेप्सितवचाः पन्नाह्वयः पाठकः ॥

— हर्षकीर्तिसूरि की धातुतरंगिणी, ला० द० विद्यामंदिर, अहमदाबाद, प्रति क्रमांक

१८८२, पत्र ७६ ।

5. अकबरशाही-शृंगारदर्पण, पृ० २२ ।

“He was successful in a literary contest at the court of Akbar and was honoured with gifts of villages etc.”

‘हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर’ एम० कृष्णमाचारी, दिल्ली.

पट्टावली समुच्चय, भाग २, गुजराती संस्करण, पृ० २२४ ।

एच० ब्लौचमैन (H. Blochmann) द्वारा अनुवादित आइने-अकबरी (Aini-Akbari) में अकबर के १८० स्कोलर के नाम दिये गये हैं जिनमें से ३२ हिन्दु थे। इन स्कोलर को पुनः उनके क्षेत्रों के अनुसार पाँच विभागों में विभाजित किया गया है। इसमें से प्रथम विभाग में जिन आठ हिन्दु पंडितों के नाम आते हैं, वे ये हैं— मधुसर्जुती, मधुसूदन, नारायणाश्रम, दामोदरभट्ट, रामतीर्थ, नरसिंह, परमिन्दर व अदित^१।

यहाँ पर उल्लिखित परमिन्दर ही पद्मसुन्दर हैं। जिन्हें लिपिकार की गल्ती से परमिन्दर रूप में लिख दिया गया है^२।

इसके साथ ही कवि पद्मसुन्दर द्वारा रचित 'अकबरशाही शृंगारदर्पण'^३ नामक ग्रन्थ जिसका नाम ही अकबर के नाम पर रखा गया है, प्रतीत होता है मानो पद्मसुन्दर ने इस ग्रन्थ की रचना अकबर की प्रशस्ति में, उनके लिए ही की हो।

इन समस्त संदर्भों के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि पद्मसुन्दर अकबर के दरबार के विद्वानों में से एक थे। पद्मसुन्दर सं० १६१२ (१५५६ अ० डी०) से सं० १६६१ (? १६३१-१५७५ अ० डी०) तक अकबर की सभा में विद्यमान रहे हैं^४। उनका निवासस्थान संभवतः आगरा ही रहा होगा^५।

अर्वाचीन संस्कृत जैन कवियों में पद्मसुन्दर का स्थान महत्त्व का है। वे बहुतो-मुखी प्रतिभा के धनी रहे हैं। उन्होंने विभिन्न विषयों को लेकर काव्य व शास्त्रग्रन्थों की रचना की है। अतः उनकी विद्वत्ता विदित होती है। दुर्भाग्य से पद्मसुन्दर की सभी रचनाएँ अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाई हैं। मात्र चार छोटी रचनाएँ ही प्रकाशित हुई हैं।

1. 'आइने-अकबरी', एच० ब्लौचमैन द्वारा अनुवादित, दिल्ली, द्वितीय आवृत्ति १९६५, पृ० ५३७ से ५४७ तक।
2. 'अकबरशाही शृंगारदर्पण,' प्रस्तावना, पृ० २४ और २५
3. वही।
4. जैन ग्रन्थावली, श्री जैन श्वेताम्बर कान्फरन्स, बम्बई, सं० १९६५, पृ० ७७।
5. पद्मसुन्दर का निवासस्थान आगरा मानने का प्रथम कारण तो अकबर का दिल्ली, आगरा व फतहपुरसीकरी में रहना ही है। दूसरा, श्री अगरचन्दनाहटा ने भी अपने लेख में एक जगह लिखा है कि 'सं० १६२५ में जब तपागच्छीय बुद्धिसागरजी से खरतर साधुकीर्तिजी की सम्राट की सभा में पौषध की चर्चा हुई थी, उस समय पद्मसुन्दरजी आगरे में ही थे, - 'ऐतिहासिक जैनकाव्यसंग्रह,' श्रीअगरचन्द मेंवरलाल नाहटा, प्र० आवृत्ति, कलकत्ता, सं० १९९४, जईतपदवेलि, पृ० १४०-१४१।

कवि पद्मसुन्दर की कृतियाँ

प्रकाशित कृतियाँ :

- (१) अकबरशाही शृंगारदर्पण
- (२) कुशलोपदेश
- (३) षड्माणसुन्दर
- (४) ज्ञानचन्द्रोदयनाटक

अप्रकाशित कृतियाँ :

- (१) परमतव्यवच्छेदस्याद्वादसुन्दरद्वात्रिंशिका
- (२) राजप्रश्नीयनाट्यपदभञ्जिका
- (३) षड्भाषागर्भितनेमिस्तव
- (४) वरमङ्गलिकास्तोत्र
- (५) भारतीस्तोत्र
- (६) पार्श्वनाथचरितमहाकाव्य
- (७) सारस्वतरूपमाला
- (८) हायनसुन्दर
- (९) सुन्दरप्रकशशब्दार्णव
- (१०) यदुसुन्दर महाकाव्य
- (११) रायमल्लभ्युदय महाकाव्य
- (१२) जम्बूचरित्र
- (१३) प्रज्ञापनासूत्र की अवचूरि^१

१. अप्रकाशित कृतियों में खिमरिषिचउपै, श्रीदत्तचोपाई, चतुःशरणप्रकीर्णकबाला-वबोध तथा भगवतीसूत्र स्तबक इन चारों ही कृतियों के कवि पद्मसुन्दर हैं पर वे अपने पद्मसुन्दर से भिन्न लगते हैं ।

‘ खिमरिषिचउपा ’ क्षमासागरसूरि के शिष्य पद्मसुन्दर की कृति प्रतीत होती है; इन क्षमासागर का उल्लेख प्रज्ञापनासूत्र के लिपिकार की प्रशस्ति में आया है । (देखिए आगे) । इसकी प्रति ला० द० विद्यामंदिर में है । इसका क्रमांक १२२२ है । इसका परिमाण २४.७×१०.९ सें० मी० है । इसके पत्रों की संख्या ६ है । इस प्रति का लेखनकाल १७ वीं शती का है । इसकी भाषा गुजराती है । ‘ श्रीदत्तचोपाई ’ माणिक्य-सुन्दर के शिष्य पद्मसुन्दर की कृति प्रतीत होती है, जिन्हें कवि अपनी इस कृति में प्रणाम अर्पित करते हैं । यह कृति दो स्थानों पर दो भिन्न नामों से प्राप्य है । ला० द० विद्यामंदिर में उपस्थित इस प्रति का क्रमांक ८८३० है । इसका परिमाण २५.५×११ सें० मी० है । पत्रों की संख्या १६ है । इस प्रति का रचना संवत् १६२४ है । इसके अतिरिक्त देवशापाडा के जैन भंडार, अहमदाबाद की सूची में यह कृति ‘ श्रीदत्तरास ’ के नाम

पद्मसुन्दर की कृतियाँ :

कवि पद्मसुन्दर की कुल २१ कृतियों का उल्लेख हमें प्राप्त होता है । इनमें से चार कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं तथा अन्य कृतियाँ अभी तक अप्रकाशित ही हैं । उनकी छपी हुई कृतियों में से 'अकबरशाही शृंगारदर्पण' शृंगार रस पर लिखा हुआ ग्रन्थ है । यह गंगा ओरिएण्टल सीरीज नं० १ से सन् १९४३ में, अनुप संस्कृत लाइब्ररी वीकानेर से प्रकाशित हुआ है ।

उनकी 'कुशलोपदेश' नामक कृति डा० श्रीनगोनभाई शाह द्वारा सन् १९७४ में, ला० द० विद्यामंदिर, अहमदाबाद से प्रकाशित "संबोधि" नामक त्रिमासिक पत्रिका में भाग ३, नं० २-३ में प्रकाशित की गई है ।

'प्रमाणसुन्दर' नामक पमाणविद्या पर लिखा हुआ प्रकरण ला० द० विद्यामंदिर, अहमदाबाद से प्रकाशित 'जैन दार्शनिक प्रकरण संग्रह' (Jaina Philosophical Tracts) नामक ग्रन्थ में डा० श्रीनगोनभाई शाह द्वारा पृ० १२७-१६० पर सम्पादित किया गया है ।

'ज्ञानचन्द्रोदयनाटक' का संपादन भी डॉ. नगीनभाईने किया है । यह कृति ला. द. विद्यामंदिर से प्रकाशित हुई है ।

अप्रकाशित कृतियों में जम्बूअञ्जयण (प्राकृत) की पुष्पिका में कर्ता का नाम उपाध्याय श्रीपद्मसुन्दरगणि लिखा मिलता है पर उनकी गुरुपरम्परा का उल्लेख प्राप्त नहीं होता अतः शंका उठती है कि 'जम्बूअञ्जयण' के लेखक पद्ममेरु के शिष्य पद्मसुन्दर ही है अथवा अन्य कोई दूसरे पद्मसुन्दर ।

से उल्लिखित है । इस प्रति के पत्र २१ हैं । क्रमांक ५१२२ है तथा लेखन काल १८ वीं शती का है । इस कृति की भाषा गुजराती है ।

'चतुःशरणप्रकीर्णक-बालावबोध' भी देवशापाडा के जैन भंडार, अहमदाबाद की सूची में है । इसका क्रमांक ९४० है । प्रति के पत्र १७ हैं । प्रति में प्रथम चार पत्र नहीं हैं । इस प्रति का लेखन संवत् १६०३ है तथा प्रति पर पद्मसुन्दरगणि के हस्ताक्षर प्राप्त होते हैं । इन पद्मसुन्दर के गुरु का नाम उल्लिखित नहीं होन से निश्चितरूपसे उन के विषय में नहीं कहा जा सकता ।

चौथी कृति 'भगवतीसूत्र स्तवक' के कर्ता पद्मसुन्दर अपने आप को राजसुन्दरगणि के शिष्य बतलाते हैं ।

'भगवतीसूत्रस्तवक' (ला०द० विद्यामंदिर, अहमदाबाद का क्रमांक ४८४९) नामक कृति की पुष्पिका में कहा गया है :—

"श्रीराजसुन्दरगणिचरणकमलभ्रमरतुल्येन उपाध्याय श्रीपद्मसुन्दरगणिना स्वज्ञानावरणीय-कर्मक्षयार्थं पंचमाङ्गस्य श्रीभगवतीसूत्रस्य नामधेयस्य स्तवकविवरणं कृतम्॥

‘सारस्वत रूपमाला’ जितमें अन्त के श्लोक में मात्र “श्रीपद्मसुन्दरः” ही लिखा है— यह नहीं कहा जा सकता कि यह पद्मसुन्दर कौन हैं ? लेकिन पद्ममेरु के शिष्य पद्मसुन्दर ने ‘सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव’ सारस्वत व्याकरण की परिपाटी का अनुसरण करते हुए ही लिखा है। अतः यह ‘सारस्वत रूपमाला’ उनकी ही कृति हो, यह विशेष संभावित है।

इसी प्रकार ‘हायनसुन्दर’ एवं ‘सुन्दरप्रकाश’ इन दोनों कृतियों की अन्तिम पंक्तियों को देखने से यह मालूम होता है कि दोनों के कर्ता एक ही हैं।

कवि ‘सुन्दरप्रकाश’ में ६५ वें श्लोक की अन्तिम पंक्ति में लिखते हैं:— “जीयादारविचन्द्रतारकमयं विश्वेषु शब्दार्णवः”। ठीक इसी प्रकार की पदावलि हायनसुन्दर के अन्तिम (१३ वें) श्लोक में भी आई है :—

“ जीयात् ।

आचन्द्रतारकमसौ श्रीहायनसुन्दरो ग्रन्थः” ॥

इसके अतिरिक्त अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में पद्मसुन्दर की दो कृतियाँ ‘परमतन्वयवच्छेदस्याद्वादसुन्दरद्वात्रिंशिका,’ क्रमांक ९७४६ की तथा ‘राजप्रशनीयनाट्यपदभञ्जिका’ क्रमांक ९९३६ की प्राप्त होती है।

श्री अगरचन्द्र नाहटा ‘अनेकान्त’ भाग ४, पृ० ४७० पर पद्मसुन्दर की जिन अनुलिखित कृतियों का उल्लेख करते हैं, वे हैं :—

‘षड्भाषागर्भितनेमिस्तव,’ ‘वरमंगलिकास्तोत्र’ तथा ‘भारतीस्तोत्र’। इनमें से मात्र भारतीस्तोत्र का उल्लेख देवविमलगणि विरचित हीरसौभाग्य महाकाव्य की स्वोपज्ञवृत्ति (काव्यमाला प्रकाशन -६७, बम्बई, सन् १९००, सर्ग १४, श्लोक ३०२, पृ० ७४७) में किया गया है —“यथा पद्मसुन्दरकविकृतभारतीस्तवे— ‘वारं वारं तास्तरस्वरनिर्जितगंगा-तारंगा’ इति।”

जिन अप्रकाशित कृतियों की प्रतियाँ हम देख सके हैं, उनका विवरण हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं। कृतियों की पुष्पिका में कवि के नाम के आगे पं०, श्री, कवि, मुनि व गणि आदि विशेषण प्राप्त होते हैं। इन अप्रकाशित कृतियों की सूचि इस प्रकार है :

- (१) सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव
- (२) रायमल्लाभ्युदय महाकाव्य
- (३) सारस्वतरूपमाला
- (४) प्रज्ञापनासूत्र की अवचूरि
- (५) यदुसुन्दर महाकाव्य
- (६) हायनसुन्दर
- (७) जम्बूअञ्जयण

सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव

यह श्रीकान्तिविजयजी महाराज शास्त्र संग्रह, जैन ज्ञानमन्दिर, छाणी भंडार, नं० ४४८ का प्रति है। इस प्रति का परिमाण २७.५×१२.५ से. मी. है। इस प्रत का लेखनसंवत्

१९६२ है। इस प्रत के कुल पत्रों की संख्या ७६ है। प्रत्येक पत्र में १४ पंक्तियाँ हैं तथा प्रत्येक पंक्ति में ५० अक्षर हैं।

यह ग्रन्थ पाँच तरंगों में विभक्त है। प्रथम तरंग में २६९ श्लोक हैं, द्वितीय तरंग में ९५६ श्लोक हैं, तृतीय तरंग ४९६ श्लोक हैं, चतुर्थ तरंग में ३२२ श्लोक हैं, पंचम तरंग में ७४० श्लोक हैं। इस प्रकार कुल श्लोक की संख्या समस्त ग्रन्थ में २७८३ है। ग्रन्थाग्र ३१७८ है।

यह एक कोश ग्रन्थ है। यह व्याकरणसाधनिका सहित शब्दों का कोश है। अतः इसका विषय व्याकरण भी है और कोश भी। यहाँ पद्मसुन्दर सारस्वत सूत्रों का अनुसरण करते हैं। वे खुद इस ग्रंथ को शब्दशास्त्र कहते हैं।

आदि— श्रीवाग्देवतायै नमः। श्रीगुरवे नमः।
यच्चान्तव हिरात्मशक्तिविलसच्चिद्रूपमुद्राङ्कितं
स्यादित्थं न तदित्यपोहविषयज्ञानप्रकशोदितम्।
शब्दभ्रान्तिरतमःप्रकाण्डकदनब्रध्नेन्दुकोटिप्रभं
वन्दे निवृत्तिमार्गदर्शनपरं सारस्वतं तन्महः ॥ १ ॥

अन्त— यथामति मया प्रोक्तं किञ्चिच्छब्दानुशासनम्।
न शब्दजलधेः पारं गताविन्द्रावृहस्पती ॥ ६३ ॥
नानासूत्रपदप्रपञ्चनखराच्छब्दोग्रदंष्ट्राङ्कुरा-
द्रङ्गद्भ्रतरङ्गभीष्मवदनात् कृत्तद्धितोत्केसरात्।
श्रीमत्सुन्दरकाव्यपञ्चवदनाङ्गिपातलाङ्गलिनी
थेऽपभ्रंशमृगाः पलायनपरा यास्यन्ति कस्याश्रये ॥ ६४ ॥

नानाथौ घतरङ्गनिर्गमनिपातावत्तवेगोद्धताऽ-
नेकप्रत्ययनक्रचक्रविविधादेशोरुकोलहलः।
वाग्देवीगिरिसूत्रसूत्रनिवहस्रोतस्विनीवर्द्धितो
जीयादारविचन्द्रतारकमयं विश्वेषु शब्दार्णवः ॥ ६५ ॥

मावशासीः कुशलकृतिरैदंयुगीनाऽदसीया
सूत्राण्याद्यश्रुतपरिचितान्येव सारस्वतानि।
तस्माद्वीरुकुरु बहुमतं सादरं शब्दशास्त्रं
शब्दब्रह्मण्यपि निपुणधार्म्यत्परब्रह्मयायाः ॥ ६६ ॥

आनन्दोदयपवत्कैतरणेरानन्दमैरोगुरोः
शिष्यः पण्डितमौलिमण्डनमणिः श्रीपद्ममेरुर्गुरुः।
तच्छिष्योत्तमपद्मसुन्दरकविः श्रीसुन्दरादिप्रका-
शान्तं शास्त्रमरीस्वत्(?) सहृदयैः संशोधनीयं मुदा ॥ ६७ ॥

पदार्थचिन्तामणिचारुसुन्दरः
 प्रकाशशब्दार्णवनामभिस्त्वयम् ।
 जगज्जिगीषुर्जयतात् सतां मुखे
 तरंगरंगो विरराम पंचमः ॥६८॥

इति श्रीमन्नागपुरीयतपागच्छनभोमणिपण्डितोत्तमश्रीपद्ममेरुगुरुशिष्य पं० श्रीपद्मसुन्दर-
 विरचिते सुन्दरप्रकाशे पंचममस्तरङ्गः पूर्णः । तत्समाप्तौ च पूर्णः श्रीसुन्दरप्रकाशो ग्रन्थः ।
 नमः श्रीवाग्देवतागुरुचरणारविन्दाभ्याम् । ग्रन्थाग्रम् ॥३१७९॥ एकत्रिंशच्छतानि अष्टसप्तत्य-
 धिकानि ग्रन्थमानम् । शुभं भवतु । कल्याणमस्तु ।

रायमल्लाभ्युदय महाकाव्य

ला० द० विद्यामंदिर, अहमदाबाद में स्थित मुनिश्रीपुण्यविजयजी महाराज से प्राप्त प्रेसकापियों में से एक अपूर्ण कापी पद्मसुन्दरकृत 'रायमल्लाभ्युदय' महाकाव्य की प्राप्त होती है। इस कापी में दो सर्ग लिखे हुए हैं। प्रथम सर्ग पूर्ण है तथा आदि-अन्त युक्त है। इस सर्ग में ११० श्लोक हैं। प्रथम सर्ग का नाम "युगान्तरकुलकरोत्पत्तिवर्णन" है। द्वितीय सर्ग अपूर्ण है, इसमें ११५ श्लोक मिलते हैं। यह कापी किस प्रति के ऊपर से की गई है इस विषय पर कोई भी माहिती प्राप्त नहीं होती है। कुल सर्ग कितने हैं यह भी पता नहीं चलता।

इस काव्य में जैनों के २४ तीर्थंकरों के जीवन-चरित का वर्णन किया गया है।

आदि- स श्रीमान्नाभिसूनुर्विलसदविकलब्रह्मविद्याविभूति-

प्रश्लेषानन्दसान्द्रद्रवमधुरसुधासिन्धुमग्नानुभूतिः ।

यस्यान्तवैरिवारिन्धनदहनशिखाधूमभूमभ्रमाभा

भ्राजन्ते मूर्ध्नि नीलच्छविजटिलजटाः पातु वः श्रीजिनेन्द्रः ॥ १ ॥

प्रथम सर्ग का अन्त :

इति श्री परमात्मपरमपुरुषचतुर्विंशतितीर्थंकरगुणानुवादचरिते पं० श्रीपद्ममेरुविनेय पं०
 श्रीपद्मसुन्दरविरचिते साधुनाम्नात्मजसाधुश्रीरायमल्लसमभ्यर्धिते रायमल्लाभ्युदयनाम्नि महा-
 काव्ये युगान्तरकुलकरोत्पत्तिवर्णन नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

श्रीनाभिनन्दनजिनो वृजिनद्रुमाली,
 व्यालीढबुध्नपरिणाहभिदा कुठारः ।
 यो विश्वविश्वजनबन्धुरनतबोधः,
 श्रीरायमल्लभविकस्य शिवं तनोतु ॥ १ ॥

॥ आशीर्वादः ॥ छ ॥

सारस्वत रूपमाला

ला० द० विद्यामंदिर अहमदाबाद में उपस्थित श्री पुण्यविजयजी महाराज संग्रह की इस प्रति का नं० ४०३ है । इस प्रति का परिमाण २४ × १०.२ से० मी० है । इसके कुल पत्रों की संख्या ५ है । प्रत्येक पत्र में १५ पंक्तियाँ हैं तथा प्रत्येक पंक्ति में प्रायः ४३ से ४५ तक के अक्षर पाये जाते हैं । इस प्रति का लेखन संवत् १७४० है । इसमें दो सर्ग हैं । प्रथम सर्ग में १०० श्लोक हैं तथा द्वितीय सर्ग में ५३ श्लोक हैं । कुल श्लोकों की संख्या १५३ है । इस कृति की भाषा संस्कृत है तथा इसका विषय व्याकरण है ।

आदि । ॥ नमो भारत्यै ॥

नत्वा सार्वपदद्वन्द्वं ध्यात्वा सारस्वतं महः ।
सारस्वतक्रियारूपं वक्ष्ये शैक्षस्मृतिप्रदम् ॥ १ ॥

अन्त- सारस्वतक्रियारूपमाला श्रीपद्मसुंदरैः ।

सद्विधाऽलङ्करोत्वेषा सुधिया(यां) कण्ठकंदलीम् ॥ ५३ ॥

इति सारस्वतरूपमाला सम्पूर्णा ॥ संवत् १७४० वर्षे मार्गशिरसुदि १ शुक्लेऽलेखि ॥

प्रज्ञापनासूत्रअवचूरि

यह प्रति ला० द० विद्यामंदिर, अहमदाबाद में उपलब्ध है । इसका क्रमांक ७४०० है । इस प्रति का परिमाण २४.७ × १०.८ से.मी. है । इस प्रति के कुल पत्र २८३ हैं । प्रत्येक पत्र में १३ पंक्तियाँ हैं तथा प्रत्येक पंक्ति में ३३ से ३५ तक अक्षर पाये जाते हैं । प्रति की दशा अच्छी है ।

यह हस्तप्रति सं. १६६८ में आगरा नगर में बादशाह जहाँगीर के राज्यकाल में लिखी गई है । प्रज्ञापनासूत्र श्रीश्यामाचार्यकृत आगम ग्रंथ है । इस ग्रंथ पर टीका मलय-गिरि ने लिखी है तथा उस टीका के आधार से अवचूरि लिखने वाले कवि पद्मसुंदर हैं । ग्रंथ की मूल भाषा प्राकृत है तथा अवचूरि की भाषा संस्कृत है । इस ग्रंथ में ३६ पद हैं । अवचूरि ग्रंथाग्र ५५५५ है ।

अवचूरि की आदि—संबंधो द्वेषा उपायोपेयभावलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणश्च ।
तत्राद्यस्तर्कानुसारिणः प्रति । तथा वचनरूपापन्नं प्रकरणमुपायस्तत्परिज्ञानं चोपेयं । गुरुपर्व-
क्रमलक्षणः केवलश्रद्धानुसारिणः प्रति । तं चाग्रे स्वयमेव सूत्रकृदभिधास्यति । इदं च प्रज्ञाप-
नोपाङ्गं श्रीसमवायांगसूत्रसंबंधि ततः श्रेयोभूतमतो मा भूदत्र विन्न इति तदुपशांतये मंगलमाह—
अन्त—

प्रशस्ति —(प्रतलेखक की) : संवत् १६६८ वर्षे आषाढमासे शुक्लपक्षे
दशमीतिथौ आदित्यवासरे चित्रानक्षत्रे रवियोगे श्रीआगरामहानगरे पातिसाही श्रीजहाँगीरविजय-
राज्ये श्रीमत्श्रीविजयजगच्छाधिराज श्रीगुज्यश्रीविजयराजर्षिश्रीगुज्यश्रीधर्मदासर्षिश्रीगुज्यश्रीक्षमा-
सामरसूरिश्रीगुज्यश्रीपद्मसागरसुरिवराणां शिष्यपण्डितकेशराजेन श्रीगुज्यश्रीगुणसागरसूरिणामुप-

देशात् लिखापितोयं प्रज्ञापनाग्रन्थः । लिखितश्च कायस्थ भगवानदासेन । शुभं भवतु लेखकपा-
ठकयोः ॥

अवचूरि की प्रशस्ति —

श्रीमलयगिरिकृतायाः प्रज्ञापनावृत्तितोऽवचूरिरियं ।
श्रीपद्मसुन्दरेण व्यरच्चि यथार्था सुसंक्षिप्य ॥ १ ॥
समाप्ता श्रीश्यामाचार्यकृतप्रज्ञापनोपाङ्गाऽवचूरिरिति ॥

ग्रन्थाग्रं ५५५५ ॥ लिखितं कायस्थमाथुरमेवरिया दयालदासात्मजभगवानदास (दासेन) ॥

यदुसुन्दरमहाकाव्य

इस प्रति का क्रमांक श्री पुण्यविजयी महाराज संग्रह, ला० द० विद्यामन्दिर, अह-
मदावाद में उपस्थित २८५८ है । प्रति का लेखन समय १८वीं शती का उत्तरार्ध है ।
इस प्रति का परिमाण २७×११.१ से. मी० है । प्रति के कुल पत्र ५३ हैं । प्रत्येक
पत्र में पंक्तियों का संख्या १३ से १५ तक है तथा प्रत्येक पंक्ति में ४० से ४४ तक
के अक्षर हैं । पृष्ठ ३३ की दो बार आवृत्ति हुई है । प्रति की दशा ठीक है ।

इसका विषय महाकाव्य है । जैनों के बाइसवे तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन चरित्र
पर यह महाकाव्य लिखा गया है । प्रथम सर्ग में ४९ श्लोक, २ : ८५, ३ : २०१,
४ : ९६, ५ : ६४, ६ : ७३, ७ : ८८, ८ : ७१, ९ : ७६, १० : ७१, ११ :
७८, १२ : ८९, इस प्रकार कुल श्लोक संख्या १०६१ है । प्रति की दशा अच्छी है ।

आदि — श्री जिनाय नमः ॥

विनिद्रचन्द्रातपचारुभूर्भुवः—
स्वरीशमार्हन्त्यमनाद्यनश्वरं ।
स्वचुम्बिसंविद्घृणिपुञ्जमञ्जरी—
परीतचिद्रूपमुपास्महे महः ॥१॥

अन्त—

आनन्दोदयपर्वतैकतरणेरानन्दमेरोर्गुरोः
शिष्यः पण्डितमौलिमण्डनमणिः श्रीपद्ममेरुर्गुरुः ।
तच्छिष्योत्तमपद्मसुन्दरकविः संहृद्यवांस्तन्महा-
काव्यं श्रीयदुसुन्दरं सहृदयानदाय कंदायताम् ॥ ८९ ॥

इति श्रीमत्तपागच्छनभोनभोमणिपण्डितोत्तमश्रीपद्ममेरुविनेय ५०श्रीपद्मसुन्दरविरचिते
यदुसुन्दरनाम्नि महाकाव्ये सन्ध्योपश्लोकमंगलशंसनो नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥
समाप्तं चेदं यदुसुन्दरनाम महाकाव्यम् ॥

हायनसुन्दर

इस प्रति का क्रमांक ला० द० विद्यामंदिर अहमदाबाद का १०८० है। इस प्रति का परिमाण २५.२×११ से. मी. है। इसके कुल पत्रों की संख्या ६ है। प्रत्येक पत्र में १३ पंक्तियाँ हैं तथा प्रत्येक पंक्ति में ३६ से ३९ तक अक्षर पाये जाते हैं। यह प्रति किनारों-पर से फटी हुई है। इस प्रति का अनुमानित लेखन संवत् १९ वीं शती है। यह ज्योतिष शास्त्र से सम्बंधित ग्रंथ है। इसके प्रकरणों के नाम व श्लोकों की संख्या निम्न प्रकार से है।

प्रथम प्रकरण का नाम सूर्यदशाप्रकरणम् है तथा श्लोकों की संख्या २५ है। द्वितीय प्रकरण का नाम चन्द्रवर्षप्रकरणम् है तथा श्लोकों की संख्या २५ है। तृतीय प्रकरण का नाम भौमवर्षोशफलप्रकरणम् है तथा श्लोकों की संख्या १६ है। चतुर्थ प्रकरण का नाम बुधवर्षोशफलप्रकरणम् है, श्लोकों की संख्या २१ है। पंचम प्रकरण का नाम गुरुवर्षोशफल-प्रकरणम् है, श्लोकों की संख्या १९ है। षष्ठ प्रकरण का नाम शुक्रवर्षोशफलप्रकरणम् है एवं श्लोकों की संख्या १७ है। सप्तम प्रकरण का नाम शनिवर्षोशफलप्रकरणम् है एवं श्लोकों की संख्या १७ है। तथा अष्टम प्रकरण का नाम ग्रहस्वरूपप्रकरणम् (?) है एवं श्लोकों की संख्या १३ है। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रंथ के श्लोकों की संख्या १५३ है।

आदि— शुभग्रहयुतैः सौम्यैर्वर्षे स्वामिदशायुतैः ।
रोगोद्वेगापदां नाशः सुतदारादिसम्पदः ॥ १ ॥

अन्त—

एवं ग्रहस्वरूपं विचार्य वाच्यं मनीषिभिस्तद्वत् ।
सर्वं शुभाशुभं वा विज्ञेयं गुरुमुखात् सम्यक् ॥ १२ ॥

श्रीपद्मसुंदरमुनिप्रोक्तं सूर्यक्रमाच्छतो जीयात् ।
आचंद्रतारकमसौ श्रीहायनसुंदरो ग्रंथः ॥१३ ॥
इति श्रीहायनसुंदरग्रंथः समाप्तः ॥

जम्बूचरित्र या जम्बूअज्ञयण (प्राकृत)

यह पद्मसुन्दरगणिकृत प्राकृत काव्य है। इसकी रचना गद्य-पद्य मिश्रित है। इस काव्य में जम्बूस्वामी (जैनों के आन्तम केवली) के जीवन चरित्र का वर्णन पाया जाता है। मूल गाथाएँ प्राकृत में हैं तथा स्तवक गुजराती भाषा में लिखा हुआ है।

इस काव्य की प्रस्तुत प्रति ला० द० विद्यामंदिर अहमदाबाद की है। इस प्रति का क्रमांक ५११६ है। इस प्रति का लेखन संवत् १८६८ का है। प्रति के लेखक का नाम गौनचन्द्र है। यह प्रत कांननपुर (कानपुर) में शिष्य चिरं० सरूपचंद्र के पठन-पाठन हेतु लिखी गई है। यह प्रत स्तवकयुक्त है। इस काव्य में कुल २१ उद्देश हैं। इस काव्य की प्राचीनतम प्रति जो हमने देखी वह संवत् १८५०, शाक सं० १७१५ की पाई

जाती है। प्रति का परिमाण २५.४×११.४ से० मी० है। इस प्रत के कुल पत्र १०७ हैं। प्रत्येक पत्र में पाँच पंक्तियाँ हैं तथा प्रत्येक पंक्ति में प्रायः ३४ से ३५ तक के अक्षर पाये जाते हैं। प्रति की दशा अच्छी है।

आदि— श्रीऋषभदेवाय नमोनमः । श्रीमद्गोडिपार्श्वपरमेश्वराय नमोनमः ।
तेणं कालेणं तेणं समयेणं रायगिहे नामं नयरे होत्था वण्णओ ॥

अन्त— दसवयणं वूच्छेयं जाइस्ससी । सेणीया । एस जंबूपंचमभवदिट्ठं । ते संखेव(वे)णं भणीयव्वा । अणयारग्गंथे । वित्थारपउरं भविस्ससी । एस जम्बूचरीय जे सुच्चा सददहसि से आराहगा भाणियव्वा । जम्बूअज्झयणाए एगविसमो उद्देसो । एवं जम्बूअज्झयणं समत्तं । उवज्झाय श्रीपद्मसुन्दरगणी(णि)कृतं आलापकस्वरूपं सम्पूर्णं ॥

महाकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन

मानव स्वभाव चित्रण या चरित्रचित्रण

स्त्रीपात्र :

‘पार्ष्वनाथ चरित’ महाकाव्य की कथा में श्री पार्ष्व, कमठ, राजा अरविन्द, राजा अश्वसेन, राजा प्रसेनजित्, राजा यमन आदि पुरुष पात्र तथा वसुन्धरा, वरुणा, रानी वामा एवं राजकुमारी प्रभावती आदि स्त्रीपात्र उल्लिखित हुए हैं। इनमें से सभी पुरुष पात्रों का चरित्रचित्रण थोड़े या अधिक शब्दों में हुआ अवश्य है किन्तु इस काव्य में, किसी भी नारी के चरित्र की किसी भी विशेषता को कवि स्थान नहीं दे सका है। शायद इसका कारण कवि के काव्य का उद्देश्य मात्र धर्मदेशना ही रहा हो। कवि ने नारी पात्रों के सौन्दर्य का रेखांकन अवश्य किया है किन्तु उनके स्वभाव, उनकी चरित्रगतविशेषताओंके विषय में अधिक प्रकाश नहीं डाला है।

कथा को पढ़ते समय कवि के नारी पात्रों के विषय में जो भाव पाठक के मन में उठते हैं उन्हें दृष्टि में रखते हुए इस महाकाव्य की नारियों को यूँ देखा जा सकता है।

वसुन्धरा :

वसुन्धरा पार्ष्व के प्रथम भव के रूप मरुभृति की पत्नी है। वह अत्यधिक सुन्दर है। उसके सौन्दर्य का वर्णन अलग से किया गया है।

वसुन्धरा सुन्दर तो है पर अपनी चरित्रगत विशेषताओं में वह अत्यंत कमजोर प्रतीत होती है। वह अपने पति के प्रति निष्ठावान् नहीं है। पतिव्रत धर्म से भ्रष्ट हुई नारी के रूप में उसका चित्रण हुआ है। अपने जेठ (पति के बड़े भाई) के साथ वह दुराचरण में लिप्त रहती है जिसकी खबर उसकी जेठानी एवं उसके पति, दोनों को ही पड़ती है, फिर भी वह उसी कार्य में संलग्न है। इसी दुराचरण के फलस्वरूप वह अपने पति और जेठ दोनों को खो देती है। उसकी इस दुर्वृत्ति के कारण दो भाइयों का सुखी परिवार नष्ट हो जाता है। उसका पति जेठ के हाथों मरता है और उसका प्रेमी (जेठ) देश से निष्कासित तापस का जीवन व्यतीत करता है। अतः देह के समान उसके गुण सुन्दर नहीं हैं।

वरुणा :

वरुणा कमठ के प्रथम भव की पत्नी है। वह अत्यंत दुःखी स्त्री के रूप में अपनी प्रतीति कराती है। कारण कि उसका पति उससे प्रेम ना कर उसकी देवरानी से प्रेम करता है। स्पष्टतः ज्ञात नहीं होता पर सम्भवतः वह सुन्दर ना रही हो, ऐसा लगता है। अन्यथा उसे छोड़ उसका पति रूपवान वसुंधरा के प्रति क्यों आकृष्ट होता ?

वह अपने पति के दुराचरण को रोकने के प्रयत्न में ही अपने देवर से अपने पति की शिकायत करती है पर अर्थ सिद्ध नहीं होता। घर से दोनों ही पुरुषों (पति एवं देवर) की छाया चली जाती है।

दूसरे भव में मरुभूति के हाथी रूप में जन्म लेने पर, उसकी पत्नी हथिनी के रूप में उसे बतलाया गया है, जिसके साथ वह अनेकों प्रकार की केलि-क्रीडाएँ कर आनंद मनाती है। कवि का यह वर्णन अजीब सा लगता है। यहाँ कवि का आशय कर्म सिद्धान्त के स्थूल दृष्टांत को प्रस्तुत करने का रहा लगता है। यह भी हो सकता है वरुणा के मन की, मरुभूति के प्रति की कोई आसक्ति दूसरे जन्म में फलित हुई हो।

रानी प्रभावती :

रानी प्रभावती अत्यंत सुन्दर हैं (देखिए सर्ग ५ के श्लोक ३ से ३५ तक)। अपने पिता की आज्ञा से वे पार्श्व भगवान् के साथ विवाह करती हैं तथा थोड़े समय तक सुख भोगती हैं। बस इससे अधिक कवि ने कुछ भी ज्ञात नहीं होने दिया। पार्श्व के दीक्षित होकर घर छोड़ने पर उन्होंने खुश होकर अपनी अनुमति दी या उन्हें आघात लगा-आदि कितने प्रश्न पाठक के मन में उठ कर रह जाते हैं जिनका उत्तर कवि ने अपने काव्य में कहीं भी नहीं दिया है। कवि को अपने काव्य को अधिक रसमय बनाने का जो अवसर इस समय प्राप्त हुआ था, उसका उपयोग कवि ने नहीं किया है।

रानी वामा :

रानी वामा राजा अश्वसेन की पत्नी और पार्श्व को जन्म देने वाली सौभाग्यवान् स्त्री हैं। उनकी स्तुति में इन्द्राणी भी इन विशेषणों का उच्चारण करती हैं—

सर्वगीर्वाणपूज्ये ! त्वं महादेवी महेश्वरी ।

रत्नगर्भाऽसि कल्याणि ! वामे ! जय यशस्विनि ! ॥३, १०७ ॥

पार्श्व के गर्भ में आने से पूर्व वे शुभ लक्षणों वाले चौदह स्वप्न देखती हैं जिन्हें बड़े ही उत्साह के साथ अपने पति को बताती हैं। तत्पश्चात् ब्राह्मणों द्वारा उन स्वप्नों का अर्थ तीर्थंकर या चक्रवर्ति पुत्र की उत्पत्ति सुन अत्यंत मुदित होती हैं।

अपनी गर्भावस्था के समय की कमल के समान अपनी सुन्दरता से अपने पति के मन को प्रसन्न करती हैं। उस अवस्था में अपनी सखियों की कही प्रत्येक बात को आदर के साथ मानती भी हैं।

पार्श्व का नाम भी उन्होंने ही रखा था। वह अपने गर्भ के तेज के कारण महान्धकार में भी अपनी खाट के पास सर्प को देख सकी थीं इसी कारण उन्होंने अपने पुत्र को पार्श्व कह कर पुकारा।

अपने पुत्र की सुन्दरता व उसकी शैशवावस्था की भाँति-भाँति की क्रीडाओं को देख कर अपने पति के साथ एक साधारण स्त्री के समान खूब प्रसन्न होती हैं। आदि।

पुरुष पात्र :

पाश्वर् (नायक) : श्रीपाश्वर् प्रस्तुत महाकाव्य के नायक हैं। वे जैनों के तेइसवें तीर्थंकर रूप में अवतरित होने से पूर्व वे अनेक भव व्यतीत कर चुके हैं किंतु यहाँ प्रमुख नौ भवों का वर्णन है, जब से उन्होंने सन्मार्ग पाकर तीर्थंकर बनने की और प्रयाण किया। उनमें से चार भवों में वे विभिन्न स्वर्गों में देवता बनते हैं तथा एक भव (द्वितीय भव) में वे हाथी बनते हैं। इन भवों में उनके चरित्र का विकास नहीं हुआ है। शेष भवों में वे क्रमशः मरुभूति, किरणवेग, वज्रनाभ, कनकप्रेम व श्रीपाश्वर्जिन बनते हैं। इन सभी भवों का व्यक्तित्व यद्यपि भिन्न है तब भी उनमें एकसूत्रता पाई जाती है और इस प्रकार श्रीपाश्वर् के चरित्र का क्रमिक विकास दिखलाई देता है।

मरुभूति (प्रथम भव) : पोतनपुर नामक नगर के राजा अरविंद के राज में विश्व-भूति नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसके दो पुत्र थे—बड़े का नाम कमठ व छोटा मरुभूति था। दोनों ही भाई षडंग वेद, श्रुति, स्मृति, आन्वीक्षिकी, मीमांसाशास्त्र, सांख्यतत्त्व, धर्मशास्त्र, पुराण, ब्रह्मविद्या, ब्रह्मकर्म में कुशल, नीति शास्त्रों के ज्ञाता थे। वे दोनों ही राजा अरविंद के यहाँ मंत्री पद पर प्रस्थापित थे।

मरुभूति बहुत ही नेक प्रकृति का था। यह दयालु था, विवेकी था तथा शंका उसे छू भी नहीं गई थी। उसके दिल में अपने बड़े भाई के प्रति करुणा थी। वह अपने अपराध के शमनार्थ अपने बड़े भाई से क्षमा मांगता है, आर अपने प्राण खो देता है। शिला की चोट से उसे जो पीड़ा होती है उसे बस में ना कर सकने के कारण, अंतिम समय शुद्धलेश्या से ना मरने पर उसे अपने अगले जन्म में हाथी बनना पड़ता है।

मरुभूति की पत्नी वसुन्धरा बहुत ही रूपवती थी। एक बार जब उसे ज्ञात होता है कि उसका बड़ा भाई उसकी पत्नी के साथ दुराचार कर रहा है तब उसको बड़ा दुख पहुंचता है। पर फिर भी वह अपनी भाभी के कथन को भी सत्य मानने को तैयार प्रतीत नहीं होता तभी तो दूसरे देश जाकर, कार्नाटक (मिथुक) का वेष धारण कर रात को अपने भाई के घर आश्रय मांग, स्वयं अपनी आँखों से सम्पूर्ण वृत्तान्त देखता है और अपनी असह्य पीड़ा का कोई उपचार ना जान राजा से उस वृत्तान्त का निवेदन करता है।

राजा जब कमठ को उसके अपराध के कारण, अपमानित कर देश से निकाल देते हैं तब भी मरुभूति को पश्चात्ताप होता है। उससे शायद अपने भाई का अपमान सहन नहीं होता। अतः अपने मनोदुःख को भूल, वह क्षमा याचना के लिए कमठ के पास जाता है और क्षमादान न मिलने पर अपने प्राणों को ही निछावर कर आता है। कमठ के हाथों उसकी मृत्यु होती है।

किरणवेग (चतुर्थ भव) : तिलक नामक नगर में विद्भुगति नामक विद्याधरों का एक राजा था। उसकी पत्नी का नाम कनकतिलक था। किरणवेग उनका पुत्र था। युवा होने पर राजकुमार किरणवेग ने सभी प्रकार की कलाओं में दक्षता प्राप्त की। कई

बर्षों तक राज्य का भी उपभोग किया और तब एक दिन धर्म का श्रवण कर, वह महो-मना सुरगुरु नामक सूरि के पास विरक्त हो गया और उनसे दीक्षा ग्रहण की। शास्त्रों के एकादश अंगों को पढ़कर वह अपने शरीर से भी निःस्पृह हो गया। एक बार आकाश-मार्ग से वह पुष्कर द्वीप में पहुँचा और वहाँ स्वर्णगिरि के पास प्रतिमायोग में आसीन हुआ। वहाँ कमठ जो विषधर के रूप में था, उसने उसे डस लिया। धर्मध्यान में लीन किरणवेग ने अपने प्राण त्यागे।

यहाँ किरणवेग नामक राजकुमार की सबसे प्रमुख विशेषता जो दिखलाई देती है वह है उसकी धर्म के प्रति अभिरुचि, आस्था और लगन। विषधर के डसने पर भी वह विचलित नहीं होता और धर्म में ही आरूढ़ अपने प्राण त्याग देता है। राज्य के वैषयिक सुख भी उसे मोहित नहीं करते और उन सुखों को त्याग वह वैराग्य धारण करता है।

वज्रनाभ (छठाँ भव) : शुभंकरा नगरी के राजा वज्रवीर्य और रानी लक्ष्मीमती के पुत्र का नाम वज्रनाभ था। सम्पूर्ण राजविद्याओं में निपुण होने के पश्चात् उसने राज्य ग्रहण किया। तत्पश्चात् अपने पुत्र विद्यायुध को राज्य सौंप कर क्षेमंकर जिन से जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की। वह मूलगुण और उत्तरगुण में संयम वाला, शास्त्रज्ञ विद्वान्, पञ्च समितियों से समित और विशेषकर तीन गुप्तियों से गुप्त था। उग्र तपस्या करते हुए उसने सुकच्छविजय नामक स्थान में कायोत्सर्ग किया। वहाँ कमठ किरात के रूप में रहता था उसने मुनि को देख, अपशकुन समझ, पूर्ववैर का स्मरण कर, अपने बाण से तीक्ष्ण कर उसे मार दिया। मुनि धर्म में बुद्धि लगा धन्य हो गया।

धर्मारूढ वज्रनाभ की चारित्रिक विशेषताएँ किरणवेग राजकुमार के समान ही हैं। धर्म में उसका प्रयत्न बढ़ता दृष्टिगोचर होता है।

कनकप्रभ (आठवाँ भव) : तत्पुराण नामक नगर के राजा वज्रबाहु और स्वरूपवान रानी सुदर्शना के पुत्र का नाम कनकप्रभ था। शरीर से स्वर्ण की कान्ति वाला था। बाल्य-काल व्यतीत होने पर उस राजकुमार ने सम्पूर्ण कलाओं को ग्रहण किया। उस राजकुमार के मुखकमल में सरस्वती का और हस्तकमल में लक्ष्मी का निवास था। वह बहत्तर कलाओं का ज्ञाता था, राजनीति के जानकारों में श्रेष्ठ था, उसने लक्षणग्रन्थों के साथ साथ अनेक साहित्यिक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। राजकार्य में कुशल उसने राज्य के कार्यभार को सम्भाला। उसने चक्रवर्तित्व को प्राप्त कर न्यायपूर्वक सम्पूर्ण पृथ्वी का शासन किया। उसके शासन काल में प्रतिद्वंद्वी राजा लोग किसी प्रकार की कहीं पर भी उद्दण्डता नहीं करते थे। वह ना ज्यादा कठोर था, न ज्यादा कोमल। वह प्रजा का आनंद बढ़ाने वाला था। मध्यममार्ग का अवलम्बन करके उसने संपूर्ण संसार को अपने बस में कर लिया था। राजा के धर्म, अर्थ और काम-इन तीन पुरुषार्थों में परस्पर विरोध नहीं था। इन्द्रियों को वश में रखने वाले सन्मार्ग में प्रवृत्त उस राजा ने आन्तर-बाह्य दोनों प्रकार के शत्रुओं को इस प्रकार शान्त कर दिया था जिस प्रकार वर्षा मिट्टी के कणों को शान्त कर देती है। शत्रुनाशक उस राजा के सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय-वे षड्गुण अत्यन्त

सफल थे। शान्त और प्रसन्न इस राजा की कहीं पर भी जाति, सौन्दर्य, शक्ति और ऐश्वर्य के मद से जन्य उद्वेगिता बढती नहीं थी।

एक बार, उसने आकाशमार्ग से निकलते देवताओं के समुदाय को देख स्वामी जिनेश्वर का आगमन जान, जिनेश्वर की भक्तिपूर्वक वन्दना करने हेतु सेना के साथ प्रस्थान किया और जिनेश्वर के उपदेशों को ग्रहण कर, उनकी भक्तिपूर्वक स्तुति कर पुनः नगर को लौटा। दूसरे ही दिन कनकप्रभ धर्मदेशना को विशुद्ध चित्त से विचारता हुआ, भावना और जातिस्मरणज्ञान को प्राप्त कर, पूर्वभवों को देखकर विरक्त हो गया। पुत्र को राज्य सौंप उस राजा ने संसार के पदार्थों से विरक्त होकर जिनदेव के पास जैन धर्म की प्रव्रज्या ग्रहण की।

उस मुनि ने एकादश अंगों का अध्ययन किया। तीन रत्नों—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को धारण किया एवं रागादि उपद्रवों को जीता। उसने बाह्य और आभ्यन्तर इन दो प्रकार के और इसके साथ ही बीस स्थानक तप भी किये। उसने अर्हत्तों की, सिद्धों की, चतुर्विध संघ की, स्थविरों की, ज्ञानियों की और तपस्वियों की सेवाभक्ति की। वह दर्शन और विनय को प्रकट करनेवाला था। वह छः प्रकार के आवश्यक तथा निरतिचार शील और व्रत का पालन करता था। तीर्थकृत् के सभी कारणों की भावना करते हुए उसने तीनों लोक में क्षोभ करने वाले तीर्थकृत्गोत्रकर्म को बाँध लिया।

अत्यन्त उग्र तप करके, बहुत समय तक सद्भावनापूर्वक अन्तकाल में आमरणान्त उपवास करके वह मुनि प्रतिना ध्यान में स्थित हो गया। वहीं तिंह योनि में उत्पन्न कमठ ने मुनि को देखकर, पूर्ववैर का स्मरण कर, उसे कण्ठ से पकड़ लिया। अन्त समय में विशुद्धलेश्या वाला वह मुनि मर कर प्राणत देवलोक में महाप्रभविमान में बीससागरोपम आयु वाला देव हुआ।

कनक प्रभ की चारित्रिक विशेषताओं में किरणवेग व व्रजनाभ के चरित्र से अधिक विकास दिखाई देता है।

राजा के रूप में वह अत्यधिक सफल था। उसका राज्यकाल अत्यधिक शान्ति व समृद्धि से भरपूर था। चक्रवर्तित्व को प्राप्त कर उसने सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन किया था। उसकी उत्तम नीति का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :—

स नातितीक्ष्णो न मृदुः प्रजासु कृतसम्पदः ।

निषेव्य मध्यमां वृत्तिं वशीचक्रे जगद् नृपः ॥ २, २५ ॥

धर्मदेशना प्राप्त कर, बैराग्य की उत्पत्ति के पश्चात् दीक्षा लेने से लेकर कठोर तप करने तक की सभी विधियाँ एवं प्रक्रियाएँ अन्तिम भव के श्री पार्श्वजिन की भक्ति आदि से मिलती जुलती हैं। श्रीपार्श्व के तीर्थंकरजिन बनने का मार्ग शनैः शनैः सभी भवों में उत्तरोत्तर कर्मबन्धन से मुक्ति व धर्मलाभ के प्रति ज्यादा से ज्यादा प्रयत्न और प्राप्ति के

रूप में तैयार होता दिखलाई देता है । इसी के फल स्वरूप अपने नौ मनों की आराधना के परिणामस्वरूप मरुभूति का जीव अन्त में तीर्थंकर के रूप में प्रकट होता है ।

श्रीपार्श्व :

पार्श्वनाथ वाराणसी नगरी के राजा अश्वसेन एवं रानी वामा के पुत्र हैं । वे जैनों के तेइसवे' तीर्थंकर हैं । अतः उनके जन्ममहोत्सव, जातकर्म व स्नात्रमहोत्सव आदि संस्कार दिक्कुमारियों व देवताओं द्वारा सम्पन्न होते हैं । शैशवावस्था से ही पार्श्व सभी विद्याओं में निपुण थे । उन्होंने बिना किसी गुरु की मदद के समस्त विद्याओं को स्वयं प्रकट कर दिया था । युवा होने पर उन्होंने अपने पिता के राज्यकार्य में मदद करनी प्रारम्भ की ।

कवि ने पार्श्व को एक वीर योद्धा के रूप में उपस्थित किया है । उन्हें अपनी वीरता पर पूरा भरोसा भी है । राजा प्रसेनजित् द्वारा महाराजा अश्वसेन को युद्ध के लिए बुलाने पर जब महाराजा प्रस्थान करने लगते हैं तब पार्श्व उन्हें जाने से रोकते हैं । इस समय के उनके शब्द सुनिये—

सुते सति मयि स्वामिन्न प्रस्थानं तवोचितम् ।

रवेर्बालातपेनापि तमः किं न विहन्यते ? ॥ ४, १३० ॥

वे सचमुच बाल आतप ही हैं । युद्ध के समय की उनकी वीरता दर्शनीय हैं । शत्रु यमन की सेना उनके आते ही छिन्न-भिन्न होकर भाग खड़ी होती है । देखिए—

यमनस्य भटास्तावत् कान्दिशीका हतौजसः ।

बभूबुस्तपनोद्योते खद्योतद्योतनं कुतः ? ॥ ४, १८० ॥

श्रीमत्पार्श्वप्रतापोग्रतपनोद्योतविद्रुताः ।

यमनाद्यास्तमांसीव पलायांचक्रिरे द्रुतम् ॥ ४, १८१ ॥

प्रसेनजिन्नृपांर्कं ये संनीयाऽस्थुर्भटाम्बुदाः ।

व्यलीयन्त क्षणात् पार्श्वप्रसादपवनेरिताः ॥ ४, १८२ ॥

पार्श्वकुमार का विवाह राजा प्रसेनजित् की अस्यन्त रूपवान् पुत्री प्रभावती के साथ हुआ था । उन्होंने आसक्तिरहित होकर कुछ समय तक सुख भोगा था ।

उसके पश्चात् वनविहार के मनोरंजनार्थ जब वे नन्दनवन के भवन में गये और उस भवन की दीवारों पर चित्रित नेमिचरित को उन्होंने देखा तब उन्हें दीक्षा ग्रहण करने की प्रेरणा मिली । उन्होंने विरक्तचित्त होकर साम्बत्सरिक दान आदि करना प्रारम्भ किया । वे अपने पूर्वभवों पर मनन करते हुए, सांसारिक सुखों की क्षणिकता पर विचार करते हुए विरक्त हो गये । उनकी केशलुचन आदि विधि देवताओं ने की । उन्होंने तीन सौ राजाओं के साथ व्रत ग्रहण किया । लम्बी अवधि की तपश्चर्या के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त होने पर पार्श्व प्रभु ने अपने उपदेश में जिन तत्त्वों पर अपने विचार प्रकट किये, वे ये हैं :—
दो तत्त्व - जीव एवं अजीव, जीव के पाँच भाव, आत्मा, भव, मोक्ष, बन्ध के हेतु, अजीव,

काल, पञ्चास्तिकाय, पुद्गल, पुण्य-पाप, संवर, तप, निर्जरा, मोक्ष, सिद्धों के १५ प्रकार, चारित्र्य, मोक्ष, पुरुष, पुरुषार्थ, मार्ग व मार्गफल, समस्त लोकनाडी, संसारी जीवों की आगति-गति-उत्पत्ति-च्यवन, शलाकापुरुषा का चरित्र, कर्मों की वर्गणा, कर्मों की स्पष्टक आदिके द्वारा व्यवस्था, प्रतिसेवना, प्रकट या उदित कर्म, अप्रकट या अनुदित कर्म, कर्मफलभोग और कर्म से मुक्ति आदि... ।

कवि ने पार्श्व के राज्य भोगने आदि का वर्णन विस्तार से नहीं किया है । एकमात्र एक युद्ध में जाने की ही घटना को बताया है । पार्श्व तीर्थंकर के रूप में ही पैदा हुए हैं अतः उनके जन्म से दीक्षा लेने तक की सभी घटनाएँ अलौकिक हैं तथा देवताओं द्वारा सम्पन्न की गई हैं । इन्द्र स्वयं इन्द्राणी के साथ पार्श्व की कई बार स्तुति करते हैं । इससे अधिक उनके चरित्र की महत्ता को दर्शाने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती ।

पार्श्व फिर भी मानव है । काव्य में उनके मानवीय गुणों का ही अधिकतर वर्णन किया गया है । गुरुजनों की आज्ञा को स्वीकार करना उनका गुण है जैसा कि उन्होंने राजा प्रसेनजित् के निवेदन करने पर उनकी पुत्री से विवाह की स्वीकृति प्रदान कर बताया । अपने पिता को युद्ध में जाते देख, अपने राजकुमार होने के फर्ज को ध्यान में रख पार्श्व पिता को युद्ध में जाने से रोकते हैं तथा स्वयं जाते हैं । यहाँ उनके कर्तव्यपरायणता रूपी गुण के दर्शन होते हैं ।

कमठ के कर्मकाण्ड से भरपूर पञ्चाग्नि तप को नगरवासियों की देखादेखी कौतुहल-पूर्वक वे भी जाने की इच्छा को रोक नहीं पाते । यह उनका साधारण मानवीय गुण है । तथा अवधिज्ञान से लकड़ी के अन्दर उपस्थित सर्पयुगल को जान कमठ को लकड़ी चीरने से रोकना, उसे सच्चे जैन धर्म का उपदेश देना, सर्पयुगल को नमस्कार मंत्र सुना कर मुक्ति प्रदान करना आदि, युवा होने पर भी पार्श्व का धर्मतरव में शानी होना उनके पूर्व जन्मों के संघर्ष का परिणाम है एवं अलौकिक गुण है ।

नमिचरित के आलेखन को देखने के पश्चात् जब पार्श्व रागमुक्त हो उठते हैं तब उनको राजा को प्राप्त वैषयिक सुख, माता-पिता, पत्नी, सम्बन्धीजन आदि किसी की भी माया आकर्षित नहीं कर पाती । यहाँ उनके त्याग, इन्द्रियसंयम, एवं कष्टसहिष्णुता आदि गुणों के दर्शन होते हैं ।

अन्त में, मेघमाली नामक असुर (जो कमठ का जीव है) के क्षमा माँगन पर, करुणाचित्त भगवान्, उसके जन्म जन्मान्तरों के सविघ्न उपसर्गों को विस्मृत कर और उसे माफ कर, कर्मबन्धों से मुक्ति प्रदान करते हैं । यहाँ उनके क्षमा, सहिष्णुता, परदुःखका-तरता आदि गुण लक्षित होते हैं ।

केवलज्ञान की प्राप्ति पर वे अपने उपदेश से देव, दानव और असुर तीनों को उपकृत करते हैं और अन्त में निर्वाण प्राप्त करते हैं । उनके ये सभी गुण तीर्थंकर के योग्य ही हैं ।

कमठ (प्रतिनायक) —

कमठ इस महाकाव्य का प्रतिनायक है ! वह इस महाकाव्य के नायक के प्रथम भव का बड़ा भाई है ।

वह विद्वान् है । राजा अरविन्द का मन्त्री भी रह चुका है । पर अपने विलासी और दुराचारी व्यवहार के कारण उसे राजा द्वारा देश से निष्कासन प्राप्त होता है ।

विद्वान् होने के सिवा उसमें कोई भी ऐसा गुण नहीं है जो पाठक को अपनी और आकर्षित कर सके । द्वेष की भावना, प्रतिशोध की भावना, उसका अत्यन्त क्रोधी स्वभाव, उसकी अक्षमाशीलता, उसका अविवेक, उसका अज्ञान—बस इन्हीं सभी अवगुणों के दर्शन हमें सम्पूर्ण काव्य में दृष्टिगोचर होते हैं । और इन्हीं सभी अवगुणों के फलस्वरूप उसे अपने प्रत्येक भव में घोर यातनाओं का सामना करना पड़ता है । परिणामस्वरूप निम्न से निम्नकोटि में उसका जन्म होता चलता है ।

अपने प्रथम भव में वह एक विद्वान् ब्राह्मण का बेटा है । स्वयं भी सभी प्रकार के शास्त्र, दर्शन तथा विद्याओं में पारंगत है तथा राज्य मन्त्री भी है । पर अपने दुष्कर्मों की वजह से एवं अज्ञान की वजह से वह अपने छोटे भाई मरुभूति को क्षमा माँगने पर क्षमा ना कर उसके प्राण ले लेता है ।

द्वितीय भव में वह कक्कुट नामक सर्प की योनि में जन्म लेता है । वहाँ भी अपने छोटे भाई को हाथी के रूप में देख, पूर्ववैर को याद कर पुनः उसे डस, उसके प्राण ले लेता है । तृतीय भव में वह पंचम नरक में पैदा होता है । चतुर्थ भव में वह हिमगिरि नामक पर्वत पर विषघर बनता है और वहाँ भी किरणवेग नामक राजकुमार के रूप में अपने प्रथम भव के भाई मरुभूति को तपस्या करते देख उसे काट लेता है और उसके प्राणघात के पाप से पुनः अपने कर्मों के बन्धन को भारी बनाता है । पाँचवें जन्म में वह पंचम नरक में दन्दूशूक नामक जीव बनता है तथा नरक की यातनाओं को भोगता है । छठे जन्म में वह उवलनपर्वत पर भीमा नामक जंगल में वनेचर का जन्म लेता है और वज्रनाभ नामक राजकुमार के रूप में मरुभूति को पहचान, उसे अपने बाण से बाँध कर मार डालता है । सातवें भव में उसका जन्म तमस्तमा नामक नरक में होता है । अपने आठवें भव में वह क्षीरमहापर्वत पर सिंह बनता है और कनकप्रभ राजकुमार के रूप में तपस्या करते अपने भाई मरुभूति को देख उसे गर्दन-से पकड़ मार डालता है । नवें भव में वह कमठ नामक तापस बनता है और अपने अन्तिम दसवें भव में वह मेघमाली नामक भवनवासी अधम देव या राक्षस बनता है ।

कमठ के चरित्र के विकास के दो—तीन ही अवसर इस महाकाव्य में आए हैं—एक प्रथम भव में और दूसरे नवें एवं दसवें भव में । बाकी के भवों में से तीन भवों में (तीसरे, पाँचवें व सातवें) वह विभिन्न नरकों की यातनाएँ भुगतता है । अन्य चार भवों (दूसरे, चौथे, छठे व आठवें) में उसका काम मात्र मरुभूति के अनेक जन्मों में

उसके प्रति शत्रुभाव की वृद्धि करना ही रहा है, कभी सर्प या विषधर के रूप में तो कभी वनेचर या सिंह के रूप में वह उसे मार ही डालता है ।

शेष तीन भवों में उसे मानव जन्म मिलता है और इसी से तीन जन्मों में उसका चरित विकास पा सका है ।

प्रथम भव में कमठ के रूप में उसके चरित्र को हम देख चुके हैं । वहाँ वह अत्यन्त कामी, अविवेकी, क्रोधी व अज्ञानी के रूप में दिखलाई देता है । स्वयं अपराध कर शर्मिन्दा होने के स्थान पर अपने छोटे भाई के अनुराग व पश्चात्ताप की अवगणना करते हुए उस पर अत्यन्त निर्ममता से शिला का प्रहार करता है और उसके प्राणों को लेकर भी अपने अज्ञान व क्रोध को दूर नहीं कर पाता ।

अपने प्रथम भव के पापाचरण के फलस्वरूप, सात जन्मों तक भटकता हुआ और अपने पापों को बढ़ाता हुआ वह नवें जन्म में अत्यन्त दरिद्र परिवार में जन्म लेता है । उसके जन्म लेते ही उसके माता-पिता व अन्य कुटुम्बीजन मृत्यु को प्राप्त करते हैं । अत्यन्त कष्ट के साथ अपनी जीविका का निर्वाह करता, सबके द्वारा अपमानित होता हुआ, मुझ दुःखी को धिक्कार है, ऐसी भावना से अधिक दुःखी होता हुआ वह बड़ा होता है । उसके पश्चात् कन्दमूलादि के खाने से अपना निर्वाह करता हुआ, काशी मण्डल के वन में वह रहना प्रारम्भ करता है और पञ्चाग्नि तप करता हुआ तापस बन जाता है ।

अपने प्रथम भव में एवं नवें भव में उसकी पहचान कमठ नाम से ही की जाती है । इन दोनों ही भवों में वह आडम्बर अज्ञान से भरपूर एवं कर्मकाण्ड वाली तपस्या करता है जिसका ना कोई अर्थ है और ना ही उससे उसे किसी फल की ही प्राप्ति होती है ।

उसके नवें भव में भगवान् पार्श्व जब उसे अज्ञान से भरपूर पञ्चाग्नि तपस्या से रोकते हैं व ज्ञान देते हैं तब वह अधिक क्रुद्ध होकर उन्हें ही बुरा भला कहने लगता है । उसकी तपस्या श्रीपार्श्व के शब्दों में विधवा स्त्री के द्वारा आभूषण धारण करने के समान अथवा उसकी धर्मविधि पत्थर पर बैठ कर समुद्र पार करने के समान है, अथवा जल के मन्थन से घी पाने की इच्छा रखने के समान है, और भुस्ते के कूटने से चावल पाने की इच्छा रखने के समान ही निरर्थक है ।

उसके पश्चात् अपने अन्तिम भव में वह मेघमाली नामक दुष्ट राक्षस बनता है । और एक दिन तापसाश्रम में श्रीपार्श्व को प्रतिमास्थित बैठे देख उन्हें तरह तरह की यातनाएँ पहुँचाने लगता है । उसने पार्श्व की समाधि को भंग करने के लिए पहले तो वेताल, बिच्छु, हाथी, सिंह आदि बना कर उन पर छोड़े । उससे भी जब उसकी समाधि भंग होती ना देखी तब पार्श्व को डुबो देने के इरादे से उसने आकाश में कृत्रिम मेघ बना, सात दिन तक घनघोर वर्षा की । बरसात के पानी से पृथ्वी समुद्र की तरह बन गई और पानी पार्श्व

की नासिका के अग्रभाग तक आ गया तब नागराज धरणेन्द्र अपनी पत्नी के साथ प्रकट हुए। उन्होंने मेघमाली को जन्म-जन्मान्तरों की वैर रूपी निद्रा से जगाया और कहा—

आः पाप ! स्वामिनो वारिधारा हारायतेतराम् ।

तवैव दुस्तरं वारि भववारिनिधेरभूत ॥ ६, ५६ ॥

यही जलधारा स्वामी के गले का हार बन गई, अर्थात् उनके गले तक पहुँच गई और तेरे लिए यही जल की धारा संसारसागर का दुस्तर जल बन गई है।

यह सुनकर मेघमाली नींद से जागा और श्रीपार्श्व की शरण में आकर उसने उनसे क्षमायाचना की। और इस तरह कमठ अपने वैरभाव को गलत समझ जन्मों के बन्धन से मुक्त हुआ।

कमठ का सम्पूर्ण चरित अवगुणों से युक्त होते हुए भी कथा के विकास में सहायक है।

राजा अरविन्द :

राजा अरविन्द भारतवर्ष के सभी नगरों में अधिक समृद्धि वाले तथा अत्यन्त शोभायमान वैभवपूर्ण पोतन नामक नगर का शासन करते थे। वे न्याय में कुशल, शत्रुंजय, विषयवासनाओं से रहित, राजविद्या में निपुण, राजशक्तियों (प्रभुत्व, मन्त्र व उत्साह) से युक्त, सामदानादि में दक्ष, संधि आदि षड्गुण-विधान में चतुर, शान्तिपरक, दानी और धर्मात्मा प्रकृति के थे।

उनकी प्रजा भी उन्हीं के समान गुणों से सम्पन्न थी। वहाँ के लोग दूसरों के ही गुणों की प्रशंसा करते थे, अपने गुणों के वर्णन में सदा मौन रहते थे। वे पराक्रमी होते हुए भी शान्तिप्रिय, दानी, न्यायप्रिय, अनुशासनप्रिय, धर्माचारी, विचारशील, विवेकी तथा धनाढ्य थे।

राजा अरविन्द अत्यन्त न्यायप्रिय थे। विषयवासनाओं में कामान्ध लोगों के लिए उनके मन में ना कोई स्थान था और ना ही उनके राज्य में ऐसे व्यक्तियों के लिए कोई जगह थी। उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं कि अपने मन्त्री कमठ के दुराचरण की खबर पढ़ते ही वे उसे अपमानित कर देश से निष्कासित कर देते हैं।

एक बार, महल की छत पर बैठे हुए राजा अरविन्द को शारदी बादल का वायु के झोके से छिन्न-भिन्न होना दिखलाई देता है। यह दृश्य राजा को संसार की असारता बताने और धर्म के प्रति प्रेरित करने के लिए पर्याप्त होता है और राजा दानादि कर, पुत्रों को राज्य सौंप धर्मात्क हो जाते हैं। उसके पश्चात् वे राजा सम्मत्शिखर की यात्रा हेतु निकलते हैं और वहाँ कुब्जक वन में अपनी ध्यान(वस्था तोड़ने का प्रयत्न करते हुए मरुभूति (अपने-मन्त्री) को उसके दूसरे भव में हाथी के रूप में देखकर पहचान जाते हैं और उसे धर्मोपदेश द्वारा गृहस्थ धर्म में स्थिर करते हैं।

राजा अरविन्द ही मरुभूति के जीव को उसके द्वितीय भव से मुक्ति दिलाने, उसे धर्म मार्ग की ओर प्रेरित करने वाले मुख्य हेतु बनते हैं। मरुभूति की कथा का प्रारम्भ भी राजा अरविन्द के राज्य से ही होता है। मरुभूति अपने प्रथम भव में, इस राजा का सुयोग्य मन्त्री था। इस प्रकार राजा अरविन्द के पात्र का इस महाकाव्य में महर्षव का स्थान स्थापित होता है।

राजा अश्वसेन :

वाराणसी नगरी का इक्ष्वाकुवंशीय राजा अश्वसेन था। वह राजा अश्वसेन इतना प्रतापी था कि उसके प्रताप से परास्त सूर्य उसकी प्रदक्षिणा करता था —

निर्जितो यत्प्रतापेन तपनः परिधिं दधौ ॥ ३, १३ उत्तरार्ध ॥

उसके भय से तीनों लोक कांपते थे। वह राजा एक सुयोग्य शासक था। उसके शासन में सारी पृथ्वी सधवा अर्थात् श्रेष्ठ राजा से युक्त सुशोभित थी —

राजवन्ती घरा सर्वा तस्मिन्नासीत् सुराजनि ॥ ३, १६, पूर्वार्ध ॥

उसके राज्य की कोई भी वस्तु अथवा घटना उस राजा की आँख से छिपी नहीं रहती थी अर्थात् वह राजा अत्यन्त सतर्क व सजग था। वह विवेकी था। वह प्रत्येक कार्य को बहुत अधिक विचार कर तथा प्रजा के हित को देखकर करता था। उस राजा के राज्य में धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों गुणों में मित्रता थी अर्थात् वह इन तीनों ही पुरुषार्थों का सेवन करता था। गुणीनों के प्रति वह चन्द्रमा के समान शान्तस्वभाव वाला तथा दुष्टों के प्रति सूर्य के समान उग्रस्वभाव को धारण करने वाला था। वह महादानी था। उसके राज्य में न कोई दुःखी था, ना कोई याचक था, ना कोई खिन्नमना था, ना ही कोई असन्तुष्ट अथवा आनन्दरहित ही था।

इन्हीं सर्वगुणसम्पन्न अश्वसेन राजा के पुत्र श्रीपार्श्व थे। यह राजा के पूर्व जन्मों के संचित पुण्यों का ही फल था कि उनके यहाँ, उनकी पत्नी वामादेवी की कोख से पार्श्व-तीर्थंकर ने जन्म लिया और उनके घर—प्रांगण में भगवान् ने संस्कार प्राप्त किये।

राजा अश्वसेन अवसर आने पर दूरे राजाओं को अपनी सेवाएँ प्रदान कर सहायता करना जानते थे। उदाहरणस्वरूप राजा प्रसेनजित् का दूत जब राजा अश्वसेन के पास सहायता माँगने आता है तब वह अविलम्ब तत्पर हो जाते हैं।

इस प्रकार राजा अश्वसेन को हम एक सुयोग्य बुद्धिमान् सदगुणसम्पन्न व कीर्तिमान् शासक के रूप में देखते हैं।

राजा प्रसेनजित् :

कुशस्थल नामक नगर के राजा प्रसेनजित् न्यायपूर्वक राज्य का पालन करने वाले राजा के रूप में सुप्रसिद्ध थे। उनकी पुत्री प्रभावती अत्यन्त अद्भुत रूपगुणों से सम्पन्न थी। जिसका विवाह उन्होंने श्रीपार्श्व से किया था।

राजा प्रसेनजित् वीर एवं वीर गुणों से सम्पन्न हैं । राजा यमन का दूत जब उनकी पुत्री के साथ विवाह का प्रस्ताव भेजता है तब प्रसेनजित् क्रोध से लाल हो जाते हैं । उस समय के उनके शब्द उनके क्रोध को और उनकी वीरता को प्रकट हैं —

मम धीरस्य वीरस्य पुरतः समराङ्गणे ।

कथं स्थास्यति गन्ता वा यमनो यमशासनम् ॥ ४, ८३ ॥

इसके साथ ही युद्ध के समय उनके वीरता से लड़ने का वर्णन कवि जिन सुन्दर श्लोकों में करता है, उन्हें भी देखिए । प्रत्येक श्लोक उनके वीर योद्धा होने का द्योतन करता है ।

अत्यन्त उत्साह से लड़ते हुए प्रसेनजित् के बाण इधर-उधर ना जा, सीधे शत्रुओं के हृदयों को ही छेदते थे —

क्षोणीशस्य प्रसेनस्य च परदलनाभ्युत्थास्यापि चापा-

निर्यातो बाणवारः समरभरमहाम्भोधिमन्थाचलस्य ।

नो मध्ये दृश्यते वा दिशि विदिशि न च क्वापि किन्तु व्रणाङ्कः

शत्रूणामेव हस्तु स्फुटमचिरमसौ पापतिर्दूरवेधी ॥ ४, १५० ॥

राजा प्रसेनजित् के शौर्य को दर्शाने वाले अन्य श्लोक देखिए—

अस्य निस्त्रिशकालिन्दीवेणीमाप्य परासवः ।

निमज्ज्य विद्विषः प्राप्ता स्वर्गस्त्रीसुरतोत्सवम् ॥ ४, १५६ ॥

अन्य—

चक्रैरस्य त्रिषचक्रं क्षयमापादितं क्षणात् ।

मार्त्तण्डकिरणैस्तीक्ष्णैर्हिमानीपटलं यथा ॥ ४, १५७ ॥

शत्रु सेना से घिरे हुए वे प्रसेनजित् सूर्यबिम्ब की शोभा को धारण करते थे— इसका वर्णन कवि ने बहुत सुन्दर उपमा में किया है, देखिए—

अथो यमनसैन्येन प्रसेनश्चार्कबिम्बवत् ।

प्रावृतः परिवेषण रेजे राजशिरोमणिः ॥ ४, १६७ ॥

समय आने पर राजा प्रसेनजित् सुयोग्य वृद्ध मन्त्रियों से सलाह लेना भी जानते हैं और उनका समुचित आदर कर उनके उपदेश को ग्रहण कर उस पर अमल भी करते हैं ।

वे अत्यन्त विनयी भी हैं । गुणवानों के गुणों का कीर्तन करने में उन्हें जरा भी संकोच अनुभव नहीं होता । युद्ध के समय श्रीपार्व की अद्भुत वीरता और अलौकिकता का दर्शन कर वे अत्यन्त आदर के साथ उनके गुणों का संकीर्तन और स्तुति करते हैं । तत्पश्चात् उन्हें आदर के साथ अपने घर ले जाते हैं । उनका श्रेष्ठ सत्कार करते हैं और तब अन्त में, उनके गुणों पर सुग्ध होकर, उनके साथ अपनी इकलौती, रति के समान अत्यन्त रूपवान् कन्या का विवाह कर धन्य हो जाते हैं । उनके स्वयं के ही शब्दों को देखिए जहाँ उन्होंने कहा है — सज्जनों के सान्निध्य से अन्य व्यक्ति निश्चितरूपेण धन्य हो जाते हैं -

विधीयतां साधुजनानुषङ्गता
कृतार्थयत्यन्यजनं हि केवलम् ॥ ५, ४२, उत्तरार्ध ॥

राजा यमन :

राजा यमन कालिन्दी नदी के तटवर्ती देशों के मण्डलाधिपति थे । वे अपने प्रताप से शत्रुओं को उच्चापित करने वाले थे । अनेक राजाओं पर उनका शासन चलता था ।

वे रूप पर मुग्ध होने वाले एक विलासी राजा के रूप में हमारे समक्ष आते हैं । उनकी दृष्टि राजा प्रसेनजित् की रूपवती कन्या प्रभावती पर थी अतः वे उसकी माँग करते हैं और अस्वीकृति मिलने पर उस राजा के साथ युद्ध करते हैं ।¹

युद्ध में उनकी वीरता, उनकी शूरता, उनके उत्साह और तत्परता के दर्शन होते हैं । वे वीरता में किसी भी प्रकार राजा प्रसेनजित् से कम नहीं प्रतीत होते । वे उसे बराबर की टक्कर लेते हैं और कई बार राजा प्रसेनजित् को घेर भी लेते हैं । जीतते जीतते राजा यमन पार्श्व के आ जाने के कारण पराजित होते हैं और अपनी सेना के साथ युद्धस्थल से भाग निकलते हैं ।

राजा यमन के दुर्धर्ष साहस और उनकी वीरता को परखने के लिए दो श्लोक पर्याप्त हैं । देखिए —

यमनः स्वबलव्यूहप्रत्यूहं वीक्ष्य सकुधा ।

जज्वाल ज्वालजटिलः प्रलयाग्निरिवोच्छ्रितः ॥ ४, १५८ ॥

एवं—

धावति स्म ह्यारूढः सादिभिर्निजसैनिकैः ।

यमनो यमवत् क्रुद्धः परानीकं व्यगाहत ॥ ४, १५९ ॥

प्रकृतिचित्रण

कवि पद्मसुन्दर ने अपने महाकाव्य में प्रकृति के विभिन्न रूपों का चित्रण प्रस्तुत किया है । पद्मसुन्दर के वर्ण्य चित्र अधिकांशतः सहज स्वाभाविक रेखाचित्र के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं । इसके साथ ही उन्होंने चित्रात्मक शैली में भी प्रकृति का चित्रण किया है और इसी के अन्तर्गत प्रकृति का मानवीयकरणरूप अथवा संवेदनात्मक रूप भी दर्शाया है ।

उनके वर्ण्य विषयों के अन्तर्गत आकाशीय दृश्यों के चित्रण में सूर्योदय एवं सूर्यास्त का वर्णन, तारे, वायु, वर्षा तथा आकाशीय पुष्पवृष्टि के वर्णन आते हैं । अन्य चित्रों में हाथी की स्वाभाविक क्रीडा-कैली, वृक्ष, सारस एवं चक्रवाक मिथुन तथा सुमेरु पर्वत के वर्णन आते हैं ।

1. कवि पद्मसुन्दर का राजा यमन का चित्रण इतिहासप्रसिद्ध विलासी राजाओं की याद दिलाता है । उदाहरण के रूप में हम पृथ्वीराज चौहान और संयुक्ता के प्रसंग का स्मरण कर सकते हैं ।

कवि पद्मसुन्दर के प्रकृतिचित्रण पर विहंगम दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि पद्मसुन्दर का मन प्रकृति के चित्रण में अविकरमा नहीं है। उन्होंने सभी वर्ण्य विषयों पर अपनी कलम चलाने की चेष्टा तो की है पर वे बहुत बारीकी और सुन्दरता से उन वर्ण्य-चित्रों को सजा नहीं पाये। अतः हम यहाँ उनके कुछ सुन्दर चित्रों को ही प्रस्तुत कर रहे हैं, अन्य चित्रों का नाम निदेश तो ऊपर कर ही दिया गया है।

कवि ने अपने काव्य के प्रथम सर्ग में हाथी की स्वाभाविक गतिविधियों व चेष्टाओं का एवं उसकी अपनी जीवनसंगिनी प्रियतमा हथिनी के साथ की विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं का अत्यन्त सूक्ष्मग्राही व हृदयस्पर्शी चित्रण किया है। देखिए -

वन्यद्रुमान् विदलयन् निजकर्णतालैर्गुञ्जन्मधुव्रतगणं कटदानलुब्धम् ।

आस्फालयन् विहितष्टहितनाद एष शिश्लेष तत्र करिणीं करलालनेन ॥ १, २९ ॥

दूसरा उदाहरण :

कान्तया स विचचार कानने सल्लक्रीकवलमर्षितम् तथा ।

तं चखाद जलकेलिषु स्वयं तां सिषेच करसीकरैर्गजः ॥ १, ३० ॥

प्रथम उदाहरण में हाथी का वन के वृक्षों को नष्ट करना, गण्डस्थल के दामवारि में लुब्धक बने और गुंजार करते भ्रमर समुदाय को कर्णप्रहार से ताड़ित करना और तब मानों अपने मार्ग के सभी अवरोधों को दूर कर, विजय की घोषणा के रूप में गर्जना करता हुआ वह हाथी अपनी शुण्डा से, अपनी प्रियतमा का आलिंगन करता हो, इस रूप में चित्रित किया गया है।

दूसरे उदाहरण में कवि ने हाथी की सरल चेष्टा का चित्रण कर हाथी के शान्त प्रेममय जीवन का चित्र आंका है। कवि कहता है कि वह हाथी अपनी प्रियतमा हथिनी के द्वारा दिये गये सल्लक्री घास के घास को खाता था और जलक्रीडा के समय अपनी सूंड के जल से वह अपनी प्रियतमा का सिंचन करता था।

इसी प्रकार का प्रकृतिचित्रण कुमारसंभव के तृतीयसर्ग के ३७वें श्लोक में भी किया गया है जहाँ हथिनी बड़े प्रेम से कमल से सुगन्धित जल को अपनी सूंड द्वारा अपने प्रेमी हाथी को पिलाती है आर चक्रवा अपनी चक्रवी को आधी कुतरी हुई नाल को भेंट करता चित्रित किया गया है —

ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।

अर्द्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ॥

अब प्रकृति के संवेदनात्मक रूप के दर्शन कीजिए। अशोकवृक्ष अपनी विभिन्न भङ्गीमाओं वाली चेष्टाओं के साथ ऐसा शोभित हो रहा था मानो पार्श्व भगवान् के सम्मुख नृत्य प्रस्तुत कर रहा हो। पार्श्वभगवान् को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। सभी देव उनकी स्तुति करने आ पहुँचे हैं। प्रकृति भी हर्षित है और विभिन्न प्रकार से अपने मन के भावों को प्रकट कर रही हैं, उसी समय की अशोकवृक्ष की चेष्टाएँ हैं जिन्हें कवि उत्प्रेक्षा द्वारा प्रस्तुत करता है—

यस्य पुरस्ताच्चलदलहस्वैर्नृत्यमकार्षीदिव किमशोकः ।

भृङ्गनिनादैः कृतकलगीतः पृथुतरशाखाभुजवलनैः स्वैः ॥ ६, ७

वायु के धीरे-धीरे, सहज स्वाभाविक रूप में बहने का वर्णन कवि ने बड़े ही ढंग से किया है, देखिए—

सरःशीकरवृन्दानां वोढा मन्दं ववौ मरुत् ।

प्रफुल्लपङ्कजोत्सर्पत्सौरभोद्गारसुन्दरः ॥ ३, ४२ ॥

तालाब के बिन्दु समुदाय को वहन करने वाला मन्द मन्द पवन बहने लगा, जो पवन कमल पुष्प की उत्कट सुगन्धि को फैला कर सुन्दर बना था। वायु बहने का अन्य चित्रण भी बहुत सरल एवं सुन्दर है, देखिए—

मरुत्सीकरसंवाही पद्मखण्डं प्रकम्पयन् ।

ववौ मन्दं दिशः सर्वाः प्रसेदुः शान्तरेणवः ॥ ३, ७० ॥

कवि कहता है कि उस समय सम्पूर्ण दिशाएँ शान्तधूलि वाली थीं तथा जलबिन्दुओं को अन्य स्थान पर ले जाने वाला, कमलखण्ड को कम्पित करने वाला वायु धीरे धीरे बह रहा था।

कवि ने वर्षा होने से पूर्व के घनधोर वातावरण, बिजली के कड़कने और फिर मुसला-धार वर्षा के बरसने का अत्यन्त सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत किया है। यहाँ प्रकृति का भयानक रूप प्रकट हुआ है। कवि ने प्रकृति की भयानकता को प्रकट करने वाले अत्यन्त सारगर्भित शब्दों का चयन किया है। ये शब्द साहित्य में 'शब्दार्थसंपृक्ति' (sound follows the sense) का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। 'धाराधरास्तडित्वन्तः' एवं 'वर्षति स्म घनाघनः' आदि शब्द की ध्वनि ही प्रकृति, वर्षा के समय कैसी हो गई है उसके उस रूप को दिखाती है। क्रमशः देखिए—

प्रादुरासन्नभौभागे वज्रनिर्घोषभीषणाः ।

धाराधरास्तडित्वन्तः कालरात्रेः सहोदराः ॥ ६, ४८ ॥

कादम्बिनी तदा श्यामाञ्जनभूधरसन्निभा ।

व्यानशे विद्युदस्थुग्रज्वालाप्रज्वलिताम्बरा ॥ ६, ४९ ॥

नालक्ष्यत तदा रात्रिर्न दिवा न दिवाकरः ।

बभूव धारासम्पातैः वृष्टिर्मुशलमांसलैः ॥ ६, ५० ॥

गर्जिरैः स्फूर्जथुध्वानैः ब्रह्माण्डं स्फोटयन्निव ।

भापयंस्तडिदुल्लासैर्वर्षति स्म घनाघनः ॥ ६, ५१ ॥

प्रकृति के अति भयानक रूप को देखने के पश्चात् प्रकृति के सौम्य सरल रूप को भी देखिए, जिसका वर्णन बड़ी ही स्वाभाविकता के साथ किया गया है—

इतः प्राच्यां विभागित स्म स्तोकाद् मुक्ताः करा रवेः ।

इतः सारससंरावाः श्रयन्ते सरसीष्वपि ॥ ३, ३८ ॥

इधरं पूर्व दिशा में थोड़ी छोड़ी हुई सूर्य की किरणें चमक रही हैं उधर सरोवरो में सारसों की आवाज सुनाई दे रही है ।

दूसरा चित्र —

इतश्च कोकमिथुनं निशाविरहबिकूलवम् ।
कलैरामन्दनिःस्वानैर्मित्रमभ्यर्थयत्यलम् ॥ ३, ३९ ॥

इधर चक्रवाक मिथुन जा रात्रि के विरह से व्याकुल है अपनी मन्द मन्द मधुर ध्वनि से पर्याप्त रूप में अपने मित्र (सूर्य) से प्रार्थना कर रहा है ।

सूर्यास्त का वर्णन —

स्नानाम्भसां प्रवाहौवे हंसो हंस इवाऽऽबभौ ॥
तरन् मन्थरया गत्या जडिमानं परं गतः ॥ ३, १५९ ॥

स्नान के जल के प्रवाह समुदाय में हंसपक्षी सूर्य की तरह शोभित था तथा धीमी गति से तैरता हुआ अत्यन्त जडभाव को प्राप्त हो गया ।

प्रातःकाल का वर्णन —

इस वर्णन में प्रकृति का मानवीयकरण रूप दिखलाई देता है । प्रातःकाल अपने विकसित कमलपुष्पों के अञ्जलिपुटों से मानो महारानी को जगा रहा हो, ऐसी कल्पना कवि ने की है-

निद्रां जहीहि देवि ! त्वमिति जागरयत्ययम् ।
विभातकालः प्रोत्फुल्लपद्माञ्जलिपुटैरिव ॥ ३, ३६ ॥

तारों का वर्णन —

सवनाम्बुनिमग्नास्तास्तारास्तारतरद्युतः ।
गलज्जललवा व्योम्नि बभुः करकसन्निभाः ॥ ३, १६० ॥

कवि कहता है, स्नात्रजल में डूबे, गिरते हुए पानी की बूंद वाले तथा अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाश वाले तारे आकाश में ओलों के सदृश चमकते थे ।

अन्य चित्रण देखिए —

पयःपूरैर्विलुप्तांशुप्रतापं चण्डरोचिषम् ।
तारागणः शशिभ्रान्त्या तमसेवीत् परिभ्रमन् ॥ ३, १६१ ॥

पानी की बाढ़ से जिसकी किरणों का प्रताप नष्ट हो गया है उस सूर्य को चन्द्र समझ कर तारागण उसकी परिक्रमा करते हुए सेवा कर रहे थे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि पद्मसुन्दर ने अपने इस महाकाव्य में प्रकृति के कुछ चित्रों को अत्यन्त सुन्दर व चित्ताकर्षक बनाया है और कुछ चित्रों का बहुत ही साधारण ढंग से वर्णित किया है । इति ।

कवि की वर्णन शैली

नगर-नगरी एवम् नगरनिवासियों का वर्णन

महाकाव्य की परम्परा के अनुसार कवि पद्मसुन्दर ने भी अपने महाकाव्य में नगरों का वर्णन, नगरनिवासियों का वर्णन, जम्बूद्वीप का वर्णन, सागर एवं पर्वतों का वर्णन किया है।

वर्णन के विस्तार की दृष्टि से सर्वप्रथम वाराणसी नगरी का वर्णन (३, ५-१२, ४, २-९) आता है। इसके पश्चात् तत्पुराण नगर का वर्णन (२, २-४) हुआ है और तीसरे स्थान पर पोतनपुर नामक नगर का वर्णन (१, ४-६) आता है। इनके अतिरिक्त तिलकनगर (१, ५२), शुभङ्करा नगरी (१, ६७-६८); कूपकट नामक नगर (६, २); काशी प्रदेश (३, ४); भारतवर्ष (३, ३) आदि का मात्र नाम ही निदिष्ट हुआ है।

जम्बूद्वीप का वर्णन १, ३; २, १-२; ३, १-२ - इन सर्गों के इन श्लोकों में हुआ है। इसी प्रकार पुष्करद्वीप का वर्णन १, ५९ में हुआ है। क्षीरसागर का वर्णन ३, १२७-१२८; ३, १२९ व १४४; ५, ९४; ७, ६१ में हुआ है। ये सभी वर्णन इतने अधिक संक्षिप्त हैं कि हम उन्हें अलग से नहीं लिख सकते।

सुमेरुपर्वत का वर्णन ३-११५, १५४, १५५ व १५६ में हुआ है। हिमवन्त पर्वत का वर्णन ३, १ में हुआ है। हेमगिरि का वर्णन १, ६२ में; चक्रवाल पर्वत का वर्णन ३, १७ में; मन्दारपर्वत का वर्णन ३, ११४ में व वैताड्य पर्वत का वर्णन ३, १२७-१२८ में हुआ है। इन वर्णनों का हम वर्णन करने में असमर्थ हैं कारण कि अधिकांशतः पर्वतों का वर्णन, वर्णन ना होकर मात्र नामनिर्देशीकरण ही है।

वाराणसी नगरी :

कवि ने वाराणसी नगरी का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु बहुत ही सुन्दर शब्दों में किया है। सर्वप्रथम कवि उस नगरी की शोभा को वर्णित करते हुए कहता है कि वह नगरी स्वर्ग की नगरी अमरावती के समान शोभित थी -

तत्र वाराणसीत्यासीत् नगरीवाऽमरावती ॥ ३, ५, पूर्वार्ध ॥

उसके पश्चात् कवि नगरी की एक-एक विशेषता का वर्णन उत्प्रेक्षाओं, अतिशयोक्ति, भ्रान्तिमान् व उपमा के द्वारा करता हुआ अपने उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है। वह कहता है - वह नगरी ऊँची-ऊँची पताकाओं से शोभित हो रही थी। ऐसी प्रतीत होता था मानो वह अपनी उन ऊँची-ऊँची पताकाओं द्वारा कौतुक से उत्कण्ठित लोगों का आह्वान कर रही हो।

उत्तम्भितपताकाभिर्बभूव वाराणसी पुरी ।

सा ताभिराह्वयन्तीव कौतुकोत्कण्ठितान् नरान् ॥४, २ ॥

श्री हर्ष के नैषधचरित के द्वितीय सर्ग में उल्लिखित कुण्डिनपुर वर्णन में भी गगनस्पर्शी गृहों की उन्नत पताकाओं का वर्णन, दूसरे प्रकार की कल्पना के साथ प्राप्त होता है।

(देखें-नैषधचरित, २ का ८० वां श्लोक) । दूसरी कल्पना में कवि कहता है - अपनी उड़ती हुई पताकाओं से वह नगरी वाराणसी ऐसी शोभित हो रही थी मानो नृत्य कर रही हो -

चलन्तीभिः पताकाभि नृत्यन्तीव पुरी बभौ ।

पटवासैरभिव्याप्तमन्तरिक्षं सुसंहतैः ॥ ४, ६ ॥

उस नगरी के भवन इतने ऊँचे थे और उन भवनों में से इतना अधिक कृष्णागुरुधूप का धुआँ निकलता था कि मयूर उस धुएँ को बादल समझ नाचने लगते थे और अपनी केका-रव से आकाश को गुँजा देते थे -

यस्यां कृष्णागुरुहामधूपधूमविवर्त्तनैः ।

घनभ्रान्त्या वितन्वन्ति केकां नृत्यत्कलापिनः ॥ ४, ३ ॥

उस नगरी में हर समय इतनी अधिक संगीत की ध्वनि फैली रहती थी कि वह ध्वनि दिग्गजों के कानों को गुँजा कर मानो उन्हें बहरा ही बना देती हो -

उद्यन्मङ्गलसङ्गीतमुखध्वानजडम्बरैः ।

दिग्दन्तिकर्णतालाश्च व्याप्य वैर्बधरीकृताः ॥४, ४ ॥

इसी प्रकार की संगीत की ध्वनि अलकापुरी में भी गूँजती थी । देखिए - मेघदूत, उत्तर-मेघ के श्लोक नं. १ के इन शब्दों में “संगीताय प्रहतसुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ” । उस नगर की गलियाँ पुरुषों के अलंकरण से शोभित थीं और उस नगर के प्रत्येक घर के बड़े बड़े बुलन्द द्वार उन्नत तोरणों से युक्त थे व उच्च कलशों से शोभायमान थे । देखिए-

कृतपुष्पोपहाराश्च पुरवीथ्यो विरेजिरे ।

आबद्धतोरणोऽङ्गं गोपुरं कलशोच्छ्रितम् ॥ ४, ५ ॥

आदि ।

वाराणसी नगरी के निवासियों का वर्णन :

वाराणसी नगरी के निवासीजन संस्कृत भाषा बोलते थे तथा वे अपने कर्मों से देवों के समान थे । वे “चन्दनचर्चितगोत्र” थे । वे धर्मिष्ठ व आनन्दी थे । वहाँ की स्त्रियाँ अति मनोहारी थीं । वहाँ के लोगों ने अपने कार्यों से स्वर्गलोक को भी हीन बना दिया था । वे लोग दान करने के साथ साथ उपभोग करने वाले भी थे, उत्सव मनाने वाले थे तथा विद्वत्तापूर्ण बातें करने वाले थे । वहाँ के निवासी अत्यन्त समृद्ध, गुणों के आगार एवं रसिक थे । वे अत्यन्त निर्दोष थे । अव्यवस्था का जनता में नामोनिशान तक नहीं था । नागरिकों के लिए वहाँ किसी भी प्रकार के दण्ड का विधान नहीं था कारण वहाँ की जनता लड़ाई झगड़ों से सर्वथा दूर थी तथा विषयवासनाओं पर भी उनका दमन था । वहाँ के नागरिक आनन्द से पूर्ण थे, उत्साही थे, प्रसन्न थे, उनमें से कोई भी दुःखी नहीं था । वहाँ के योगियों को ब्रह्मज्ञान में ही आनन्द प्राप्त होता था ।

उस नगरी में गंगा नदी की तरंगे व्यक्तियों को नहला कर उन्हें सभी प्रकार के पापों से मुक्त रखती थीं और उनके स्वर्ग के मार्ग के लिए पुण्यों के ढेर के समान थीं। उस नगरी में राजा का शासन भी अति सुशासित था। योग्य व्यक्तियों को ही धन दिया जाता था। मनुष्यों के चित्त धर्म के अधीन थे। धर्म शास्त्र के अधीन था एवं नीतिमार्ग राजा के अधीन था।

तत्पुराण नगर वर्णन :

इस नगर का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में, द्वितीय सर्ग के मात्र तीन ही श्लोकों में किया गया है। पर ये तीनों ही श्लोक बहुत सुन्दर हैं। प्रथम दो श्लोकों में कवि नगर वर्णन करता है और तीसरे श्लोक के द्वारा वहाँ की स्त्रियों के सौन्दर्य को दर्शाता है।

वह नगर स्वर्ग के खण्ड के समान प्राग्विदेह देश के अखण्ड मण्डल में दूसरों की समृद्धि को भेदने वाला तत्पुराण नामक नगर था। उस नगर के भवन चू. से धवलत थे और अपनी श्वेत समृद्धि से अमरावती (इन्द्र की नगरी) की भी मानो हँसी उड़ा रहे हों, ऐसी प्रतीति कराते थे।

सुधाधवलितैः सौधैर्विशदैर्हासराशिभिः ।

यत्पुराणैः कृतस्पर्धा हसन्तीवाऽमरावतीम् ॥ २, ४ ॥

इस श्लोक की तुलना हम कालिदास के मेघदूत, पूर्वमेघ के श्लोक ६२ के उत्तरार्ध के साथ कर सकते हैं जहाँ कैलास पर्वत की कुमुद जैसी उजली चोटियाँ आकाश में इस प्रकार फैली बतलाई गई हैं मानो वह दिन-दिन इकट्ठा किया हुआ शिवजी का अट्टहास हो। देखिए -

शृङ्गेच्छायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं ।

राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्रयम्बकस्याट्टहासः ॥ ६२ ॥

यहाँ कवि पद्मसुन्दर ने कवि कालिदास के ही समान हास्य का रंग धवल होता है इस कविसमय का प्रयोग किया है। पद्मसुन्दर ने भवनों की श्वेतता को तत्पुराण नगरी का हास्य कहा है और कालिदास ने कैलास पर्वत की चोटियों की श्वेतता को त्रयम्बक का अट्टहास कहा है।

तत्पुराण की नारियों का सौन्दर्य :

उस नगर की नारियों का सौन्दर्य इतना अधिक अनुपम था कि उन्हें आश्चर्यचकित होकर देखने के लिए स्वर्ग की देवांगनाएँ मानो निर्निमेष दृष्टि वाली हो गई हों, ऐसा प्रतीत होता था। कवि के शब्दों में देखिए—

यत्रत्यनारीसौन्दर्यं दृष्ट्वा दिवि सुराङ्गनाः ।

निर्निमेषदृष्ट्युरिव शङ्के सविस्मयाः ॥ २, ३ ॥

पोतनपुर नगर वर्णन :

इस नगर का वर्णन भी कवि ने प्रथम सर्ग के कुल तीन ही श्लोकों में किया है । यह नगर वन, पर्वत और नदियों से आच्छादित, भारतवर्ष के सभी नगरों से अधिक समृद्ध व शोभा से युक्त, अत्यन्त वैभवपूर्ण नगर था ।

उत्प्रेक्षा द्वारा कवि कहता है कि इस नगर की हवेलियाँ मणिजडित फर्श से युक्त, आकाश को छू सकने की सामर्थ्य वाले ऊँचे-ऊँचे शिखरों एवं श्वेत चमकीले स्फटिक की भित्तियों से सुशोभित, अपनी किरणों से मानों देवों के विमानों की भी हँसी उड़ा रही हों, ऐसी थीं । देखिए—

ह्यर्थाणि यत्र मणिकुट्टिममञ्जुलानि, व्योमाग्रचुम्बिशिखराणि मरुद्गणानाम् ।

स्वैरशुभिः किल हसन्ति विमानवृन्दं, शुभ्रस्फुटस्फटिकभित्तिविराजितानि ॥ १, ५ ॥

इसी प्रकार से प्रायः सभी कवियों ने अपने काव्यों में नगर की हवेलियों का वर्णन किया है । नैषध के द्वितीय सर्ग के ७४ वें श्लोक में “स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः” बता कर भवन का वर्णन किया गया प्राप्त होता है ।

पातनपुर के निवासियों का वर्णन :

उस नगर में बड़े-बड़े सेठ लोग दूसरों के ही गुणों का गान करते थे, अपने गुणों को प्रगट नहीं करते थे । वे पराक्रमी होने पर भी शान्तिप्रिय थे, दानवीर थे, न्यायप्रिय थे, धर्मात्मा थे, विचारशालीनता में दक्ष थे तथा धनाढ्य थे ।

यहाँ नागरिकों के परम्परागत गुणों का वर्णन किया गया है । भट्ट भीम द्वारा रचित “रावणाजुनीय” काव्य के माहिष्मती नगरी वर्णन, सर्ग ८ में भी इस प्रकार का नागरिक वर्णन प्राप्त होता है ।

शुभङ्करा नगरी वर्णन :

इस नगरी का वर्णन प्रथम सर्ग के ६८वें श्लोक में किया गया है । शुभङ्करा नगरी विभिन्न प्रकार के वृक्ष, नदी, तालाब व उद्यान आदि से शोभित प्रान्त बाल्मी तथा प्राकार (परकीटा), वलय, परिखा एवं गोपुरों से शोभित भाग वाली थी । देखिए—

सा नानादुमत्तिनी कूपाऽऽरामैर्विराजितोपान्ता ।

प्राकार-वलय-परिखा-गोपुरपरिमण्डितविभागा ॥ १, ६८ ॥

कवि पद्मसुन्दर ने नगर वर्णन में महाकाव्य के प्राचीन समय से चले आ रहे परम्परागत वर्णन विषय को लिया है । प्रायः सभी उपलब्ध काव्यों में सुधा के समान श्वेत भवन, गगनचुम्बी भवनों की उन्नत पताकाएँ, नगरी में वाद्य व संगीत की ध्वनि का मुखरित रहना, वातायनों से निकलने वाले धूप-दीप के धुँएँ से नगर का सुवासित रहना, गलियों तथा राजमार्गों का पुष्पों के अलंकरण से सजा रहना, घर के द्वारों पर तोरण का नैषा

होना, नगर का परकोटी से वेष्टित होना, मणिजड़ित फर्श का होना, श्वेत स्फटिक भित्तियों से हवेलियों का सुशोभित होना आदि का ही वर्णन होता रहा है ।

प्रस्तुत काव्य में राजपथ वर्णन, राजपथों में सुसज्जित दुकानों का वर्णन, जलपूर्ण कूपियों का वर्णन, केलिभवन व राजप्रासाद आदि का वर्णन नहीं हुआ है, जो अन्य महाकाव्यों में प्राप्त होता है ।

भवन की भित्तियों पर चित्रालेखन भी परम्परागत रूप से प्रचलित था, ऐसा प्रतीत होता है । इस काव्य में, पंचम सर्ग के ७० वें श्लोक में नन्दनवन के भवन की भित्तियों पर चित्रित नेमिचरित का उल्लेख कवि ने किया है ।

इसके अतिरिक्त, इस काव्य में वात्स्यायन के कामसूत्र में किये गये नागरिक वर्णन से भिन्न प्रकार के नागरिक का वर्णन प्राप्त होता है । वात्स्यायन का नागरिक अत्यन्त विलासी है । उसके घर के सभी उपकरण एवं उसके घर की सज्जा, उसके रहन-सहन का ढंग आदि सभी वस्तुएँ उसकी विलासिता का द्योतन कराती हैं । इसी प्रकार के नागरिक का वर्णन हमें प्रायः सभी महाकाव्यों एवं नाटकों में प्राप्त होता है । उदाहरण के रूप में हम कालिदास के मेघदूत में यक्ष के भवन को, माव कृत शिशुपालवध के द्वारिका वर्णन को (सर्ग ३, ३३-६९), तथा शूद्रक कृत मृच्छकटिक में चारुदत्त एवं वसन्तसेना के भवनों को देख सकते हैं ।

इस वर्णन के विपरीत कवि पद्मसुन्दर ने अपने नागरिक को अत्यन्त सौम्य, शान्त, धर्मिष्ठ, दानी, न्यायी एवं बुद्धिमान आदि गुणों से युक्त बतलाया है । वह विलासी कदापि नहीं है ।

सौन्दर्य वर्णन

नारी-सौन्दर्य वर्णन

कवि पद्मसुन्दर नारीसौन्दर्य के कुशल चित्तेरे के रूप में हमारे समक्ष आते हैं । उन पर कवि कालिदास एवं श्रीहर्ष का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगत होता है । सौन्दर्य वर्णन के समय कवि ने परम्परागत नख-शिख वर्णन की प्रणाली को अपनाया है । उन्होंने शरीर के विभिन्न अवयवों के सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए विविध उपमानों की योजना की है और उपमानों में भी परम्पराप्रसिद्ध उपमानों को ही लिया है जैसे कि मुख के लिए चम्पा एवं ओष्ठ के लिए बिम्बाफल आदि... .. । सौन्दर्य वर्णन के समय कवि ने मुख्यतः जिन अलंकारों का उपयोग किया है वे हैं:- उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति व व्यतिरेक अलंकार ।

कवि ने अपने काव्य के मुख्यतः प्रभावती (पार्वती की पत्नी) के सौन्दर्य से सजाया है और गौण रूप से वसुन्धरा (पार्वती के प्रथम भव मरुभूति की पत्नी) के सौन्दर्य का वर्णन किया है । वसुन्धरा के सौन्दर्य का चित्रण अत्यन्त संक्षिप्त रूप से किया गया

है तथा प्रभावती के सौन्दर्य चित्र को दर्शाते समय हमने मुख्यतः कालिदास की पार्वती के सौन्दर्य से उसका साम्य दिखालाने की चेष्टा की है ।

वसुन्धरा :

कवि वसुन्धरा के शरीरसौष्ठव का चित्रण उपमा अलंकार के सहारे करता हुआ कहता है कि उसकी दृष्टि वायु के द्वारा हिलाये गये नीलकमल की भाँति चञ्चल थी, उसका मुख चन्द्रमंडल के समान सुन्दर था, उसकी बाँहें लता के समान कोमल थीं, उसकी जाँघें केले के तने के समान चिकनी थीं, उसके बाल सघन, काजल के समान काले और चिकने थे । तत्पश्चात् व्यतिरेक ध्वनि का उपयोग करता हुआ कवि कहता है कि उस कमनीया ने अपने हाथ और पैर के नखों की कान्ति से अशोक पल्लव की शोभा को भी परास्त कर दिया था अर्थात् उस सुग्धा के हाथ और पैर के नाखून अत्यन्त लाल थे । कवि द्वारा किए गए वसुन्धरा के सौन्दर्य वर्णन पर दृष्टिपात करने से हमें ज्ञात होता है कि कालिदास और पद्मसुन्दर दोनों ने ही अपनी सुन्दरियों की दृष्टि को वायु के द्वारा हिलाये गये नीलकमल के समान चञ्चल बताया है । पार्वती और वसुन्धरा दोनों के ही वर्णनों में देखिए -
वसुन्धरा के वर्णन में—

प्रवातेन्द्रीवराधीरविप्रेक्षितविलाचनाम् ॥ १, १६ ॥

पार्वती के वर्णन में—

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्याः ॥ कुमारसंभव, १, ४६ ॥

प्रभावती : (प्रभावती व पार्वती का सौन्दर्य वर्णन - एक तुलनात्मक अध्ययन)

कवि ने प्रभावती को अत्यन्त सुन्दर बताया है । प्रभावती चम्पा के समान और सुवर्ण की सी कान्तिवाली है । वह कृशदेहयष्टि वाली है और उसके होंठ पके हुए बिम्ब-फल के समान लाल हैं । यहाँ तुलना कीजिए मेघदूत, उत्तरमेघ, पद्य १९, यक्ष की प्रिय-तमा के सौन्दर्यवर्णन से

“ तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वविम्बाधरोष्ठी ” आदि ।

प्रभावती का सौन्दर्य कुमारसंभव के प्रथम सर्ग में वर्णित पार्वती के सौन्दर्य से अत्यधिक साम्य रखता हुआ है । देखिए -

प्रभावती और पार्वती दोनों ही चान्द्रीकला की भाँति बहती हैं । प्रभावती के वर्णन में कवि पद्मसुन्दर लिखते हैं—

सुरूपलावण्यविभावित्तिभिः प्रवद्धमाना किल सौन्दवी कला ।

दिने दिने लब्धमहोदया बभौ जगज्जनाहूलादविधायिनी कनी ॥ ५, ४ ॥

पार्वती के वर्णन में कालिदास कहते हैं :-

दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा ।

पुषोषलावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योस्नान्तराणीव कलान्तराणि ॥ १, २५ ॥

दोनों सुन्दरियों के चरणयुगल को स्थलकमल की उपमा से सजाया गया है ।
प्रभावती के वर्णन में —

पदारविन्दे नखकेसरद्युती स्थलारविन्दश्रियमूहतुभूशाम् ।

विसारिमृद्वङ्गुलिसच्छदेऽरुणे प्रवं तदीये जितपल्लवश्रिणी ॥ ५, ९ ॥

पार्वती के वर्णन में—

अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ ।

आजहतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥ १ ३३ ॥

दोनों की भौहों की तुलना कामदेव के धनुष से की गई है ।

प्रभावती के वर्णन में —

भ्रुवौ तदीये किल मुख्यकामुकं स्मरस्य पुष्पास्त्रमिहोपचारिकम् ।

मुखाभ्रुजेऽस्या भ्रमरभ्रमायितं घनाञ्जनाभैर्भ्रमरालकैरलम् ॥ ५, ३३ ॥

पार्वती के वर्णन में —

तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिभ्रुवोरायतलेखयोर्या ।

तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं सुमोच ॥ १, ४७ ॥

यहाँ पार्वती की भौहों का सौन्दर्य कामदेव के धनुष की सुन्दरता को भी लॉघ गया है । फिर भी दोनों स्थानों पर भौहों की उपमा कामदेव के धनुष से ही की गई है ।

प्रभावती एवं पार्वती दोनों का कटिप्रदेश इतना सुन्दर है कि दोनों के पेट पर तीन लकीरें पड़ती हैं और उन लकीरों (वलित्रय) की तुलना दोनों कवि कुछ भिन्न कल्पना के साथ यूँ करते हैं ।

प्रभावती के वर्णन में—

तदीयमध्यं नतनाभिसुन्दरं बभार भूषां सवलित्रयं पराम् ।

प्रकल्पसोपानमिदं विनिर्ममे स्वमञ्जनायेव सुतीर्थमाश्रमभूः ॥ ५, १७ ॥

पार्वती के वर्णन में—

मध्ये सा वेदविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला ।

आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥ १, ३९ ॥

यहाँ प्रभावती के वर्णन में कवि पद्मसुन्दर कहते हैं, पेट पर की वे तीन लकीरें ऐसी थीं मानो कामदेव ने अपने स्नान के लिए सीढ़ियों से युक्त सुन्दर तीर्थ का निर्माण किया हो । और पार्वती के वर्णन में कवि कालिदास कहते हैं कि मानो कामदेव को स्तनादि ऊपर के अंगों तक चढ़ाने के लिए यौवन ने सीढ़ियों का निर्माण किया हो । पर दोनों ही कवियों ने वलित्रय के साथ कामदेव की कल्पना को अवश्य साकार किया है ।

दोनों सुन्दरियों के होठों की कल्पना में भी कवियों की सूझ प्रायः समान अथवा समीप ही है ।

प्रभावती के वर्णन में—

रदच्छदोऽस्याः स्मितदीप्तिभासुरो यदि प्रवालः प्रतिबद्धहीरकः ।

तदोपमीयेत विजित्य निर्वृतः सुपक्वबिम्बं किल बिम्बतां गतम् ॥ ५, १७ ॥

पार्वती के वर्णन में—

पुष्पं प्रवालोलपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।

ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥ १, ४४ ॥

चन्द्र व कमल के दोषयुक्त होने के कारण लक्ष्मी प्रभावती के मुख को निष्कलक समझ मानो उसमें निवास करती थी । देखिए —

विहाय चन्द्रं जडपङ्कपङ्किलं सरोरुहं पङ्ककलङ्कदूषितम् ।

उवास लक्ष्मीरकलङ्कमुच्चकैरिति प्रतर्क्येव तदीयमाननम् ॥ ५, २५ ॥

यही बात कवि कालिदास इन शब्दों में कहते हैं —

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न सुङ्कते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।

उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ १, ४३ ॥

सृष्टि के सम्पूर्ण सौन्दर्य को एक ही स्थान पर देखने की इच्छा से ब्रह्मा अथवा विधाता ने सुन्दरता की मूर्ति प्रभावती (और) पार्वती को बनाया ।

देखिए प्रभावती का वर्णन—

समग्रसर्गाद्भुतरूपसम्पदां दिदृक्षयैकत्रविधिव्यधादिव ।

जगत्त्रयीयौवनमौलिमालिकामशेषसौन्दर्यपरिष्कृतां नु ताम् ॥ ५, ३५ ॥

पार्वती का वर्णन—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशनेन ।

सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥ १, ४९ ॥ आदि ।

कवि पद्मसुन्दर के प्रभावती के सौन्दर्य वर्णन को कवि कालिदास की पार्वती के सौन्दर्य वर्णन के साथ रख कर पढ़ने से हमें यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि कवि पद्मसुन्दर कविश्रेष्ठ कालिदास से प्रभावित हैं और उन्होंने कवि कालिदास के पार्वती वर्णन से ही प्रेरणा लेकर अपनी नायिका के सौन्दर्य का चित्र रचा है । पद्मसुन्दर श्री हर्ष से भी प्रभावित लगते हैं पर वस्तुतः तो बात यह है कि स्वयं श्रीहर्ष के दमयन्ती सौन्दर्य वर्णन पर कालिदास की छाप लगी हुई है अतः साम्य लक्षित होना स्वाभाविक ही है ।

कवि पद्मसुन्दर के प्रभावती के सौन्दर्य का वर्णन करने वाले अत्यन्त हृदयस्पर्शी श्लोक निम्नलिखित हैं :

कवि प्रभावती की जाँघों का सौन्दर्य निस्सीम बताता है । नायिका की जाँघों की उपमा दो ही उपमानों से दी जाती है, एक तो हाथी की सूँठ से अथवा केले के खम्भे से—

1 कालिदास का यह श्लोक देखिए :-

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशात्वादेकातशैत्यात्कदलीविशेषाः ।

लम्बवापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वरूपमानबाह्याः ॥ कुमारसंभव, १, ३६ ॥

...! यहाँ कवि कहता है कि केले का खम्भा जो अपनी सुकोमलता व चिकनाहट के लिए सर्वप्रसिद्ध है वह भी प्रभावती की जाँघ के अतिशय सौन्दर्य को देख, अत्यधिक शर्मिन्दा हो गया और फलस्वरूप वह वायु, धूप, शीत आदि कष्टों से अडिग, जंगल में तपस्या कर रहा है -

तदीयजङ्घाद्वयदीप्तिनिर्जिता वनं गता सा कदली तपस्यति ।

चिराय वातातपशीतकर्णणैरधःशिरा नूनमखडितत्रता ॥ ५, १३ ॥

प्रभावती की यौवनपूर्ण देह के सौन्दर्य के विषय में यह श्लोक देखिए जहाँ उसके स्तनों की उपमा देवनदी गंगा के दोनों तट पर स्थित चकवा-चकवी के जोड़े से दी गई है:

विसरितारद्युतिहारहारिणौ स्तनौ नु तस्याः सुषमामवापतुः ।

सुरापगातीरयुगाश्रितत्रय तौ रथाङ्गयुग्मस्य तु कुङ्कुमार्चितौ ॥५, १९ ॥

प्रभावती के सुन्दर कुछ झुके हुए कन्धों का सौन्दर्य देखिए जहाँ उसके कन्धों की तुलना मेरुपर्वत के शिखर के तटरहित दो पार्वतों से तथा हंस के दो पंखों से की गई है-

तदंसदेशौ दरनिम्नतां गतौ सुराद्रिकूटातटपार्वयोः श्रियम् ।

बलादिवाऽऽजहतुरात्तसङ्गौ निजश्रिया भत्सितहंसपक्षती ॥ ५, २३ ॥

और जाँघों के संदर्भ में कवि प्रभावती की जाँघों की तुलना व्यतिरेक ध्वनि से हाथी की सूँठ की विभ्रमगति से करता हुआ कहता है

अनन्यसाधारणदीप्तिमुन्दरौ परस्परेणोपमितौ रराजतुः ।

प्रवं तदूरु विजितेन्द्रवारणप्रचण्डशुण्डायतदण्डविभ्रमौ ॥ ५, १४ ॥ आदि ।

कवि पद्मसुन्दर ने प्रभावती के सौन्दर्य का जो वर्णन किया है वास्तव में उच्च कोटि का तथा अद्वितीय है ।

प्रभावती के अंग-अंग के वर्णन में प्रयुक्त प्रत्येक उपमा उचित व सुन्दर है । इस प्रकार कवि का यह सौन्दर्य-चित्रण संस्कृत के बड़े बड़े कवियों के सौन्दर्य-चित्रणों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है ।

पार्ष्व के सौन्दर्य का वर्णन

(शैशवावस्था व कुमारवस्था)

कवि पद्मसुन्दर ने अपने महाकाव्य में पार्ष्व के आन्तर और बाह्य-दोनों ही प्रकार के सौन्दर्यों का वर्णन किया है । बाह्य सौन्दर्य के चित्रण में कवि ने माश्रिका की ही भाँति पार्ष्व का नखशिख वर्णन किया है । सौन्दर्य वर्णन के समय कवि ने पार्ष्व के शरीर के किसी भी अंग को अम्ली लेखनी से वंचित नहीं रखा है । कवि ने अङ्गों

के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए परम्परारूढ़ उपमानों का प्रयोग किया है। उपमानों के प्राचीन होने पर भी उनका प्रयोग कलात्मक ढंग से किया है जिसके फलस्वरूप सौन्दर्यचित्र मनोहर व आकर्षक बन पड़े हैं। (आन्तर सौन्दर्य के अन्तर्गत जो चरित्रगत गुण होते हैं, जैसे शौर्य, प्रताप, बल, इन्द्रियसंयम, क्षमा, अहिंसा, कष्टसहिष्णुता, परदुःखका-तरता, कर्त्तव्यपरायणता व त्याग आदि - उनका वर्णन पार्श्व के चरित्र-चित्रण में हम कर चुके हैं अतः यहाँ मात्र उसके शैव्य व कुमारावस्था के बाह्य सौन्दर्य पर ही दृष्टिपात करेंगे)।

पार्श्व जब उत्पन्न हुए, उस समय के उनके सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह बालक बालसूर्य की भाँति प्रकाशमान था -

ज्ञानत्रयधरो बालो बालार्क इव दिद्युते ॥ ३, ६९, पूर्वार्ध ॥

पार्श्व का शरीर इस कदर सुगन्धित था कि उनके शरीर पर गिरती हुई (स्नान की) सुगन्धित जलधारा भा मानो शरीर की सुगन्धि से निर्जित, लज्जित होकर अधोमुखी हो गिरती हो ऐसा प्रतीत होता था :-

गन्धाम्बुधारा शुशुभे पतन्ती जिनविग्रहे
तदङ्गसौरभेणैव निर्जिताऽऽसीदधोमुखी ॥ ३, १७१ ॥

पार्श्व के नेत्र कमल के समान स्निग्ध थे

इन्दीवरनिभे स्निग्धे लोचने विश्वचक्षुषः ॥ ३, १८७, पूर्वार्ध ॥

पार्श्व के मुख की शोभा अद्वितीय थी जिसे देखने मानो सूर्य और चन्द्र ही आ गये हों :-

द्रष्टुं तन्मुखजां शोभां पुष्पदन्ताविवागतौ ॥ ३, १८८, उत्तरार्ध ॥

पार्श्व की बाहुओं एवं भुजाओं का वर्णन कवि ने परम्परागत रूप से अतिशयोक्तियुक्त किया है पर वह वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़ा है। भुजाओं की अथवा बाहुओं की अतिशय लम्बाई का वर्णन परम्परारूढ़ वर्णन के अन्तर्गत आता है। प्रायः संस्कृत के सभी कवियों ने भुजा एवं बाहु का लम्बा होना शोभनीय एवं पुण्यशाली व्यक्ति का चिह्न माना है-

आजानुबाहोर्याद् बाहुद्वयं केयूरमण्डितम् ।
तद्भूषणाङ्गकल्पद्रुशाखाद्वैतमिव व्यभात् ॥ ३, १९० ॥

स्नान के पश्चात् पार्श्व अलंकारों से युक्त इस प्रकार शोभित थे जैसे बादलों के समूह से बाहर निकला हुआ शरद का चन्द्रमा अपनी किरणों से शोभित होता है :-

स्नानानन्तरमेवासौ बभासे भूषणैर्विभुः ।
सुतरां निर्गतौऽप्रौघाच्छरदिन्दुरिवांशुभिः ॥ ३, १९३ ॥

कवि पार्श्व के शारीरिक सौन्दर्य की उपमा अलंकार युक्त कव्य से देता हुआ कहता है :-

निसर्गात् सुन्दरं जिनं वपुर्भूषणभूषितम् ।
कवेः काव्यमिव श्लिष्टमनुप्रासैर्बभौतराम् ॥ ३, १९४ ॥

अथवा -

सालङ्कारः कवेः काव्यसन्दर्भ इव स व्यभात् ॥ ३, १९६, पूर्वार्ध ॥

पार्श्व की शैशवावस्था की गतिविधियों का चित्रण :

विभिन्न उत्प्रेक्षाओं से शिश्य के मुग्ध हास्य का चित्रण करता हुआ कवि लिखता है -

श्रियः किं हास्यलीलेव कीर्तिवह्लेः किमङ्कुरः ।

मुखेन्दोश्चन्द्रिका वाऽस्य शिशोर्मुग्धस्मितं बभौ ॥ ४, १८ ॥

शिश्य की तोतली बोली माता-पिता के मन को मुदित करती थी - उसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है -

या जिनार्भस्य वदनादभून्मनमनभारती

श्रोताञ्जलीभिस्तां पीत्वा पितरौ मुदमापतुः ॥ ४, १९ ॥

शिश्य के 'हुँ' 'हुँ' ध्वनि के साथ, घर के आंगन में चलना कैसा सजीव चित्र आँखों के सम्मुख उपस्थित कर देता है, वह देखिए -

गतः स्वल्पदैः सौधाङ्गणभूमिषु सञ्चरन् ।

आबद्धकुट्टिमास्वेष बभौ सुभगहुङ्कृतिः ॥ ४, २० ॥

कवि ने पार्श्व की शोभा की उपमा चन्द्रमा से अधिकांशतः की है। दो उदाहरण देखिए- एक में कवि तारागणों के मध्य चन्द्रमा की भाँति देवकुमारों के मध्य पार्श्व की शोभा को बतलाता है तो दूसरी जगह वह कहता है कि पार्श्व तरुणावस्था को प्राप्त कर इस प्रकार शोभित थे जैसे चन्द्रमा सुन्दर होने पर भी शरदकालीन पूर्णिमा को प्राप्त कर अधिक शोभा को प्राप्त होता है। क्रमशः देखिए -

मध्ये सुरकुमाराणां ताराणामिव चन्द्रमाः ।

शुशुमे भगवान् पाश्वा रममाणो यदृच्छया ॥ ४, ४२ ॥ ॥

एवं -

विभुर्बभासे सुतरामवाप्य तरुणं वयः ।

शशीव कमनीयोऽपि शारदीं प्राप्य पूर्णिमाम् ॥ ४, ४४ ॥

अब पार्श्व के नख-शिख के सौन्दर्य को देखिए जिन्हें विभिन्न उपमानों द्वारा सजाया गया है—

काले कुञ्जित केशों वाला प्रभु पार्श्व का मस्तक मणिमय अञ्जनगिरि के शिखर की भाँति था (देखिए—सर्ग ४, ४८) ।

प्र, ६

पार्व के मस्तक की मन्दार पुष्पों की माला की शोभा हिमालय के शिखर के अग्रभाग पर गिरती जंगानदी के समान थी (सर्ग ४, ४९) ।

उस प्रभु का ललाट अर्धाचन्द्र के समान था और वह ललाटपट ऐसा लगता था मानो लक्ष्मी देवी के पट्टाभिषेक के लिए आसन कल्पित किया गया हो (४, ५०) ।

भौहों की कल्पना अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है । कवि कहता है—

पार्व की घने नीलवर्णवाली सुन्दर और सुषम दोनों भौहें कामदेवरूप हिरन को पकड़ने के लिए फैलाई हुई दो जालों के समान लगती थीं—

भ्रुवौ विनीले रेजाते सुषमे सुन्दरे विभोः ।

विन्यस्ते वागुरे नूनं स्मरैणस्येव बन्धने ॥ ४, ५१ ॥

नेत्रों का वर्णन भी अति सुन्दर किया गया है । आँखों की काली कीकी की उपमा भ्रमर से व नेत्रों की चंचलता की उपमा पवन से कम्पायमान नीलकमल से की गई है ।

नेत्रे विनीलतारेऽस्य सुन्दरे तरलायते ।

प्रवातेन्दीवरे सद्विरेफे इव रराजतुः ॥ ४, ५२ ॥

पार्व के मणिज्वलित कुण्डलों से अलंकृत कान ऐसे शोभित थे मानो उन कानों ने सूर्य-चन्द्र के दो गोलों को अपने तेज से जीत कर बाँध लिया हो । (४, ५३)

उसके दांतों की शोभा से उसकी मुखश्री ऐसी शोभायमान प्रतीत होती थी मानों लाल कमल की पांखुड़ी पर रखे गये हीरों की पंक्ति हो (४, ५५) ।

उसकी नासिका के दो छिद्र सरस्वती और लक्ष्मी के प्रवेश के लिए बनाई गई दो नालियों की भाँति थे (४, ५६) ।

उसकी ग्रीवा शंख जैसी थी और उसकी गर्दन पर उपस्थित तीन लकीरें तीनों लोकों की श्रा को पराजित करने के कारण थीं (५, ५७) ।

उसके कन्धे लक्ष्मी और सरस्वती के पुत्रतुल्य थे (४, ५९) ।

पार्व के हाथ की अंगुलियाँ अतीव विस्तृत, लाल नाखुनों से अंकित थीं एवं वे भगवान् के दशावतारचरित की द्योतक दीपिकाओं की तरह सुशोभित थीं ।

पार्व की नाभि निर्झरणी के समान शोभित थी (४, ६२) ।

उसका जघनस्थल शरदूकालीन बादलों से घिरे हुए गिरि के नितम्ब की शोभा को धारण करता था । ४-६३ ।

उस पार्व के उरु कामदेव और रति दम्पती के कीर्तिस्तम्भ थे । ४-६४ ।

उसकी दोनों जँघाएँ विजयलक्ष्मी के झुले के खम्भे की भाँति थीं और दोनों चरण अपनी कान्ति से स्थलकमल को भी जीत लेते थे - ४, ६५ ।

अन्त में कवि कहता है पार्श्व के शरीर का सौन्दर्य सब उपमानों से बढ़ कर था—

तद्वपुस्तच्च लावण्यं तद्रूपं तद्वयः शुभम् ।

प्रभोः सर्वाङ्गसौन्दर्यम् सर्वौपम्यातिशाय्यभूत् ॥ ४, ६६ ॥

पार्श्व के अंगोपांग का वर्णन कर कवि सम्पूर्ण सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहता है : अभिषेक के पश्चात् अलंकृत पार्श्व इन्द्रधनुष की कान्ति से शोभित बादल की तरह शोभायमान थे ।

सर्वो सम्भूयाऽभिषिच्य प्रभुं ते भूषयांचक्रुच्चैः ।

दिव्यैर्मात्स्यैर्भूषणैरेष गन्धैः रेजेऽम्भोदः शक्रचापांशुभिर्वा ॥ ५, ९० ॥

पार्श्व के अतिशय सौन्दर्यवान् होने के कारण इन्द्र को अपने हजारों नेत्रों से भी तृप्ति नहीं मिलती थी—

दृष्ट्वा सहस्रनयनः किल नाप तृप्तिं

नेत्रैः सहस्रगणितैरपि सप्रमोदः ॥ ५, ९५ उत्तरार्ध ॥

इस प्रकार कवि ने पार्श्व के सौन्दर्य वर्णन के समय उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा व व्यतिरेक का उपयोग किया है । इनमें भी विशेषतः तीन अलंकारों का प्रयोग किया गया है, वे हैं—उपमा, उत्प्रेक्षा व अतिशयोक्ति अलंकार ।

नेत्रों की कमल से, मुख की चन्द्रमा से, नासिका के छिद्रों की लक्ष्मी—सरस्वती के लिए बनाई गई दो नालियों से, ग्रीवा की शंख से, बाहुओं की कल्मद्रुम से, उरुकी कीर्ति-मन्त्रम आदि से दी गई उपमाएं संस्कृत काव्यों की अति प्रचलित उपमाएं हैं ।

युद्धवर्णन

कवि पद्मसुन्दर ने युद्ध वर्णन के समय आँखों के सम्मुख युद्ध का बहुत ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया है । पाठक उस ओजपूर्ण चित्रण को पढ़ते समय काफी उत्साहित हो जाता है मानो युद्ध से संबन्धित कोई चलचित्र उसकी आँखों के सामने से गुजरता चला जा रहा हो ।

युद्ध का सम्पूर्ण वर्णन अनुष्टुप् छन्द में ही हुआ है । संधरा और शालिनी छन्दों का प्रयोग मात्र दो ही स्थानों पर किया गया है । उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति व अर्थान्तरन्यास अलंकारों के प्रयोग से कवि ने काफी सुन्दर चित्र उपस्थित कर दिये हैं ।

युद्ध स्थल पर पहुँच कर दोनों पक्षों की सेनाएँ अपनी-अपनी स्थिति जमाती है और तब दोनों सेनाओं के युयुत्सु सुभट, युद्धसाहस को बढ़ाने वाली रणभेरियों की महान ध्वनि से आकाश को गुँजा देते हैं । हाथियों की चिंवाड़, अश्वों की हिनहिनाहट और आतोक्य आदि बाजों की ध्वनि रही सही कमी को भी गूरा कर देती है । देखिए—

गजानां बृंहितैस्तत्र ह्यहेषारवैभृशम् ।

रणातोद्यरवैः शब्दाडम्बरो व्यानशेऽम्बरम् ॥ ४, १३५ ॥

युद्धस्थल में उपस्थित, युद्ध के वातावरण में अति उरसाही हो गये घोड़े, रथ, हाथी आदि का वर्णन बहुत ही सुन्दर किया गया है । देखिए—
घोड़ों का वर्णन —

लिलङ्घायषवः स्वीयैर्गतैरिव नभोज्जगणम् ।
अपावृत्तादिभिर्हेषाघोषा वाहा विरेजिरे ॥ ४, १३८ ॥

रथ का वर्णन —

चक्रेणैकेन चक्री चेद्वयं चक्रद्वयीभूतः ।
वदन्त इति चीत्कारै रथा जेतुमिवाभ्ययुः ॥ ४, १३९ ॥

हाथियों का वर्णन —

विपक्षेभमदामोदमाघ्राय प्रतिबोद्धुराः ।
सिन्धुरा निर्ययुर्योद्धे जङ्गमा इव भूधराः ॥ ४, १४० ॥

धनुर्धारी योद्धाओं को नाटक के सूत्रधार की उपमा से अलंकृत कर कवि कहता है—

धानुष्का रणनाट्यस्योपक्रमे सूत्रधारवत् ।
निनदचूर्श्रनिःस्वानं रणरङ्गमवीविशन् ॥ ४, १४१ ॥

इसके पश्चात् धनुर्धारियों के द्वारा सर्वप्रथम छोड़े गये तीक्ष्ण बाणों की तुलना उपमा व उत्प्रेक्षा के साथ रंगभवन में सूत्रधार के द्वारा सर्वप्रथम बरसाए गये श्वेत पुष्पों से करता हुआ कवि एक ही श्लोक में ओजगुण और प्रसादगुण का मानो मेल करता है । कहाँ बाणों की तीक्ष्णता और कहाँ पुष्पों की सुकोमलता ! देखिए—

रणरङ्गमनुप्राप्य धन्विभिः शितसायकाः ।
बभुः प्रथमनिर्मुक्ताः कुसुमप्रकरा इव ॥ ४, १४२ ॥

अब युद्ध में बाण किस प्रकार त्वरित गति से योद्धाओं के कमानों से गिर रहे हैं, उसका एक चित्रण देखिए—

लघुकृत्यकरा बाणाः प्रगुणा दूरदर्शिनः ।
क्षिप्रोड्डीनाः खगाः पेतुः खगास्तीक्ष्णानना इव ॥ ४, १४३ ॥

एवं

कश्चित् परेरितान् बाणान् अर्धचन्द्रनिभैः शरैः ।
चिच्छेद सम्मुखायातल्लघुहस्तो धनुर्धरः ॥ ४, १४४ ॥

कवि ने बाणों की उपमा दूतों से दी है और यहाँ उनका प्रत्येक विशेषण विलिख है—

कर्णलग्ना गुणयुताः सपत्ना शीघ्रगामिनः ।
दूता इव शरा रेजुः कृतार्थाः परद्वद्गताः ॥ ४, १४५ ॥

दोनों सेनाओं के तुमुल युद्ध वर्णन की छटा निहारिए—

मिथः प्रवृत्तं तुमुलमुभयोः सेनयोरथ ।

शराशरि महाभीमं शस्त्राशस्त्रि गदागदि ॥ ४, १५२ ॥

प्रसेनजित् के बाणों से दिशाएँ ऐसे चमक उठीं मानों उल्का की ज्वालाओं से व्याप्त हों ।
बाणों के वेग और तीक्ष्णता को महसूस कराने वाला यह श्लोक देखिए—

स्फुरद्भिर्निशितैः प्रासैः सायकैर्वेगवत्तरैः ।

उल्काज्वालैरिवाकीर्णा दिशः प्रज्वलितान्तराः ॥ ४, १५५ ॥

युद्ध में मरे शत्रुओं का स्वर्ग की स्त्रियों के साथ सुरतक्रीड़ा का उत्सव प्राप्त करने का वर्णन कवि की अद्भुत कल्पनाशक्ति का द्योतक है—

अस्य निस्त्रिंशकालिन्दीवेणीमाप्य परासवः ।

निमज्ज्य विद्विषः प्राप्ताः स्वर्गस्त्रीसुरतोत्सवम् ॥ ४, १५६ ॥

दृष्टान्त के द्वारा राजा प्रसेनजित् के चक्रों से शत्रुराजा का चक्र कैसे नष्ट कर दिया गया,
उसका वर्णन बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है—

चक्रैरस्य द्विषच्चक्रं क्षणमापादितं क्षणात् ।

मात्तण्डकिरणैस्तीक्ष्णैर्हिमानीपटलं यथा ॥ ४, १५७ ॥

युद्ध के रमणीय घनघोर चित्रण को प्रस्तुत करने वाले निम्न श्लोक देखिए—

युद्ध में घोड़े की दुर्दशा का निम्न वर्णन तादृश है—

रणेऽसिधारासङ्घट्टनिष्ठूयाग्निकणानले ।

अनेकशरसङ्घातसम्पातोत्कातिदारुणे ॥ ४, १६२ ॥

अभिशास्त्रमथाधावन्नर्वन्तो गवर्दुर्वहाः ।

प्राक् कशाघाततस्तीक्ष्णा न सहन्ते पराभवम् ॥ ४, १६३ ॥

युद्ध में घायल और फिर भी उतराही क्रोधित घोड़े का मर्मस्पर्शी यह चित्रण अत्यन्त सुन्दर
बन पड़ा है—

छिन्नैकपादोऽपि हयः स्वामिनं स्वं समुद्रहन् ।

जातामर्षोऽभिशास्त्रे स प्रधावन् युयुधे चिरम् ॥ ४, १६६ ॥

युद्ध के दर्दनाक चित्रण में भी कवि को कितनी हल्की फुत्की उपमाएँ सूझ पड़ी हैं । यहाँ
कवि ने चर्बी, रक्त व मांस से कीचड़ बने हुए रणसागर में मन्दवेग वाले रथ के समूह
को चंचल ध्वजाओं वाली नावों की उपमा से अलंकृत किया है—

वसासृग्मांसपङ्केऽस्मिन् रणाब्धौ मन्दरंहसः ।

रथकट्या महापोता इव चेरुच्चलद्ध्वजाः ॥ ४, १६५ ॥

दूसरी उपमा देखिए— राजा प्रसेनजित् अपने शत्रुसैन्य के मध्य घिरा हुआ भी परिवेष से
घिरे हुए सूर्यबिम्ब सा ही शोभित हो रहा था—

अथो यमनसैन्येन प्रसेनश्चार्कबिम्बवत् ।

प्रावृत्तः परिवेषेण रेजे राजशिरोमणिः ॥ ४, १६७ ॥

उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा हाथियों के युद्ध का वर्णन भी दर्शनीय है—

गजानीकैर्गजा युद्धं दन्तादन्ति विधित्सवः ।

तडित्वन्तः पयोवाहाः प्रावृषेण्या इवाबभुः ॥ ४, १६८ ॥

युद्ध के अंग-अंग का वर्णन कर जहाँ कवि दोनों सैन्यों के युद्ध की समानता वर्षा-काल की शोभा से करता है, यहाँ तो कमाल ही कर देता है—

अथ हास्तिकसङ्घट्टनीलस्थूलघनाघनः ।

शरासारक्षतोद्भूतरुधिराम्भःप्लुतक्षमः ॥ ४, १७२ ॥

कृतबाह्लीककाम्बोजाश्वीयमायूरताण्डवः ।

स्फुरन्निस्त्रिंशच्चपलो निस्वानस्वानगर्जितः ॥ ४, १७३ ॥

कठोरद्वेषणाघाताशनिघ्नोषभीषणः ।

चलत्पाण्डुपताकालीबलाकाव्यामपुष्करः ॥ ४, १७४ ॥

धनुरिन्द्रधनुःशोभी सैन्ययोरुभयोस्तदा ।

विस्फारसमरारम्भः पुषोष प्रावृषः श्रियम् ॥ ४, १७५ ॥

कवि ने क्षत-विक्षत योद्धाओं की उपमा लाल तरबूज से दी है। यद्यपि यह उपमा बहुत उत्कृष्ट कोटि की तो नहीं मानी जा सकती तथापि कवि को घायल योद्धाओं के घावों से रक्त व मांस का दिखाई देना-कटे हुए लाल तरबूज के जैसा ही दिखाई देता है—

निशितैर्विशिखैर्भिन्नवपुषः परितो भयः ।

सेधानुकारतां मेजुः शस्त्रघातास्तचेतनाः ॥ ४, १७६ ॥ इति ।

इस काव्य में उपस्थित युद्धवर्णन पर आलोचनात्मक दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात होता है कि यहाँ युद्ध-वर्णन में रहने वाले परम्परागत सभी वर्ण्य विषयों का वर्णन नहीं किया गया है। जैसे युद्ध होने के पूर्व शत्रुपक्ष के यहाँ उनकी पराजय के सूचक चिह्नों, अपशकुनों का होना, सैनिकों का युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय अपनी प्रेयसियों से मिलना, आक्रमण की तैयारी— युद्धप्रयाण, युद्धास्त्र, हाथी, घोड़े, योद्धाओं तथा सैनिकों का यथास्थान निर्धारण; मारकाट, कबन्धनृत्य, तुमुल युद्ध से धूलि का उड़ना, योगिनि, काली, भूतप्रेत आदि का मुण्डधारण, देवताओं द्वारा देखना, पुष्पवर्षा, युद्धभूमि से घायलों को उठाना, घायलों की देखभाल, सन्ध्या को युद्ध बन्द करना, युद्धभूमि में पशुपक्षियों का आना आदि बातों का उल्लेख¹ ।

इन सभी वर्ण्य-विषयों का वर्णन तो कवि पद्मसुन्दर ने अपने युद्ध-चित्र में नहीं किया है, फिर भी पद्मसुन्दर ने युद्ध का जो चित्रण आँखों के सम्मुख उपस्थित किया है, वह बड़ा ही सजीव, ओजपूर्ण एवं मार्मिक बन पड़ा है।

1. जैसा कि विवरण प्राप्त होता है, देखिए—

संस्कृत महाकाव्य की परंपरा, मुसलगाँवकर, वाराणसी, १९६९, पृ. ४०१ ।

रानी वामा की गर्भावस्था का वर्णन

कवि ने रानी की गर्भावस्था का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया है । संस्कृत के विदग्ध महाकाव्यों में गर्भावस्था के लक्षण व गर्भवती रानियों का जो विस्तृत रूप से चित्रण पाया जाता है, वह यहाँ प्राप्त नहीं है । फिर भी कवि ने गर्भवती नारी को क्या करना चाहिए, कैसे रहना चाहिए और गर्भावस्था के समय उसका जो अनुपम सौन्दर्य होता है उसका चित्रण अवश्य सुन्दरता के साथ किया है ।

रानी की गर्भावस्था की खबर जब उसकी सखियों को पड़ती है तो वे अनेकों प्रकार के उपक्रमों से अत्यन्त व्यस्त दीख पड़ती हैं ।

कोई सखी रानी को ताम्बूल देती थी, कोई स्नान कराने को उद्यत थी, कोई उसे सजा रही थी, कोई सखी रानी को 'धीरे बोले' व 'धीरे चलो' ऐसा सप्रेम आग्रह से समझाती थी, कोई रानी की शय्या तैयार करती थी तो अन्य कोई उसके पाँव दबाने में व्यस्त थी । एक सखी वस्त्रालंकार, आभूषण, भोजन आदि से रानी का सत्कार करती थी तो दूसरी उसके ठहरने पर उसे आसन देती थी ।

सखियों द्वारा सेवा की जाती वह रानी इन्द्राणी की भाँति शोभित थी—

उपास्यमाना देवीभिर्देवीन्द्राणीव साऽऽलिभिः ।

अन्तर्वस्नी सुखं तस्थौ विहाराहारसेवनैः ॥ ३, ५७ ॥

वह रानी गर्भावस्था के समय अत्यन्त सुन्दर दिखाई देती थी । उसका मुख कमल के समान सुन्दर और सुरभियुक्त था—

नृपतिर्नानृपत् तस्या वदनं पद्मसौरभम् ।

आप्रायालिरिवोद्भिन्नं नलिनीनलिनोदरम् ॥ ३, ६३ ॥

एक अन्य स्थान पर कवि कहता है कि रानी वामा तीनों लोकों में चन्द्र की कला की भाँति कान्ति से देदीप्यमान दिखलाई देती थी —

कला चान्द्रीव रोचिर्भिर्भासमाना जिनाम्बिका ॥ ३, ६५ ॥

गर्भ को धारण कर रानी उसी प्रकार शोभित थी जिस प्रकार खान की भूमि रत्न को धारण करने पर शोभित होती है —

दधती सा बभौ गर्भं रत्नमाकरभूरिव ॥ ६, ६२ ॥

उसी प्रकार उस गर्भस्थ शिशु ने भी माता को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचाई अर्थात् माता का गर्भावस्था का काल बहुत ही सुखरूप था —

मातुर्बाधां स नाकार्षीद्विवाग्निर्बिम्बितोऽम्बुनि ॥ ३, ६२ ॥

इसके पश्चात् गर्भ की शोभा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि स्फुट स्फटिक के घर में रहे रत्न के प्रदीप की तरह तीन ज्ञान की ज्योत से उज्ज्वल वह माता के पेट में शोभित था—

स मातुरुदरे रेजे त्रिज्ञानज्योतिरुज्ज्वलः ।
स्फुटस्फटिकगेहान्तर्वर्तिरत्नप्रदीपवत् ॥ ३, ६४ ॥

पार्श्व को देखने को आतुर नगर के जन एवं सुन्दारियों की त्वरापूर्ण चेष्टाओं का चित्रण —

कवि पद्मसुन्दरसूरि ने अपने महाकाव्य में पार्श्व को देखने को आतुर ललनाओं एवं नागरिकों का चित्रण परम्परागत रूप से प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार का चित्रण कवि अश्वघोष से लेकर नैषध तक के काव्यों में हमें दिखलाई देता है। सर्वप्रथम, अश्वघोष के बुद्धचरित के तीसरे सर्ग में वनविहार के लिए जाते राजकुमार गौतम को देखने को लालायित ललनाओं का वर्णन तृतीय सर्ग के १२ से २४ तक के श्लोकों में पाया जाता है। दर्शनातुर ललनाओं के चित्रण की परम्परा अश्वघोष से ही शुरू हुई जान पड़ती है। इसके पश्चात् रघुवंश में अज को देखने के लिए उत्सुक पुरसुन्दरियों की चेष्टाओं का वर्णन सातवें सर्ग के ५ से १२ तक के श्लोकों में देखने को मिलता है। कुमारसंभव में शिवजी को दूल्हा रूप में देखने को आतुर पार्वती की सखियों का वर्णन सातवें सर्ग के ५६ से ६१ तक के श्लोकों में प्राप्त होता है। माघ के शिशुपालवध में कृष्ण को देखने को आतुर पुरसुन्दरियों का चित्रण तेरहवें सर्ग के ३१ से ४८ तक के श्लोकों में देखा जा सकता है। श्रीहर्ष के नैषध में नल को देखने को आतुर दमयन्ती की सखियों का चित्रण सर्ग १५ के ७४ से ८३ तक के श्लोकों में देखा जा सकता है। इसी प्रकार का चित्रण जानकीहरण व रावणार्जुनीय आदि काव्यों में भी पाया जाता है।

इसी प्रकार का चित्रण कवि पद्मसुन्दर ने अपने महाकाव्य के छठे सर्ग के ८ से १६ तक के श्लोकों में बहुत ही सुन्दरता के साथ किया है।

अष्टमतप के अन्त में, शरीर की स्थिति को बनाये रखने के लिए आवश्यक जान, जब पार्श्वभगवान् कूपकट नामक नगर में निर्दोष भोजन प्राप्ति के लिए गये तब पार्श्वभगवान् को देखने को उत्कण्ठित उस नगर के लोग चारों ओर से दौड़ते हुए, शोरगुल मचाते हुए, अपने शुरू किये हुए कार्यों को मध्य से ही छोड़ कर हड़बड़ाहट में दौड़ने लगे।

प्रत्येक नागरिक पार्श्व के दर्शन जल्दी से जल्दी कर लेना चाहता था। इसी स्पर्धा में, मैं पहला हूँ, मैं पहला हूँ की पुकार लगी हुई थी। कोई नागरिक अपनी पूजा का ही छोड़ कर आ पहुँचा था, कोई कौतूहलवश आया था और अन्य कोई दूसरों की देखादेखी करके आ पहुँचा था—

केऽपि पूजां वितन्वन्तः पौराः कौतुकिनः परे ।
गतानुगतिकाश्चान्ये पार्श्वं द्रष्टुमुपागमन् ॥ ६, १६ ॥

इस कथन में कवि ने बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया है। वस्तुतः ऐसा ही होता है। किसी वस्तु को देखने का किसी को कौतुहल होता है तो कोई अन्यों की नकल कर, बिना हृदयगत प्रेरणा के ही घटनास्थल पर जा पहुँचता है। जो भी कुछ हो, कवि कहता है, पार्श्व को देखने तो सभी नागरिक पहुँचे हुए थे।

अब स्त्रियों की आतुरता देखिए—

कोई महिला अपने स्तनपान करते बच्चे को भी छोड़ कर दौड़ी। कोई एक ही पैर में महावर लगाये हुए दौड़ने लगी और कोई गलते हुए अलते वाली स्त्री दौड़ रही थी। अन्य कोई महिला स्नान सामग्री को पटक कर पार्श्व को देखने जा पहुँची।

स्तनं घयन्तं काऽपि स्त्री त्यक्त्वाऽधावत् स्तनंघयम् ।
प्रसाधितैकपादाऽगात् काचिद् गलदलक्तका ॥६, १४॥

... ..

काऽपि मञ्जनसामग्रीमवमत्य गतान्तिकम् ॥६, १५॥

इसी प्रकार से गलते हुए अलते वाली स्त्री का वर्णन कुमारसम्भव में भी हुआ है जहाँ वह अपने गलते हुए अलते के कारण पैरों की छाप बनाती दौड़ती है—

प्रसाधिकाऽऽलम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव ।

उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्का पदवीं ततान ॥७, ५८॥

और ठीक इसी प्रकार का वर्णन माघ ने भी किया है जहाँ माघ की सुन्दरी को यावक से रंगे एक पैर को हटा कर उसे कृष्ण को देखने के लिए दौड़ते हुए, अपने पदचिह्नों को जमीन पर छोड़ते हुए चित्रित किया गया है (देखिए—माघ का शिशुपालवध—१३, ३३)।

कथा में संघर्ष तत्त्व (आन्तर एवं बाह्य)

पार्श्व के पूर्व भवों की कहानी दो भाइयों के मध्य उत्पन्न हुए वैरभाव की कहानी है। मरुभूति व कमठ दो सगे भाई थे। बड़ा भाई कमठ अत्यन्त विलासी प्रकृति का था। उसे अपने छोटे भाई मरुभूति की पत्नी से प्रेम था। इस बात का ज्ञान जब मरुभूति को होता है तब वह राजा अरविन्द से कमठ के दुराचरण का वर्णन करता है। परिणामस्वरूप राजा कमठ को तिरस्कृत कर देश से निष्कासित कर देता है। कमठ तापस बन बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है। परन्तु उसके हृदय में अपने छोटे भाई के प्रति वैर, प्रतिशोध की भावना बैठ जाती है वह फिर जन्म-जन्मान्तरो तक निकलती नहीं है।

करुणाचित्त मरुभूति अपने भाई को घोर अपमानित अवस्था में देश से सदा के लिए निकाला जाता हुआ देखता है तो उसे राजा से शिकायत करने का अफसोस होता है, अतः वह अपने बड़े भाई से क्षमा माँगने उसके पास जाता है। क्रोध में पागल, बदले की भावना में झुलसा हुआ कमठ मरुभूति पर शिला फेंक कर प्रहार करता है और उसके प्राण

प्र. ७

ले लेता है। इस प्रकार नौ भवों तक कमठ ही मरुभूति के प्राण लेता चलता है। मरुभूति हर बार ऊँचा उठता जाता है और कमठ हर बार अधिक से अधिक वेदना को भुगतता है। अन्त में उसे नागराज धरणेन्द्र के उपदेश से ज्ञान-लाभ होता है और वह अपने भाई की शरण स्वीकार करता है, उससे क्षमा-याचना करता है। सदैव का शान्त मरुभूति जो अब तीर्थंकर पार्श्व के रूप में होता है, वह अपने भाई की दुष्टता को विस्मृत कर उसे क्षमा प्रदान करता है। इस तरह कमठ को कई जन्मों से चली आ रही घोर यातना से छुटकारा प्राप्त होता है। •

दोनों भाईयों के मध्य का यह वैर ही कथा का संघर्ष तत्त्व एवं कथा का मध्य बिन्दु है। सम्पूर्ण कथा इसी मध्य बिन्दु के इर्द-गिर्द लिपटी हुई है।

इस बाह्य संघर्ष का निरूपण ही कथा में है जो बाह्य प्रसंगों से दिखाया गया है। इस काव्य में आन्तर संघर्ष का तत्त्व नहीं है। आन्तर संघर्ष सन्मनोवृत्तियों और असन्मनोवृत्तियों के बीच होता है। नायक तीर्थंकर है — होने वाला है — अतः उसमें कवि ने ऐसा संघर्ष शायद उचित नहीं माना। फिर भी असन्मनोवृत्तियों को एक बाह्य पात्र का रूप देकर कवि ऐसे संघर्ष का निरूपण कर सकता था। जैसे बुद्ध-मार का संघर्ष, शिव-काम का संघर्ष। ऐसा भी कवि ने नहीं किया है। अन्य पात्रों के चित्रण में भी ऐसे आंतर संघर्ष का निरूपण यहाँ नहीं है। मात्र कर्मसिद्धांत का दृष्टन्त प्रस्तुत करने के लिए, कवि ने, जन्मजन्मातरों तक दो व्यक्तियों के बीच कैसा बाह्य संघर्ष चलता है, यह प्रदर्शित किया है।

कथा प्रवाह

पार्श्व के पूर्वभवों की परंपराप्रसिद्ध कथा का कवि पद्मसुन्दर ने निराबाध गति से प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण कथा बड़े ही सीधे व सरल रूप से कही गई है। कथा के मध्य कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं आता है जो पाठक के कथा-श्रवण अथवा वाचन में बाधक बना हो। पाठक शुरू से अन्त तक के पार्श्व के भवों की कथा को मात्र दो ही सर्गों में पढ़ कर समझ जाता है। कवि का कथा को प्रस्तुत करना कहानी सुनाने जैसा ही लगता है। पार्श्व के प्रथम भव की कथा अधिक चित्ताकर्षक व रोचक बन पड़ी है। कथा बड़ी तेजी से आगे बढ़ती चलती है। आँखों के आगे से चलचित्र के समान ही एक-एक घटना गुजरती जाती है पर उस तेज रफ्तार में भी कवि यथास्थान सुभाषितों को जोड़ना भूलता नहीं है। उदाहरणस्वरूप प्रथम सर्ग का २६वाँ श्लोक 'उपासितोऽपि.....'; ४६वाँ श्लोक 'तृष्णातरलितो धावन्' एवं ४८वाँ श्लोक 'उपशुंपरि धावन्ति' आदि श्लोक देखिए जो कथा को अलंकृत करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। इसी प्रकार के अर्थान्तरन्यास वाले सुभाषित सम्पूर्ण काव्य की शोभा को चार चाँद लगाये हुए हैं। ये सुभाषित कहीं भी कथा के प्रवाह में बाधक नहीं बने हैं।

पार्श्व की मुख्य तीर्थंकर वाली कथा के मध्य पार्श्व के नौ पूर्व भवों की कथाएँ अवान्तर कथाएँ बन कर इस काव्य में उपस्थित हुई हैं। ये नौ पूर्व भवों की अवान्तर कथाएँ पार्श्व के दसवें भव की कथा में अपना पूरा योगदान देती हैं। यह योगदान पार्श्व के चरित्र को दीप्त करने में फलीभूत हुआ है। पार्श्व के पूर्व जन्मों के कर्मों का क्षय, शनैः शनैः प्राप्त होते पुण्यों का संचय, आत्मा की निरन्तर होती शुद्धि ही पार्श्व को अपने दसवें भव में तीर्थंकरपद तक पहुँचाती है।

कथाप्रवाह और वर्णन :

इस महाकाव्य में पार्श्व जन्मोत्सव वर्णन, पार्श्व सौन्दर्य वर्णन, नारी सौन्दर्य वर्णन, प्रकृति वर्णन, युद्ध वर्णन आदि कितने ही प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं पर ये सभी वर्णन कहीं भी कथा के प्रवाह में बाधा बन उपस्थित नहीं हुए हैं, अपितु इन वर्णनों का उपयोग कवि ने कथारस को पुष्ट करने में किया है। कथाप्रवाह को रुद्ध कर दे ऐसे लम्बे वर्णन इस काव्य में नहीं हैं।

कथाप्रवाह और उपदेश :

प्रस्तुत महाकाव्य का प्रायः चौथा भाग उपदेशों से भरा पड़ा है। इस महाकाव्य के रचयिता श्री पद्मसुन्दर जैन साधु हैं। उनका उद्देश्य जैनों के २३वें तीर्थंकर श्रीपार्श्व के चरित्र का उत्कर्ष बताना है। श्रीपद्मसुन्दर ने अपने काव्य के सम्पूर्ण छठे सर्ग में जैन धर्म के तत्त्वज्ञान को जैन परिभाषा में ही प्रस्तुत किया है जिसे समझना एक साधारण पाठक अथवा अज्ञानी के लिए अत्यन्त दुरुह एवं नीरस प्रतीत होता है। श्रीपद्मसुन्दर अश्वघोष व कालिदास आदि अन्य संस्कृत के कवियों के समान अपने काव्य में सरल, जैन परिभाषा से रहित, सर्वगम्य भाषा में जैनदर्शन का हार्द रख सकते थे। परन्तु कवि का अपने महाकाव्य में ठोस तत्त्व को अत्यन्त पारिभाषिक रूप में रखना एक साधारण पाठक के लिए जो रसानुभूति हेतु अथवा मनोरंजन हेतु काव्य का पठन करता है, आनन्ददायी अथवा सुखप्रद नहीं बन पाता। काव्य में पाठक की रसानुभूति के अन्य सभी तत्त्व मौजूद हैं जैसे कि हमने पहले देखा—सौन्दर्य वर्णन, प्रकृति वर्णन, युद्ध वर्णन, आदि। पर काव्य में उपस्थित तीसरे सर्ग का कुछ भाग, छठा व सातवाँ सर्ग बिल्कुल ही रसहीन हैं, इन सर्गों से साधारण पाठक न तो आनन्द प्राप्त कर सकता है और न ही उपदेश को समझ पाता है।

कथा दोष :

महाकाव्य के तृतीय सर्ग के १८२ वे श्लोक में वर्णन आया है कि सुर एवं असुरों ने पार्श्व के स्नात्रोत्सव की समाप्ति पर भगवान् का नाम पार्श्व रखा। देखिए :

आह्वयन् पार्श्वनामानमिति सर्वे सुरासुराः । ३, १८२, पूर्वार्ध ॥

उसके पश्चात् हम देखते हैं कि चतुर्थ सर्ग के १३ वे श्लोक में भगवान् की माता अपने पुत्र का नाम 'पार्श्व' महान्धकार में अपनी शय्या के पास एक सर्प को देखकर रखती हैं—ऐसा वर्णन प्राप्त होता है -

तल्पपार्श्वे तु यत् सर्पमपश्यज्जननी ततः ।
महान्घतमसे चक्रे 'पार्श्व' नाम शिशोरिति ॥ ४, १३ ॥

कवि पहले कहता है कि देवों ने स्नात्रोत्सव की समाप्ति पर भगवान् को पार्श्व नाम से पुकारा, बाद में वह कहता है कि शिशु के पास से गुजरता सर्प माता ने देखा तब माता ने उसका नाम पार्श्व रखा ।

स्नात्रोत्सव की घटना के बाद सर्पदर्शन की घटना घटती है । अतः नामकरण के बारे में कुछ व्यत्यय जान पड़ता है । कवि ने अगले सर्ग में जो कहा है उसको वह अनन्तरवर्ती उत्तर सर्ग में भूल जाये यह क्या संभव है ? यह प्रश्न ही रह जाता है । क्या देव अपने अलौकिक ज्ञान से जान गये थे कि यह शिशु 'पार्श्व' नाम का तीर्थकर होने वाला है ? अतः उन्होंने उस शिशु को 'पार्श्व' नाम से पुकारा ? यह संभावित उत्तर है ।

कवि की भाषा—शैली, रस, छन्द एवं अलंकार

कवि की भाषा—शैली :

प्रस्तुत काव्य की संस्कृत भाषा अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य है । कवि की भाषा माधुर्य एवं प्रसाद गुणों से युक्त वैदर्भी रीति से सम्पन्न है । सम्पूर्ण काव्य में अधिकांशतः लम्बे समासों का प्रयोग नहीं किया गया है । काव्य का प्रमुख रस शान्त होने के कारण से भी कवि की भाषा माधुर्य गुण से परिपूर्ण है । इसके साथ ही काव्य में प्रयुक्त भाषा अत्यन्त सरल एवं बोध्य होने के कारण प्रसादमयी भी है । कवि पद्मसुन्दर की भाषा कवि-श्रेष्ठ कालिदास के समान ही प्रसन्नपदावली, पदलालित्य, बोधगम्यता, सरलता एवं मधुरता आदि गुणों से परिपूर्ण है । युद्ध वर्णन के समय कवि की भाषा ओज गुण से युक्त लम्बे समासों वाली तथा गौड़ी रीति से समलंकृत दिखलाई देती है जो वस्तुतः वर्णन के अनुकूल ही है ।

वर्णन के अनुरूप शैली :

कवि की भाषा काव्य में उपस्थित वर्णनों के अनुरूप है । कवि प्रकृति चित्रण एवं शृंगार वर्णन के समय वैदर्भी रीति के अत्यन्त सुन्दर पदलालित्य एवं माधुर्य गुण से ओत-प्रोत श्लोकों की रचना करता है तो युद्ध वर्णन एवं उपदेश आदि के समय उसकी भाषा थोड़ी त्रिष्ट ओज गुण से युक्त गौड़ी शैली वाली हो जाती है ।

वैदर्भी रीति व गौड़ी रीति के उदाहरण देखिए —

वैदर्भी रीति का उदाहरण :-

तदीयजङ्घाद्वयदीप्तिनिर्जिता वनं गता सा कदली तपस्यति ।
चिराय वातातपशीतकर्षणैरधःशिरा नूनमखण्डितव्रता ॥ ५, १३ ॥

प्रभावती की जाँघों के सौन्दर्य के आगे तिरस्कृत, अपमानित या झुके हुए सिर वाला वह केले का वृक्ष सभी ऋतुओं से अखण्डितव्रत होकर जंगल में चिरकाल से तपस्या कर रहा है। कितना सरल और माधुर्य से युक्त है यह श्लोक। इसी से यह वैदर्भी रीति का सुन्दर उदाहरण है।

गौडी रीति का उदाहरण :-

क्षोणीशस्य प्रसेनस्य च परदलनाभ्युद्यतस्यापि चापा-
न्निर्यातो बाणवारः समरभरमहाम्भोधिमन्थाचलस्य ।
नो मध्ये दृश्यते वा दिशि विदिशि न च क्वापि किन्तु व्रणाङ्कः
शत्रूणामेव हृत्सु स्फुटमचिरमसौ पापतिर्दूरवेधी ॥ ४, १५० ॥

इस श्लोक में युद्ध करते समय के राजा प्रसेनजित् के वीरता से लड़ने का वर्णन गौडी रीति में किया गया है। राजा प्रसेनजित् समराङ्गरूप महासागर का मन्थन करने में पर्वत के समान हैं और शत्रुओं को नष्ट करने के लिए उद्यत पृथ्वीपति रूप हैं। उनके धनुष से निकले हुए बाण इधर-उधर ना जाकर सीधे शत्रुओं के हृदयों में ही अपने घाव करते हैं - यह वर्णन चित्त को सजग और विस्तृत बनाता है अतः चित्त में ओज गुण का प्रादुर्भाव होता है और इस ओज गुण पर आधारित रीति ही गौडी रीति कही जाती है। इस वर्णन में बड़े बड़े समासों का प्रयोग किया गया है और यहाँ पर प्रयुक्त छन्द खग्वरा है। अतः यह गौडी रीति का सुन्दर व उत्कृष्ट उदाहरण है।

स्तोत्र की भाषा :

प्रस्तुत काव्य में, नायक के तीर्थंकर होने की वजह से स्तुतियाँ प्रचुर मात्रा में आई हैं। ये स्तुतियाँ तृतीय सर्ग में श्रीपार्व के जन्मोत्सव के समय श्लोक ११२-११३ व १९९ से २१७ तक के श्लोकों में; श्रीपार्व के दीक्षा ग्रहण करने पर पंचम सर्ग के ८४ से ९१ एवं ९७ से १०६ तक के श्लोकों में, तथा सप्तम सर्ग में, पार्व के केवल ज्ञान प्राप्त करने पर ५ से ४० तक के श्लोकों में पाई जाती हैं। ये स्तुतियाँ इन्द्र, इन्द्राणी एवं अन्य देवीदेवताओं द्वारा सम्पन्न की गई है।

अब हम क्रमशः सर्गानुसार इन स्तुतियों पर आलोचनात्मक दृष्टि डाल कर यह देखेंगे कि ये स्तुतियाँ किस प्रकार की हैं तथा इनकी भाषा किस प्रकार की है - सर्वप्रथम तीसरे सर्ग की स्तुतियों पर दृष्टिपात करते हैं।

३. ११२-११३ - इन दो श्लोकों में प्रभु की जो स्तुति की गई है उसमें प्रभु को 'विश्वमूर्ति' और 'गुणातीत' कहा गया है। ये दोनों पद ब्राह्मण परंपरा में ईश्वर के विशेषणों के रूप में अनेकों बार आते हैं।

३. १९९-२१७ — ये स्तुतियाँ अत्यन्त सुन्दर, काव्यचमत्कृतिपूर्ण और भक्तिभावप्रचुर हैं। १९९-२०० में प्रभु को जगत का धाता, पिता, त्राता या विभु कहा है और उनके ज्ञान के सूर्य से लोगों के हृदय में स्थित तमस कैसे दूर हो जाता है, इसका सरल भावपूर्ण स्तवन है।

तीसरे सर्ग के २०१ और २०८ श्लोकों में विरोधाभास अलंकार द्वारा प्रभु की स्तुति की गई है। हे प्रभु !, तू तो अस्नातगूत है फिर तू कैसे सबको पवित्र करता है ?; तू अभूषण है तथापि सुभग है; अश्रीत है तथापि विदांवर है; एक होने पर भी अनेक है; निर्गुण होने पर भी गुणयुक्त है, दुर्लक्ष्य होने पर भी लक्ष्य है; कूटस्थ होने पर भी अकूटस्थ है, इत्यादि। इस प्रकार विरोधाभास अलंकार से स्तुति करने की प्रथा श्वेताश्वतर उपनिषद् जितनी पुरानी है। श्वेताश्वतर का निम्न श्लोक पढ़िये—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । इत्यादि ।

२०८-२१२ में प्रभु की स्तुति अष्टमूर्ति के रूप में की गई है। शाकुन्तल के प्रथम श्लोक में कालिदास ने शिव की अष्टमूर्ति के रूप में स्तुति की है। शिव की अष्टमूर्ति के रूप में स्तुति करने की परंपरा ब्राह्मण परम्परा में प्रचलित थी। कवि पद्मसुन्दर ने इसका अनुसरण यहाँ किया है।

२१३-२१७ श्लोकों में प्रभु की स्तुति दशावतार के रूप में की गई है। जयदेव ने अपने गीतगोविन्द के प्रारम्भ में दशावतार के रूप में ईश्वर की स्तुति की है। ईश्वर की दशावतार के रूप में स्तुति करने का प्रचलन ब्राह्मण परम्परा में प्रारम्भ हो गया था— खास करके वैष्णव सम्प्रदाय में। उसका अनुसरण करते हुए पद्मसुन्दर यहाँ दिखलाई देते हैं। 'दशावतार' से पद्मसुन्दर पार्श्व के अन्तिम दस भव समझते हैं। कारण कि अवतार-बाद जैन दर्शन को मान्य नहीं है।

अब पाँचवे सर्ग की स्तुतियों को देखेंगे :

५. ९७-१०६ — इन स्तुतियों में भक्त का प्रभु के प्रति उरकट प्रेमरस और सामीप्य व्यक्त होता है। भक्त प्रभु के इतना निकट है कि वह प्रभु के ऊपर आक्षेप करता है। इन श्लोकों को देखिए —

| | | | |
|-------------|-------|---------------|-------|
| यद्विहाय... | (१०२) | स्वं परं च... | (१०३) |
| शर्म... | (१०४) | मेजिरे ... | (१०५) |

अन्त में भक्त कहता है कि तेरा चरित मेरी समझ में नहीं आता। तेरा चरित 'वचसाम् अगोचर' है। मैं तेरी शरण में आया हूँ।

इन स्तुतियों में भक्तिभाव का उन्मेष है। प्रभु के निकट संबंध स्थापित होने पर ही ऐसे उद्गार निकल सकते हैं।

सातवें सर्ग की स्तुतियाँ :

७. ५— यहाँ, स्वयम्भूः, परंज्योतिः, प्रभविष्णुः, अयोनिजः, महेश्वरः, ईशानः, विष्णुः, जिष्णुः, अजः, अरजः कह कर पार्श्व की स्तुति की गई है। इस प्रकार की स्तुति में कवि ने ब्राह्मणपरम्परा में ईश्वर के लिए प्रयुक्त शब्दावली-पदावली का प्रयोग किया है।

७ १८-३०— इन श्लोकों में पार्श्व की स्तुति अनेक अर्थगर्भित नामों से की गई है। इनमें से कई नाम ब्राह्मणपरम्परा प्रचलित नाम हैं, जैसे शम्भुः, आदिपुरुषः (७, १८) हिरण्यगर्भः (७, २०), अच्युतः (७, २१), हरः (७, २१) पुराणकविः (७, २२), ब्रह्म (७, २७), चिदानन्दमयः (७, ३०) इत्यादि।

त्वं विश्वतोमुखो (७, १९) इत्यादि श्लोक की तुलना ब्राह्मणपरम्परा में प्रचलित ईश्वरवर्णनात्मक निम्न श्लोक पादों से करना रसप्रद होगा—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखे।

विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् । (नारायणोपनिषद् ३. २ और तै० आ० १०)

अणीयांश्च गरीयांश्च ... (७, २६) इस श्लोक में उपनिषद् के “अणोरणीयान्” की ध्वनि सुनाई देती है।

७. ३१-३६—ये श्लोक भक्तिभावपूर्ण स्तुतिपद हैं।

इस प्रकार काव्य में उपस्थित समग्र स्तुतियों का अध्ययन करने के पश्चात् हमें देखा कि कवि के स्तोत्रों की भाषा अधिकांशतः ब्राह्मणपरम्परा में प्रचलित प्रभु के लिए प्रयुक्त विशेषणों एवं पदावलियों से संपृक्त है और कहीं कहीं उनकी भाषा काव्यचमत्कार से पूर्ण, अलंकार एवं भक्तिभाव से प्रचुर दिखलाई देती है। इति।¹

इसी प्रकार की स्तुतियाँ जिनमें श्रीपार्श्व की स्तुतियाँ भी सम्मिलित हैं, हं लब्ध-प्रतिष्ठ दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित ‘स्वयम्भूस्तोत्र’ एवं ‘स्तुति विद्य’ नामक स्तोत्रग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार सिद्धसेन की स्तुतियाँ भी नमूना हैं।

रस निरूपण

इस काव्य का अंगी रस शान्त है तथा अंगभूत गौण रस के रूप में शृंगार व वीर रस प्रयुक्त हुए हैं।

1. स्तोत्रों द्वारा स्तुति करने की परम्परा जैन साहित्य की अति प्राचीन परम्पा है और जैनों में आदिपुराण से लेकर चली है। जिनसेन के महापुराण और हेमचन्द्र के त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित में इसी प्रकार की स्तुतियाँ पाई जाती हैं। देखिए—जिनसेन का महापुराण, बनारस, १९४४, भाग १ महाराजा भरत द्वारा भगवान् वृषभदेव की स्तुति पृ० ५७५-५८१, और भाग २ में पृ० १४१-१४९।

शान्त रस

प्रस्तुत काव्य के सम्पूर्ण कथानक के कलेवर में शान्त रस व्याप्त दिखलाई देता है। शान्तरस के स्थायी भाव दो माने गये हैं— 'शम' यानि कि चित्त का शान्त होना एवं दूसरा 'निर्वेद'— अर्थात् संसार के विषयों के प्रति वैराग्य। यहाँ शान्त रस में दोनों ही प्रकार के स्थायी भाव फलीभूत होते दिखलाई देते हैं। महाकाव्य में वर्णित प्रायः प्रत्येक पुरुषपात्र (प्रतिनायक को छोड़ कर) चित्त से सदा शांत रहने वाले एवं एक छोटे से निमित्त के मिलते ही सांसारिक मोह को त्याग तत्त्वज्ञान एवं तपश्चर्या के द्वारा वैराग्य के उत्कर्ष को प्राप्त कर शान्ति की प्राप्ति करते हैं।

महाकाव्य के मुख्य पात्र श्रीपार्श्व के चरित्र की मूलवृत्ति में और उनके द्वारा अर्जित सिद्धि में इसी शान्त रस के दर्शन होते हैं। प्रस्तुत काव्य में शान्त रस का परिपाक हम इन स्थानों पर देख सकते हैं—

पंचम सर्ग में नन्दनवन के भवन में आलेखित नेमिचरित को देखकर पार्श्व का विरक्तचित्तता से साम्बत्सरिक दान देना और संसार की नश्वरता की भावना करना (श्लोक ७१ से सर्ग के अन्त तक), सम्पूर्ण छठे सर्ग में पार्श्व के तप व उपदेश आदि के वर्णन में, सप्तम सर्ग में इन्द्र द्वारा श्रीपार्श्व की स्तुति के वर्णन में, तथा प्रत्येक भव में विभिन्न प्रकार के उपसर्गों के समय पार्श्व की अविच्छन्न अडिग शान्तमनःस्थिति वाले चित्रण में भी शान्त रस का ही दिग्दर्शन होता है।

इसके अतिरिक्त प्रथम सर्ग में वर्णित राजा अरविन्द के वायु द्वारा प्रच्छिन्न बादलों के समूह को देखकर संसार से विरक्ति-संवेग उत्पन्न होने व उनके मुनि बन जाने के वर्णन में शान्त रस का ही पुट मिलता है (श्लोक ३२ से ४४ तक)। प्रथम सर्ग में वर्णित किरणवेग नामक राजकुमार का धर्मोपदेश को सुन वैराग्य धारण कर दीक्षित होना (५१ से ६० तक), तत्पश्चात् प्रथम सर्ग में ही वर्णित वज्रनाभ नामक राजकुमार का जिनदेव से दीक्षित होना (श्लोक ७३ से ७६), इसके साथ ही द्वितीय सर्ग में आये राजकुमार कनकप्रभ का वर्णन जहाँ उनका देवताओं के दर्शन करने पर विरक्त हो तपश्चर्या का विवरण (श्लोक ३३ से ४४ तक) आया है— इन सभी स्थानों पर शांत रस का ही प्रतिपादन कवि ने किया है।

शान्त रस के पोषक कतिपय दृष्टान्तों को देखिए —

(१) नाप्यलिप्यत सदाऽरविन्दवत् सोऽरविन्दमुनिपो भवाम्बुनि ।

निर्ममः स निरहङ्कृतिः कृती निष्कषायकलितान्तरिन्द्रियः ॥ १, ३४ ॥

इस श्लोक में राजा अरविन्द के संसार से वैराग्य, शान्तचित्तता एवं संयम धारण करने का वर्णन किया गया है।

(२) स्तुवैवं त्रिदशाधिपास्त्रिजगतामीशं व्रतश्रीभूतं

जग्मुः स्वालयमेव बन्धुजनता प्रापाथ शोकार्दिता ।

निःसङ्गो भगवान् वनेषु विहरन्नास्ते मनःपर्वव-
श्रीसंश्लेषसम्मदः स यमिनां धुर्यः परं निर्वृतः ॥ ५, १०७ ॥

इस श्लोक के द्वारा श्रीपार्व द्वारा संसार का त्याग कर देने पर बन्धुजनों का शोक-पीड़ित होना, भगवान् का मनःपर्ववज्ञान द्वारा खुश होना तथा उनका परम शांति की अवस्था में स्थित होना—इन तीन बातों से कवि ने पार्व के मन की शान्त स्थिति तथा संसार से वैराग्य को दर्शा कर अत्यन्त शान्त निर्मल वातावरण उत्पन्न कर शान्त रस का प्रस्थापन किया है ।

(३) स एष भगवान् पार्वः साक्षाज्जङ्गमभूधरः ।
यद्दृष्ट्या फलिते नैत्रे यच्छ्रुत्या सफले श्रुती ॥ ६, १० ॥

इस श्लोक में पार्व के चरित्र में तप व वैराग्य के कारण उत्पन्न हुई ऐसी अच-लता का वर्णन कवि ने किया है जिससे सम्पूर्ण संसार कृतकृत्य हो उठा है ।

(४) सोऽयं घनाञ्जनश्यामस्त्यक्तसङ्गः सनातनः ।
निष्कामो विचरत्येष दिष्ट्या दृश्यः स एव नः ॥ ६, १२ ॥

इस श्लोक में भी पार्व के अत्यन्त निष्काम आसक्तिरहित एवं सनातन स्वरूप का वर्णन किया है ।

अन्त में शान्त वातावरण को समुत्पन्न करने वाले माधुर्य गुण से परिपूर्ण इस श्लोक को देखिए जिसमें श्री पार्व की धर्मरसामृत वाणी के मिठास का पान कर जगज्जनों का जरा-मरण रहित पद को प्राप्त करना वर्णित है —

(५) श्रीमत्पार्वघनाघनाद्विलसितं मन्द्रं ध्वनेर्गजितं
ते सामाजिकचातकाः श्रुतिगतं सम्पाद्य सोत्कण्ठिताः ।
पीत्वा धर्मरसामृतं मृतिजराशून्यं पदं लेभिरे
भूयात् मङ्गलसङ्गमाय भविनां सौवाऽऽर्हती भारती । । ३, ९६० । ।

वीर रस -

इस काव्य में गौण रूप से वीर रस प्रयुक्त है, जिसका स्थायी भाव उत्साह है । काव्य में वर्णित युद्ध का चित्रण चतुर्थ सर्ग के १३२ वें श्लोक से लेकर १८२ तक के श्लोकों में पाया जाता है । उस युद्ध-चित्रण में हमें वीर रस के दर्शन होते हैं । एक उदाहरण वीर रस के दृष्टान्त स्वरूप पर्याप्त होगा ! देखिए—

उदाहरण है —

छिन्नैकपादोऽपि ह्यः स्वामिनं स्वं समुद्रहन् ।
जातामर्षोऽभिशास्त्रं स प्रधावन् युयुधे चिरम् । । ४, १६६ । ।

प्र- ८

युद्धस्थल में एक नैर से कटा हुआ भी घोड़ा अपने स्वामी को ले जाता हुआ, क्रोधित होकर, शत्रु के सामने दौड़ता हुआ लड़ने लगता था । यहाँ इस वर्णन में घोड़े की असीम वीरता का वर्णन कवि ने किया है जो अपने घायल होने पर भी अपने स्वामी के बल को दुगुना प्रोत्साहन दे रहा है, साथ ही अपने कर्तव्य का पालन भी कर रहा है ।

शृंगार रस :

इस काव्य में शृंगार रस का वर्णन संभोग शृंगार (नायक-नायिका मिलन) एवं विप्रलम्भ शृंगार (नायक-नायिका बिछोह) के रूप में ना कर कवि ने शृंगार रस का चित्रण नारी एवं पुरुष के अनुपम सौन्दर्य वर्णन में किया है । उदाहरण के रूप में प्रथम सर्ग में वसुन्धरा के सौन्दर्य वर्णन में श्लोक १६ से १९ तक; तृतीय सर्ग में महारानी वामा देवी की गर्मस्थ सौन्दर्यावस्था के चित्रण में श्लोक ६२ से ६७ तक, तथा तृतीय व चतुर्थ सर्ग में श्री पार्श्व के सौन्दर्य वर्णन में; एवं पंचम सर्ग में राजा प्रसेनजित् की पुत्री प्रभावती के अलौकिक सौन्दर्य वर्णन में श्लोक ३ से ३५ तक के श्लोकों में किया गया है । जिसका वर्णन विस्तार के साथ हमने 'सौन्दर्य-वर्णन' के अन्तर्गत किया है । यहाँ शृंगार रस के सुन्दर उदाहरण के रूप में एक श्लोक रखते हैं । देखिए—

शृंगार रस का उदाहरण :

विसारितारद्युतिहारहारिणौ स्तनौ नु तस्याः सुषमामवापतुः ।

सुगपगातीरयुगाश्रितस्य तौ रथाङ्गयुग्मस्य तु कुङ्कुमार्चितौ ।। ५, ९६ ।।

कवि ने अत्यन्त शृंगारिक वर्णन करते हुए प्रभावती के उज्ज्वल कान्तिवाले हार से मनोहर एवं कुङ्कुम से अर्चित स्तनों की उपमा देवनदी गंगा के तट पर स्थित चकवा-चकवी के जोड़े से दी है । कवि ने नारी के सौन्दर्य को दर्शाने के लिए अत्यधिक उपयुक्त एवं सुन्दर उपमा का उपयोग किया है ।

कवि की प्रतिज्ञा की समालोचना -

यद्यपि कवि ने अपने काव्य के आरम्भ में 'शृङ्गारभृङ्गारके' कह कर यह प्रतिज्ञा की है कि वह अपने काव्य में शृंगार रस का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करेगा तथापि वह अपनी इस प्रतिज्ञा को अक्षुण्ण रखने में सफल नहीं हुआ है । इसका कारण वस्तुतः यही रहा है कि कवि ने अपने काव्य के नायक तथा अन्य पात्रों का चयन इस प्रकार का किया है कि उनको कहीं भी नायक अथवा नायिका से प्यार करने अथवा बिछुड़ने का अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ है । यदि कवि चाहता तो वह काव्य में से स्थान स्थान के अतिरिक्त उपदेशों व स्तुतियों को थोड़ा कम कर शृंगार रस के दोनों ही प्रकार-संभोग शृंगार व विप्रलम्भ शृंगार का पुट रख पाठक के मन को मुदित कर सकता था जैसा कि संस्कृत के अन्य महाकाव्यों में परम्परागत रूप से होता आया है । पर इस काव्य में ऐसा नहीं हुआ है । इसके स्थान पर इस काव्य में नारी एवं पुरुष के सौन्दर्य निरूपण के वर्णन में ही शृंगार का पर्यवसान हुआ है ।

कवि का छन्द प्रयोग

महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्ततिलक' ग्रन्थ में छन्दोयोजना के विषय में जो नियम लिखे हैं उसके अनुसार यह स्पष्ट है कि काव्य में रसों, भावों एवं वर्णनों के अनुकूल ही छन्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके विपरीत जब काव्य में रस, भाव एवं वर्णनों के अनुरूप छन्दों की योजना नहीं की जाती है तब रीति-ग्रन्थकारों के अनुसार वह 'हतवृत्तता' नामक काव्यदोष गिना जाता है। रीति-ग्रन्थकारों के अनुसार जो छन्द अथवा वृत्त रस के स्वभाव से विपरीत पढ़ता है, उस छन्द का प्रयोग उस रस के लिए करना ही हतवृत्तत्व नामक दोष है।¹

कविवर क्षेमेन्द्र के अनुसार किसी सर्ग के आरम्भ में, कथा के विस्तार में, उपदेश या वृत्तान्त कथन में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग; शृंगार के आलम्बनस्वरूप उदार नायिका के वर्णन में और शृंगार के अंगभूत वसन्त आदि के वर्णन में उपजाति छन्द का प्रयोग; भव्य चन्द्रोदय आदि विभावों का वर्णन रथोद्धता में, षाड्गुण्य आदि नीति सम्बन्धी विषयों का वर्णन वंशस्थ छन्द में; वीर और रौद्र के मेल में वसन्ततिलका छन्द; सर्ग के अन्त में त ताल के समान मालिनी छन्द का प्रयोग, अध्याय को अलग करने या प्रारम्भ करते समय शिखरिणी छन्द का प्रयोग; उदारता, रुचि और औचित्य आदि गुणों के वर्णन के लिए हरिणी छन्द; आक्षेप, क्रोध और धिक्कार के लिए पृथ्वीभरक्षमा छन्द, वर्षा, प्रवास और विपत्ति आदि के वर्णन के लिए मन्दाक्रान्ता छन्द, राजाओं के शौर्य की स्तुति के लिए शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा आँधी-बवंडर के लिए सर्ग्वरा छन्द उपयुक्त होता है

क्षेमेन्द्र के छन्दोयोजना के विषय में बनाए गये नियमों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् जब हम अपने प्रस्तुत काव्य की छन्दोयोजना को देखते हैं तो हमें आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि कवि पद्मसुन्दर का काव्य छन्दोयोजना के नियमों के अनुकूल नहीं रचा गया है। मात्र एक ही छन्द का उपयुक्त प्रयोग कवि ने किया है - वह छन्द है अनुष्टुप्। इस छन्द का प्रयोग कथा के आरम्भ में, विस्तृत कथा के संक्षेपीकरण में, साधारण घटनाओं के वर्णन में, उपदेश आदि के विवरण में किया जाता है। कवि पद्मसुन्दर ने अपने काव्य में इस छन्द का उपयोग इन्हीं सभी विवरणों के लिए किया है। कवि के काव्य के प्रायः सभी सर्ग इसी छन्द से भरे पड़े हैं। इस छन्द में वर्णन का प्रवाह बाधरहित गति से आगे बढ़ता है। महाभारत, रामायण एवं रघुवंश आदि महाकाव्यों का प्रिय छन्द यही अनुष्टुप् ही है।

अनुष्टुप् छन्द के अतिरिक्त अन्य छन्दों का उपयोग कवि पद्मसुन्दर ने इस प्रकार किया है -

देखिए- श्री पं० रामगोविन्द शुक्ल द्वारा लिखित 'कालिदास की छन्दोयोजना' नामक लेख, कालिदासग्रन्थावली, अलीगढ़, सं०, २०१६ वि०, तृतीय संस्करण, तृतीय खण्ड, पृ० १२१-१२२.

नारी एवं पुरुष के सौन्दर्य चित्रण में वंशस्थ छन्द का प्रयोग एवं अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया है ।

युद्ध वर्णन में अधिकतर अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया है । दो युद्ध-चित्र स्रग्धरा एवं शालिनी छन्दों में भी हैं ।

प्रकृति चित्रण भी अधिकतर अनुष्टुप् छन्द में ही है । इसके अतिरिक्त वसन्ततिलका, रथोद्धता व कुङ्कुमलदन्तीगाथा छन्द का भी उपयोग किया गया है ।

किसी भी सर्ग के अन्त में मालिनी छन्द का प्रयोग नहीं किया गया है ।

इस प्रकार हमने देखा कि क्षेमेन्द्र के अनुसार कवि पद्मसुन्दर ने छन्दों की उपयुक्त योजना अपने काव्य में नहीं की है ।

इस काव्य में कुल १६ छन्द प्रयुक्त हैं । अपने काव्य में सभी सुप्रसिद्ध एवं प्रचलित छन्दों के प्रयोग के साथ ही कवि ने पाँच अप्रचलित या बहुत ही कम प्रयोग में आने वाले छन्दों का भी प्रयोग किया है, वे हैं—कुङ्कुमलदन्तीगाथा, जलधरमालागाथा, मयूरसारिणी, तोटक व दोधक छन्द । वैसे इन पाँचों छन्दों का प्रयोग छठे सर्ग में मात्र एक एक श्लोकों की रचना में ही किया गया है ।

इस सर्ग में प्रयुक्त दोधक व तोटक छन्दों का प्रयोग पार्श्व भगवान् के लिए कही गई मुक्तक सूक्तियों के लिये ही किया गया है, जो क्षेमेन्द्र के अनुसार उचित है ।

छन्दों का वर्गीकरण परिशिष्ट २ में किया गया है; पृष्ठ १३५ देखें ।

कवि के अलंकार

कवि ने अपने इस महाकाव्य में, काव्य में रस के पारिपाक के लिए एवं काव्य का शृंगार करने के लिए शब्दालंकार एवं अर्थालंकार—दोनों ही प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है । अग्निपुराण के अनुसार “अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती”¹ अर्थात् जिस प्रकार अलंकार से विहीन विधवा स्त्री प्रतीत होती है, उसी प्रकार अलंकार (अर्थालंकार) से विहीन काव्यवागू प्रतीत होती है ।

इस काव्य में प्रयुक्त कुल अलंकारों की संख्या १८ है । कवि का शब्दालंकार पर विशेष प्रभुत्व प्रतीत होता है । शब्दालंकारों में भी अनुप्रास व यमक कवि को विशेष रूप से पसन्द प्रतीत होते हैं । कवि के अनुप्रास काव्य में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो जाते हैं, जो काव्य की शोभा को बढ़ाने में चार चाँद का काम करते हैं ।

अर्थालंकारों में कवि ने सर्वाधिक प्रयोग उपमा (कहीं कहीं मालोपमा), रूपक, उत्प्रेक्षा स्वभावोक्ति, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति व अर्थान्तरन्यास अलंकारों का किया है । इसके अतिरिक्त कुछ श्लोक इन अलंकारों के भी हैं जिनका प्रयोग बहुत कम ही किया गया है ।

1. अग्निपुराण, श्रीमन्महर्षिवेदव्यासविरचित, गुरुमण्डल सीरीज, न० १७, कलकत्ता, १९५७
अध्याय ३४४ पृ० ७०३ ।

वे हैं—विषमालंकार (१.५०—विषमालंकार व अर्थान्तरन्यास); विभावना (२. १०—रूपक व विभावना); अनुमान (३. ८; ३. १५६), आरोप (३. १६), भ्रान्तिमान् (३.१६१; ४. ३); दृष्टांत (५. ३८, ४१, ७९, ८१ व ८८), कारणमाला (४. ३३), व सन्देह (५. १६ व ६. २१) ।

कवि ने सुन्दर अर्थान्तरन्यासों का प्रयोग किया है । देखिए -

- | | |
|---|-----------|
| (१) कामरागो हिं दुस्त्यजः । | (१, १९) |
| (२) उपासितोऽपि दुर्वृत्तो विकृतिं भजते पराम् । | (१, २६) |
| (३) उपर्युपरि धावन्ति विपदः शुभसंक्षये । | (१, ४८) |
| (४) लघूपदेशाद्वैराग्यं जायेत लघुकर्मणाम् । | (१, ५६) |
| (५) लघूपदेशतोऽपि स्याद् निर्वेदो लघुकर्मणाम् । | (२, ३५) |
| (६) निजधर्मक्रमाचारो दुरुल्लङ्घ्यो महात्मनाम् ॥ | (२, ६८) |
| (७)साधुजनानुषङ्गता कृतार्थयत्यन्यजनं हि केवलम् ॥ | (५, ४२) |

इसके अतिरिक्त कवि के प्रमुख अलंकार — उपमा, रूपक, व्यतिरेक, स्वभावोक्ति, उपप्रेक्षा, यमक व अनुप्रास को उदाहरणस्वरूप देखिए -

उपमा अलंकार

- (१) विभुर्बभासे सुतरामवाप्य तरुणं वयः ।
शशीव कमनीयोऽपि शारदीं प्राप्य पूर्णिमाम् ॥ ४, ४४ ॥

यहाँ कवि ने भगवान् पार्श्व की तरुणावस्था की शोभा को शरदकालीन पूर्णिमा को प्राप्त चन्द्रमा की उपमा से सजाया है । कवि कहता है—सुन्दर होने पर भी पार्श्वप्रभु तरुणावस्था को प्राप्त करने के कारण उसी प्रकार अत्यन्त शोभित थे जिस प्रकार सुन्दर चन्द्रमा शरदकालीन पूर्णिमा को प्राप्त कर अधिक शोभा से शोभायमान होता है ।

- (२) स्तनाविवास्याः परिणाहिमण्डलौ सुवर्णकुम्भौ रतियौवनश्रियौ ।
सुचुचुकाच्छादनपद्ममुद्रितौ विरेजतुर्निस्तलपीवराविमौ ॥५, १८ ॥

- (३) विसारितारद्युतिहारहारिणौ स्तनौ नु तस्याः सुषमामवापतुः ।
सुरापगातीरयुगाश्रितस्य तौ रथाङ्गयुग्मस्य तु कुङ्कुमाचितौ ॥५, १९॥

कवि पद्मसुन्दर ने अत्यन्त शृंगारिक वर्णन करते हुए प्रभावती के स्तनों के सौन्दर्य वर्णन के समय, प्रथम श्लोक में उसके स्तनों की उपमा बन्द कमल से दी है तथा दूसरे श्लोक में स्तनों को देवनदी गंगा के तट पर स्थित चकवा-चकवी के जोड़े से उपमित किया है । ये उपमाएँ बहुत सुन्दर, उचित व चित्तकर्षक हैं ।

रूपक अलंकार

(१) पदारविन्दे नखकेसरद्युती स्थलारविन्दश्रियमूहतुर्भृशम् ।

विसारिमृद्वङ्गुलिसच्छदेऽरुणे ध्रुवं तदीये जितपल्लवश्रिणी ॥ ५, ९ ॥

इस श्लोक में एक सावयव रूपक का निरूपण हुआ है। कवि की कल्पनाशक्ति चरणों को स्थलकमल के रूप में देखती है। इसके अतिरिक्त श्लोक के अपरार्ध में व्यतिरेक की छाया दिखलाई देती है, जहाँ कवि पल्लव की शोभा को भी जीत लेने का निर्देश करता है। इस श्लोक में उपमेय उपमान की शोभा को हर लेता है। कवि की शब्दपसंदगी और रचनाकौशल के कारण रूपक मनोहर बन गया है।

(२) सुकोमलाङ्ग्या मृदुबाहुवल्लरीद्वयं बभौ लोहितपाणिपल्लवम् ।

नखांशुपुष्पस्तबकं प्रभास्वराऽङ्गदाऽऽलवालद्युतिवारिसङ्गतम् ॥ ५, २२ ॥

अलंकार शास्त्र की दृष्टि में सम्पूर्ण कह सके ऐसा यह सावयवरूपक, मौलिक कल्पना के साथ हमारे सम्मुख आता है। लता की अवयवों सहित बाहुओं के साथ सावयव तुलना की गई है। भास्वर अंगद को आलवाल का रूपक देकर कवि ने इस रूपक को सम्पूर्णता का रूप प्रदान किया है और लता के रूपक को अधिक प्रतीतिकर बनाया है। परिणाम-स्वरूप रूपक की शोभा अधिक निखर उठी है।

उत्प्रेक्षा अलंकार

(१) भ्रुवौ विनीले रेजाते सुषमे सुन्दरे विभोः ।

विन्यस्ते वागुरे नूनं स्मरैणस्यैव बन्धने ॥ ४, ५१ ॥

प्रभु के घने नीलवर्ण वाली भौहों की उत्प्रेक्षा कवि कामदेवरूप हिरन को बाँधने के लिए फैलाई हुई दो जाल से करता है।

(२) तस्य तुङ्गायता रेजे नासिका सुन्दराकृतिः ।

लक्ष्येते यत्र वाग्-लक्ष्म्योः प्रवेशाय प्रणालिके ॥ ४, ५६ ॥

पार्श्व की सुन्दर आकृति वाली उन्नत और लम्बी नाक कवि की दृष्टि में ऐसी थी मानो वह नाक सरस्वती और लक्ष्मी, इन दोनों ही देवियों के प्रवेश के लिए बनाई गई दो नालियाँ हों।

इन दोनों ही श्लोकों में “सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य (वर्ण्य उपमेय) समेन (उपमान के साथ) यत्” के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार है।

व्यतिरेक अलंकार

तदीयजङ्घाद्वयदीप्तनिर्जिता वनं गता सा कदली तपस्यति ।
चिराय वातातपशीतकर्षणैरधःशिरा नूनमखण्डितव्रता ॥ ५, १३ ॥

इस श्लोक में कवि ने उपमान कदली वृक्ष से उपमेय प्रभावती की जांघों के सौन्दर्य के आधिक्य का वर्णन कर व्यतिरेक अलंकार का बड़ा ही सुन्दर निदर्शन उपस्थित किया है। “उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः”¹ के अनुसार यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

वभावोक्ति अलंकार

स्तनं घयन्तं काऽपि स्त्री त्यक्त्वाऽधावत् स्तनंधयम् ।
प्रसाधितैकपादाऽगात् काचिद् गलदलक्तका ॥ ६, १४ ॥

श्री पाशर्व को देखने को आतुर महिलाओं का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण करता हुआ कवि कहता है कि कोई स्त्री अपने दूध पीते (स्तनपान करते) बच्चे को छोड़ कर दौड़ी। कोई स्त्री एक ही पैर में महावर लगाये हुए दौड़ने लगी और कोई अन्य स्त्री गलते हुए अलते वाली ही दौड़ रही थी।

“स्वाभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्”² सूत्र के अनुसार यहाँ स्त्रियों का अपने शुरु किये हुए कार्यों को श्रीपाशर्व को देखने के कौतुहलवश अधबीच छोड़ कर दौड़ने का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

यमक अलंकार

सदैव यानासनसङ्गतौ गतौ निगूढगुष्पाविति सन्धिसंहतौ ।
स्फुटं तदंही कृतपाणिर्गस्र्ग्रहौ सविग्रहौ तामरसैर्जिगीषुताम् ॥ ५, १२ ॥

कटिस्तदीया किल दुर्गभूमिकाद्युमेखलाशालपरिष्कृता कृता ।
मनोभवेन प्रभुणा खसंश्रया जगज्जनोपप्लवकारिणा भ्रुवम् ॥ ५, १५ ॥

इन दोनों ही श्लोकों में “पादमध्यमयमकमिति पादानां मध्ये यमितत्वात्” के अनुसार पादमध्यमयमक है।

1. आचार्य विश्वेश्वर कृत मम्मट का काव्यप्रकाश, वाराणसी, १९६०, दशम उल्लास, सू. १५९, पृ० ४९१.
2. वही, दशम उल्लास, सू० १६८, पृ० ५०५ ।

अनुप्रास अलंकार

विहाय चन्द्रं जडमङ्गपङ्किकलं सरोरुहं पङ्ककलङ्कदूषितम् ।

उवास लक्ष्मीरकलङ्कमुच्चैरिति प्रतर्क्येव तदीयमाननम् ॥ ५, २५ ॥

अनुप्रास अलंकार मुख्य व्यतिरेक का गौण अंग है । इस अनुप्रास में खास तौर पर ङ्क की आवृत्ति की गई है । इससे अनुप्रास का उठाव मधुर बन गया है । पाद के मध्य में अनुप्रास का प्रयोग किया गया है । तीनों पाद के मध्य में यह अनुप्रास है । इसकी कुल पाँच बार आवृत्ति हुई है । यह श्रुतिमधुर अनुप्रास का उदाहरण है ।

“वर्णसाम्यमनुप्रासः” के अनुसार वर्णों की समानता अनुप्रास है ।

महाकाव्य में प्राप्त उद्धरण

प्रस्तुत महाकाव्य में दो स्थानों पर कवि पद्मसुन्दर ने दूसरे काव्य अथवा शास्त्रों से उद्धरण उद्धृत कर अपने काव्य में रखे हैं । चतुर्थ सर्ग के ९१ से १२६ तक के श्लोक उद्धृत प्रतीत होते हैं । यहाँ कवि ‘उक्तं च’, ‘अपि च’, ‘यद् उक्तम्’, ‘तदुक्तम्’, आदि कह कर श्लोकों उद्धृत करते हैं । इन श्लोकों में से सभी श्लोक उद्धरण ही हैं अथवा इन में से कुछ उद्धरण और कुछ कवि के स्वयं के श्लोक हैं, यह ज्ञात नहीं हो पाता । चतुर्थ सर्ग के कुल ३५ उद्धृत श्लोकों में से मात्र दो श्लोक ९५ व ९६ ‘आत्मोदयः परज्यानि’ व ‘अन्वदा भूषणं पुंसः’, माघ के शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग के क्रमशः ३० व ४४ वे श्लोक हैं । इसके अतिरिक्त अन्य श्लोक कहाँ के हैं, यह हमें ज्ञात नहीं हो सका है । ये श्लोक राजा प्रसेनजित् का मंत्री उन्हें राजनीति के तत्त्व को समझाने के लिए बोलता है ।

इसी प्रकार पंचम सर्ग के ६१ से ६७ तक के उद्धृत श्लोक किसी अज्ञेय ग्रन्थ के हैं जिन्हें कवि ने पार्श्व द्वारा कमठ नामक तापस (ब्राह्मण) के अज्ञान व पाखण्ड से भरे कर्मकाण्ड को गलत सिद्ध करने के लिए एवं ब्राह्मण परम्परा के धर्म-ग्रन्थों में सच्ची तपस्या व सच्चा धर्म क्या है ? यह समझाने के लिए बुलवाये है । यहाँ कवि द्वारा ‘परधमी’ को समझाने के लिए उनके शास्त्र से ही उद्धरण लेना समुचित प्रतीत होता है । ये श्लोक कहाँ के हैं, यह हमें ज्ञात नहीं हो सका है ।

पार्श्व के जीवन से सम्बन्धित सामग्री :

(अ) मूल (१२) आगमों में प्राप्त पार्श्व सामग्री का संकलन और आगमों में पार्श्व-पर्यावलोकन :
आचाराङ्गसूत्र

श्रमण भगवान महावीर स्वामी के पिता सिद्धार्थ एवं माता त्रिसला पार्श्वपत्नीय एवं श्रमणोपासक थे । इन्होंने श्रमणोपासक की पर्याय का पालन करके देवत्व को प्राप्त किया था । महावीर के चाचा सुपार्श्व, ज्येष्ठ भ्राता नन्दीवर्धन, बड़ी बहन सुदर्शना —ये सभी पार्श्वपत्नीय श्रमणोपासक थे ।¹⁻²

सूत्रकृताङ्गसूत्र

सूत्रकृताङ्गसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के “नालन्दीयाध्ययन” नामक सप्तम अध्ययन में भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य भगवान गौतम स्वामी के साथ भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य की सन्तान उदक पेढालपुत्र की प्रत्याख्यान — त्याग विषयक चर्चा का वर्णन आया है ।

पार्श्व परंपरा के शिष्य उदक पेढालपुत्र के कथनानुसार गौतम स्वामी के अनुयायी कुमारपुत्र नामक श्रमण निग्रंथ श्रावकों को जिस पद्धति से प्रत्याख्यान कराते हैं वह उचित नहीं है कारण कि उस पद्धति द्वारा प्रतिज्ञा का पालन नहीं हो सकता है अपि तु भंग होता है । उदक पेढालपुत्र के मतानुसार प्रत्याख्यान वाक्य में मात्र त्रस पद का प्रयोग न करके यदि भूतपद के साथ उस वाक्य का प्रयोग किया जाय अर्थात् त्रसभूत प्राणी को मारने का त्याग है — ऐसा वाक्य कहे तो प्रतिज्ञा भंग का दोष नहीं होता है । उदक पेढालपुत्र गौतम स्वामी से कहता है कि इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से स्थावर रूप से उत्पन्न त्रसों के घात होने पर भी प्रतिज्ञा भंग नहीं होती है अन्यथा प्रतिज्ञा भंग होने में कोई संदेह नहीं है ।

गौतम के अनुसार जिसको त्रस कहते है उसी को त्रसभूत भी कहते है इसलिए त्रस पद से जो अर्थ प्रतीत होता है वही अर्थ भूत शब्द के प्रयोग से भी प्रतीत होता है अतः ‘भूत’ शब्द के जोड़ने का कोई प्रयोजन नहीं है । आदि..... ।

1. आचारांगसूत्र, शीलांकटीका, आगमोदयसमिति, रतलाम, वि० सं० १९१६, द्वितीय-श्रुतस्कन्ध, सूत्र संख्या १७७-१७८.

2. नोट : मूल में सुपार्श्व, नन्दीवर्धन एवं सुदर्शना महावीर के संबन्धी थे ऐसी ही जानकारी प्राप्त होती है — वे पार्श्वपत्नीय थे ऐसा वहाँ नहीं लिखा— मात्र महावीर के माता-पिता को ही पार्श्वपत्नीय बताया गया है । यदि वे महावीर के संघ में होते तब तो अवश्य ही संकलनकार ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों के नाम का निर्देश करते ।

—स्पष्ट दलीलों के साथ पं० दलमुखभाई मालवणियाजी ने यही युक्त बताया है कि काका सुपार्श्व, भ्राता नन्दीवर्धन एवं बड़ी बहन सुदर्शना को पार्श्वपत्नीयों की श्रेणी में ही रखना चाहिए ।

‘पार्श्वपत्नीय और पार्श्व संघ,’ पं० श्री दलमुखभाई मालवणिया, उत्थान, महावीर अंक, बम्बई, १९३१ ।

प्र.-९

विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा श्रावक के व्रत का सविषय होना सिद्ध करके गौतम स्वामी उदक के प्रश्न की अत्यधिक असंगतता दर्शाते हैं। तत्पश्चात् — उदक पेढालपुत्र महावीर स्वामी के निकट चार याम वाले धर्म से पंच महाव्रत वाले धर्म को प्रतिक्रमण के साथ प्राप्त करके विचरते हैं।¹

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र)

भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानीय शिष्यानुशिष्य कालास्यवेषिपुत्र नामक अनगार, जिन्होंने पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षा ली थी उन्होंने महावीर के अनुयायी स्थविर भगवन्तों से धर्म सम्बन्धी चर्चा की और सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, विवेक, श्रुत्कर्ग आदि धर्मतत्त्वा के विषय में प्रश्नोत्तर किये। तब महावीर के अनुयायी स्थविरों ने कहा कि आत्मा ही सामायिक है, यही सामायिक का अर्थ है और यही व्युत्सर्ग है। संयम के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग कर इनकी निन्दा की जाती है। गर्हा संयम है और अगर्हा संयम नहीं। गर्हा समस्त दोषों का नाश करती है। आत्मा सर्व मिथ्यात्व को जानकर गर्हा द्वारा समस्त दोषों का नाश करती है। बोध प्राप्त कर कालास्यवेषि अनगार ने पंचमहाव्रत वाले धर्म को स्वीकार किया तथा महावीर स्वामी का शिष्य बना।²

पार्श्वनाथ के सन्तानीय स्थविर भगवन्तों ने श्रमण भगवान् महावीर से पूछा — असंख्य लोक में अनन्त रात्रि-दिवस उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं, तो इसका कारण क्या है? महावीर स्वामी ने उत्तर दिया — असंख्य लोक में अनन्त रात्रि-दिवस हुए, होते हैं व होंगे, विगत हुए, विगत होते हैं, विगत होंगे, कारण कि श्री पार्श्वनाथ भगवान् के अनुसार लोक शाश्वत, अनादि और अनन्त है। यह चारों ओर से अलोक से विरा हुआ है। इसका आकार नीचे पर्यांक के जैसे संस्थान वाला है, मध्य में उत्तम वज्र सदृश आकृति और ऊपर ऊर्ध्व मृदंगकार जैसा है। ऐसे लोक में अनन्त जीवधन तथा परित्त-मर्यादित जीवधन उत्पन्न होकर मरते रहते हैं। इस दृष्टि से लोक भूत, उत्पन्न, विगत और परिणत है। लोक अजीवादि पदार्थों द्वारा पहचाना जाता है। जो लोकिता हो-जाना जाय, वह लोक कहा जाता है।

ज्ञानोपलब्धि के पश्चात् पार्श्व के सन्तानीय स्थविर भगवन्त भगवान् महावीर के शिष्य बने।³

पार्श्व सन्तानीय गांगेय अनगार ने महावीर से नरक में जीव निरन्तर उत्पन्न होते

1. सूत्रकृताङ्गसूत्र, पी० ए०० वैद्य, बम्बई, वि० सं० १९२८, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, सप्तम अध्ययन।
2. व्याख्याप्रज्ञप्ति, अमरदेवदूरीश्वरविचिावृत्ति, द्वि० संस्करण, आगमोदय-समिति, मेहसाणा, वि० सं० १९१८-२१, शतक १, उद्देश ९, सूत्र ७६ पृ० १७५-४१७
3. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ५, ९ सू. २२६ पृ० ४४८, ४५०।

हैं या कालान्तर से उत्पन्न होते हैं—यह प्रश्न पूछा था । महावीर स्वामी ने उत्तर दिया — नरक में जीव निरन्तर उत्पन्न होते हैं । और कालान्तर से भी उत्पन्न होते हैं ।¹

श्री पाश्र्व सन्तानीय गांगेय अनगार ने महावीर स्वामी से प्रश्न पूछा कि विद्यमान नैरेयिक उत्पन्न होते हैं अथवा अविद्यमान नैरेयिक उत्पन्न होते हैं । भगवान महावीर ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि विद्यमान नैरेयिक ही उत्पन्न होते हैं अविद्यमान नैरेयिक उत्पन्न नहीं होते हैं । इसी प्रकार गांगेय अनगार देव के विषय में भी प्रश्न करते हैं और उसके पश्चात् महावीर स्वामी का शिष्यत्व स्वीकार करते हैं ।²

महावीर स्वामी के समय में पार्श्वनाथ के सन्तानीय स्थविर भगवन्त पाँच सौ (५००) साधुओं के साथ तुंगिया नगरी के बाहर पुष्पवती उद्यान में ठहरे थे । वे स्थविर भगवन्त जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, बल, रूप, विनय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, लज्जा, लाघव, नम्रता आदि गुणों से युक्त ओजस्वी, तेजस्वी, प्रतापी और यशस्वी थे । उन स्थविर भगवन्तों के पधारने की बात तुंगिका नगरी में फैल गई और तब जनता उनकी वन्दना हेतु श्रद्धा सहित जाने लगी ।

श्रमणोपासकों ने स्थावर भगवन्तों का धर्मोपदेश सुना, साथ ही संयम एवं तप का फल क्या है ? तथा देव देवलोक में किस कारण से उत्पन्न होते हैं ? ये प्रश्न पूछे ।

उत्तर में उन स्थविर भगवन्तों ने बतलाया कि संयम का फल अनाश्रवण है और तप का फल व्यवदान है तथा देव 'पूर्वतप' या 'पूर्वसंयम' से देवलोक में उत्पन्न होते हैं ।³

उत्तराध्ययनसूत्र

त्रिलोक पूज्य, धर्म तीर्थंकर, सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्री पार्श्वनाथ नाम के अर्हन्त जिनेश्वर हुए हैं । उनकी परंपरा में केशीकुमार श्रमण हुए । केशीकुमार एक बार अपने संघ सहित श्रावस्ती नगरी में आये और तिन्दुक उद्यान में ठहरे । उस समय जिनेश्वर भगवान वर्धमान स्वामी धर्मतीर्थ के प्रवर्तक थे । उनके शिष्य गौतम स्वामी थे । भागवतशास्त्र गौतम स्वामी भी अपनी शिष्यमण्डली के साथ श्रावस्ती नगरी के बाहर कोष्ठक उद्यान में ठहरे । दोनों की शिष्यमण्डली ने एक दूसरे को जाना और तब परस्पर उनमें यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि हमारा धर्म कैसा है और इनका धर्म कैसा है तथा हमारे और इनके आचार धर्म की व्यवस्था कैसी है ? महामुनि पार्श्वनाथ ने चारयामरूप धर्म का और वर्धमान स्वामी ने पाँच यामरूप धर्म का उपदेश दिया है । एक सचेतक धर्म है और दूसरा अचेतक धर्म है । (पार्श्व का धर्म सचेतक है व महावीर का धर्म अचेतक है) । एक ही कार्य के लिए प्रवृत्त दोनों तीर्थंकरों में यह भेद क्यों कर है ? अतः केशीकुमार और गौतम स्वामी ने अपने शिष्यों की शंका का समाधान करने के लिए परस्पर मिलने का

1. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ९, ५, सू० ३७१ पृ० ८०४-८०५

2. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ९, ५, सू० ३७६-३७८, पृ० ८३३ ।

3. व्याख्याप्रज्ञप्ति, २, ५, सू० १०७-११० पृ० २४०-२४७

विचार किया । श्री गौतम स्वामी केशीकुमार के ज्येष्ठ कुल में होने का विचार करके अपने शिष्य संघ के साथ तिन्दुक वन में आये ।

केशीकुमार ने प्रथमतः गौतम स्वामी से पूछा कि एक ही कार्य के लिए प्रवृत्त होने पर भी क्या कारण है कि महावीर ने पंचमहाव्रत रूपी धर्म का उपदेश दिया जब कि पार्श्व ने चारयामरूपी धर्म का उपदेश दिया है ।

गौतम स्वामी ने प्रत्युत्तर में कहा कि प्रथम तीर्थंकर के मुनि ऋजुजड़ और अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्रजड़ तथा मध्यके ऋजुप्रज्ञ होते हैं । अतः धर्म के दो भेद हुए... ।

तत्पश्चात् केशीकुमार ने गौतम स्वामी से दूसरा प्रश्न किया कि पार्श्व ने प्रधान वस्त्र धारण करने का धर्म प्रचलित किया जब कि महावीर का धर्म अचेलक धर्म है- अतः इस भेद का क्या कारण है ?

गौतम स्वामी ने उत्तर में कहा कि लोक में प्रतीति के लिए, संयम निर्वाह के लिए, ज्ञानादि ग्रहण करने के लिए और वर्षाकल्पादि में संयम पालने के लिए उपकरण और लिंग का आवश्यकता है । अन्यथा दानों ही तीर्थंकरों की प्रतिष्ठा तो निश्चय से मोक्ष के सद्भूत साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ही है ।

इसके पश्चात् केशीकुमार ने गौतम स्वामी की प्रज्ञा से प्रभावित होकर अनेकों धर्म-मोक्ष आदि तत्त्वों पर प्रश्न पूछे और प्रत्युत्तरों से प्रसन्न होकर उन्होंने गौतम स्वामी की सिर झुका कर वन्दना की और पांच महाव्रत वाले धर्म को भाव से ग्रहण किया क्योंकि प्रथम और आन्तम तीर्थंकर के मार्ग में यही धर्म सुल देने वाला है ।¹

ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र

ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में कई कथाएँ वर्णित हैं जिन कथाओं द्वारा धर्म का आवेचन किया गया है । (इस सूत्र में महावीर के अन्तेवासी आर्य सुधर्म नामक स्थावर से उनके अन्तेवासी आर्य जम्बू नामक अनगार द्वितीय श्रुत स्कन्ध का महावीर द्वारा किये गये अर्थ के विषय में प्रश्न करते हैं और तब वह क्रमशः उन कथाओं का वर्णन करते हैं ।) इस सूत्र में जितनी भी कथाएँ आई हैं उनमें भगवान पार्श्व की शिष्याओं का वर्णन है । वे सभी पार्श्व अरहंत के समीप दीक्षित हुई थीं । वे सभी पुष्प-चूला आर्या की शिष्या बनी थीं । मृत्यु प्राप्त करके वे सभी ईशान इन्द्र की अग्रमहिषियाँ बनीं । सभी की स्थिति नौ पत्योपम की कही गई है । सभी विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त होंगी । उन सब के नाम निम्नलिखित हैं :

काली, राजी, रजनी, विद्युत, मेघा, शुभा, निशुभा, रंभा, निरंभा मदना, इला, सतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, घना, विश्रुता, रुचा, सुरुचा, रुचांशा, रुचकावती, रुचकान्ता, रुचप्रभा, कमला, कमलप्रभा, उत्पला, सुदर्शना, रूपवती, बहुरूपा, सुरूपा, सुभगा, पूर्णा, बहुपुत्रिका, उत्तमा, भारिका, पद्मा, वसुमती, कनका, कनकप्रभा, अवतंसा, केतुमती, वज्रसेना, रतिप्रिया, रोहिणी

3, उत्तराध्ययनसूत्र, संपा० जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, १९२५, अध्याय २३ ।

नवमिका, हूनी, पुष्पवती, भुजगा, भुजगवती, महाकच्छा, अपराजिता, सुघोषा, विमला, सुस्वरा, सरस्वती, सूर्यप्रभा, आतपा, अर्चिर्माली, प्रभंकरा, पद्मा, शिबा, सती, अंबू, रोहिणी, नवमिका, अचला, अक्सरा, कृष्णराजी, रामा, रामरक्षिता, वसु, वसुगुप्ता, वसुमित्रा, वसुन्धरा । (प्रस्तुत काव्य पार्श्वनाथ चरित्र में ये सब देवियाँ उल्लिखित हैं आर उनके नाम भी एक है) ।

शाताधर्मकथांगसूत्र के द्वितीय श्रुत स्कन्ध में आई पार्श्व की शिष्याओं की कथाओं पर दृष्टिपात करने से श्री पार्श्व के विहारस्थलों की भी जानकारी हासिल होती है जो निम्नतः है -

- (१) आमलकप्पा - सू० १४८-१४९
- (२) श्रावस्ती - सू० १५०
- (३) चम्पा - सू० १५२
- (४) नागपुर - सू० १५३
- (५) साकेत - सू० १५४
- (६) अरक्खुरी (अरक्षुरी) - सू० १५५
- (७) मथुरानगरी - सू० १५६
- (८) श्रावस्ती, हस्तिनापुर, काम्पिल्यपुर, साकेतनगर - सू० १५७
- (९) वाराणसी - सू० १५८
- (१०) रायगिह (राजगृह), श्रावस्ती, कौशाम्बी - सू० १५८
- (११) नागपुर में, सहस्राष्ट्र वन में कमला को दीक्षा दी - सू० १५३

अन्य जानकारीयाँ -

- (१) जितशत्रु चंपा नगरी का राजा था । उसका मन्त्री सुबुद्धि उसे जैन धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाता है और अन्त में वे दोनों ही पार्श्वनाथ के चातुर्यात्मिक धर्म में दीक्षा लेते हैं ।
शाताधर्मकथा - १, १२.
- (२) सुबुद्धि - ये चंपा नगरी के राजा जितशत्रु का मन्त्री था । यह प्रथम श्रमणोपासक था तत्पश्चात् उसने दीक्षा ली थी ।
शाताधर्मकथा १, १२.
- (३) थेर - उनके नाम नहीं दिये गये हैं । वे जितशत्रु एवं सुबुद्धि के दीक्षागुरु थे ।
शाताधर्मकथा १, १२.^१

राजप्रश्नीयसूत्र

भगवान पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा में स्थित केशी नामक कुमार श्रमण जो कि कुमारावस्था में ही दीक्षित हुए थे, सर्वगुणपसन्न वे मति, श्रुत, अवधि एव' मनःपर्यय - चार ज्ञानों के अवधारक थे ।

एक बार, तीर्थंकर परम्परा के अनुसार विहार करते हुए वे अपने पाँचसौ शिष्यों के साथ श्रावस्ती नगरी के कोठक चैर्य में आकर ठहरे । उस समय प्रदेशी राजा का

1. शाताधर्मकथांगसूत्र, अभयदेवकृत टीका सहित, आगमोदयसमिति, मेहसाणा, वि० सं० १९९१

चित्त नामक सारथि राजा के काम से श्रावस्ती नगरी में आता है, वहाँ उसकी केशीश्रमण से मेट होती है । केशीश्रमण द्वारा चातुर्व्याम धर्म को सुनकर वह अत्यन्त श्रद्धामय हो उठता है तथा श्रमणोपासक बनता है । वह केशीकुमार के पास पाँच अणुव्रतों वाले एवं सात शिक्षाव्रतों वाले गृहस्थ धर्म को अंगीकार करता है ।

उसके पश्चात् एक बार भ्रमण करते हुए केशीश्रमण अपने शिष्यों सहित श्वेताम्बिका नगरी में आते हैं । वहाँ चित्त सारथि के आग्रह से प्रदेशी राजा केशीश्रमण से मिलने जाते हैं एवं राजा केशीश्रमण से जीव के अस्तित्व के विषय में चर्चा करते हैं । और जब उन्हें जीव के अस्तित्व की ठीक प्रकार से प्रतीति होती है तब वे श्रमणोपासक के व्रत का अंगीकार करते हैं । ¹⁻²

निरयावलिकासूत्र

उस समय, उस काल, पार्श्व नामक अरिहंत पुरुषों में आदरणीय, तीर्थ के आदि कर्त्ता, ना हाथ ऊंचे शरीर वाले, सोलह हजार साधुओं के और अड़तीस हजार साध्वियों के साथ श्रावस्ती के कोष्ठक नामक बगीचे में आये और वहाँ अंगती नाम का गाथापति वंदन करने गया और उपदेश सुनकर साधु बन गया ।³

पार्श्वनाथ को राजगृह में आगमन और गुणशील नामक उद्यान में निवास, और भूता नामक वृद्धकन्या का पार्श्वनाथ के समीप जाना, उपदेश सुनना और प्रब्रजित होकर दीक्षित हो जाना और कुछ समय पश्चात् उसका शिथिलाचरित होना और तब मर करके उसका श्रीदेवी बनना ।⁴

(श्रीपार्श्व राजगृह में आते हैं तथा गुणशील नामक उद्यान में निवास करते हैं । वहाँ भूता नामक वृद्धकन्या श्रीपार्श्व के समीप आती है और उपदेश सुनकर, प्रब्रजित होकर दीक्षित होती है । कुछ समय के पश्चात् वह शिथिलाचरित होकर मृत्युप्राप्त कर श्रीदेवी बनती है । इसका यहाँ वर्णन किया गया है ।)

1. राजप्रश्नीयसूत्र, द्वि० भाग, मलयगिरिवृत्ति, बेचरदासजी द्वारा सम्पादित, अहमदाबाद, वि० सं० १९९४ । सू० ५३ से आरम्भ..... ।
2. नोट :- जिस प्रकार जैनों के आगम में प्रदेशी राजा का वर्णन प्राप्त होता है ठीक उसी प्रकार का वर्णन बौद्धों के त्रिपिटक में “पायासीसुत्त” में प्राप्त होता है ।

— श्री दलसुखभाई मालवणिया, उत्थान, महावीर अंक ।

3. निरयावलिकासूत्र, आगमादयसमिति, मेहसाणा, वि० सं० १९९०, वर्ग ३ अध्ययन १ निरयावलिकासूत्र, ४, १ ।

तिथ्योगाली

श्रीपार्श्व भगवान प्राणत कल्प से च्युत हुए थे ।¹ जिस समय भरतक्षेत्र में पार्श्व भगवान तीर्थंकर थे उसी समय ऐरावतक्षेत्र में अग्निदत्त नामक तीर्थंकर विद्यमान थे । पार्श्वनाथ एवं उग्निदत्त— इन दोनों तीर्थंकरों का जन्म विशाखा नक्षत्र में हुआ था ।² पार्श्वनाथ का रंग प्रियांगु पुष्प के समान था ।³ पार्श्व नौ हाथ ऊँचे थे ।⁴ पार्श्व राजकुमार थे, राजा नहीं थे ।⁵ पार्श्व ने तीन दिन के उपवास के पश्चात् प्रत्रज्या ली थी ।⁶ पार्श्व ने पूर्वाह्न में दीक्षा ग्रहण की थी ।⁷ पार्श्व ने ३०० व्यक्तियों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी ।⁸ पूर्वाह्न में पार्श्व को ज्ञान प्राप्त हुआ था ।⁹ पार्श्व के कुल आठ गणधर थे जिनमें आर्य-दिन्न नामक प्रथम गणधर था ।¹⁰ पुष्पचूला नाम की उनकी मुख्य साध्वी थी ।¹¹ पार्श्व का सोलह हजार की संख्या का शिष्य परिवार था और प्रसेनजित् नामक राजा पार्श्व का भक्त था ।¹²

भगवान महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व भगवान पार्श्व का जन्म हुआ था ।¹³ जब पार्श्व का भारतवर्ष में निर्वाण हुआ था ठीक उसी समय ऐरावत क्षेत्र में अग्निदत्त तीर्थंकर निर्वाण को प्राप्त हुए थे । और इन दोनों तीर्थंकरों का स्वर्गवास विशाखा नक्षत्र में, पूर्व रात्रि के समय में हुआ था ।¹⁴

स्थानाङ्गसूत्र

भगवान पार्श्वनाथ ने तीन सौ पुरुषों के साथ मुण्डन किया था और प्रत्रज्या ली थी ।¹⁵ पार्श्वनाथजिन के पाँच कल्याणक अर्थात् च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण विशाखा नक्षत्र में हुए थे ।¹⁶ पुरुषादानीय पार्श्वनाथ अरहत के ६०० वादी थे और वे देवता, मनुष्य और असुरों से भी अपराजित थे ।¹⁷ पुरुषादानीय अरहत पार्श्वनाथ के आठ गण एवं आठ गणधर थे । गणधरों के नाम क्रमशः शुभ, आर्यघोष, वसिष्ठ, ब्रह्मचारी,

| | | | | | |
|----|------------------------|-----|---------|--------------------|----------|
| 1. | तिथ्योगाली गा० नं० ३११ | 8. | तिथ्यो० | ३९३ | |
| 2. | तिथ्यो० | ३३५ | 9. | तिथ्यो० | ४०२, ४१८ |
| 3. | तिथ्यो० | ३४२ | 10. | तिथ्यो० | ४६२ |
| 4. | तिथ्यो० | ३६७ | 11. | तिथ्यो० | ४६९ |
| 5. | तिथ्यो० | ३८५ | 12. | तिथ्योगाली गा० नं० | ४९२ |
| 6. | तिथ्यो० | ३९९ | 13. | तिथ्योगाली गा० नं० | ५१९ |
| 7. | तिथ्यो० | ३९२ | 14. | तिथ्योगाली गा० नं० | ५४४ |

‘तिथ्योगाली पईण्य’— संपा० डो० २० म० शाह, (शीघ्र प्रकाश्यमान) ला० द० विद्यामंदिर, अहमदाबाद ।

15. सू० २२९, पृ० १७८

16. ४११, ३०७

17. ५२०, ३६८

सोम, श्रीधर, वीर्य और भद्रयश हैं ।¹ पुरुषादानीय पार्श्वनाथ अरहन्त वज्रशृषभ नाराच संघन वाले और समचतुरस्र संस्थान वाले थे तथा वे सात हाथ ऊँचे थे ।²

समवायाङ्गसूत्र

श्रीपार्श्वनाथ अरहन्त के आठ गण और आठ गणघर थे । उनके नाम इस प्रकार हैं :- शुभ, शुभघोष, वसिष्ठ, ब्रह्मचारी, सोम, श्रीधर, वीरभद्र, और यश ।³ श्रीपार्श्व नौ हाथ ऊँचे थे ।⁴ उनहीं सोलह हजार साधुओं के उत्कृष्ट श्रमणसंपदा थी ।⁵ श्रीपार्श्व तीस वर्ष गृहस्थाश्रम में रहने के पश्चात् घर से निकल कर 'अनगार-प्रव्रजित' हुये थे ।⁶ उनकी अड़तिस हजार साध्वीयों रूपी उत्कृष्ट साध्वीसंपदा थी ।⁷ श्रीपार्श्व सत्तर वर्ष की अवस्था तक श्रमणपर्याय पाल कर सिद्ध, बुद्ध और यावत् सर्व दुःख से रहित हुए थे ।⁸ पार्श्वनाथ सौ वर्ष की आयु पालन के पश्चात् सिद्ध हुए थे ।⁹ पार्श्व की साठे तीन सौ 'चीदपूर्वानी' संपदा थी ।¹⁰ श्री पार्श्व की देव, मनुष्य और असुर लोक के विषय के वाद में पराजय न पाये ऐसी छः सौ वादीयों की उत्कृष्ट संपदा थी ।¹¹ श्रीपार्श्व के एक हजार जिनो (केवली) थे । उनके एक हजार शिष्यों ने कालधर्म प्राप्त किया था ।¹² उनके अग्यारस वैक्रियलब्धि वाले साधु थे ।¹³ उनकी तीन लाख सताइस हजार उत्कृष्ट श्राविकाओं की संपदा थी ।¹⁴

1. ६१७, ४२९

नोट :- आवश्यकनिर्युक्ति में दस गण-गणघर बतलाये हैं । स्थानाङ्ग और पर्युषण (कल्पसूत्र का अंतिमभाग) में आठ गण-गणघर कहे हैं । समवायाङ्ग में भी आठ ही बतलाये गये हैं ।

2. ६९०, ४५५ । स्थानाङ्ग अभयदेव टीका, आगमोदय समिति, मेहसाणा, वि० सं० १९१८-२० ।

3. सूत्र ८, पृ० २७

9. सूत्र १००, पृ० १९६

4. सूत्र ९, पृ० ३०

10. सूत्र १०५, पृ० १९८

5. सूत्र १६, पृ० ६२

11. सूत्र १०९, पृ० २०१

6. सूत्र ३०, पृ० १०७

12. सूत्र ११३, पृ० २०४

7. सूत्र ३८, पृ० १३३

13. सूत्र ११४, पृ० २०५

8. सूत्र ७०, पृ० १६३

14. सूत्र पृ० २०७

—समवायाङ्गसूत्र (चतुर्थ अंग), श्री अभयदेव कृतटीका, आगमोदयसमिति, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा मेहसाणा, वि० सं. ०१९९५ ।

आवश्यकनिर्युक्ति

तीर्थंकरों में महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लीनाथ और वासुज्य ये सभी राजकुमार थे तथा अन्य सभी तीर्थंकर राजा थे ।¹ पार्श्व का जन्म राजकुल में विशुद्ध क्षत्रिय वंश में हुआ था । उन्होंने राज्याभिषेक की इच्छा नहीं की थी । वे कुमारावस्था में ही प्रव्रजित हुए थे ।² उन्होंने ३०० शिष्यों के साथ प्रव्रज्या ली थी ।³ उन्होंने जीवनकाल के प्रथम वय में प्रव्रज्या ली थी ।⁴ पार्श्व ने तीन दिन के उपवास के पश्चात् प्रव्रज्या ली थी ।⁵ पार्श्व ने आश्रमपद नामक उद्यान में दीक्षा ली थी ।⁶ पार्श्व पूर्वाह्न में दीक्षित हुए थे । मगध और राजगृह नगरों में प्रायः पार्श्व का विहार हुआ । तत्पश्चात् अनार्य-भूमि में भी उन्होंने विचरण किया था ।⁸ चैत्र मास की चतुर्थी, विशाखा नक्षत्र के योग में, पार्श्व को केवलज्ञान हुआ ।⁹ आश्रमपद में ही केवलज्ञान हुआ था ।¹⁰ पार्श्व ने दीक्षा के समय तीन दिन का उपवास रखा ।¹¹ तीस वर्ष की वय में दीक्षा ली और सत्तर (७०) वर्ष तक उन्होंने दीक्षाव्रत का पालन किया ।¹² पार्श्व ने प्रथम भिक्षा कूपकट नामक ग्राम में ली थी, और प्रथम भिक्षा देने वाला घन्य नामक व्यक्ति था ।¹⁴⁻¹⁵ पार्श्व का शरीर नौ हाथ ऊँचा था ।¹⁵ उनका जन्मस्थान वाराणसी था । अरिष्टनेमि और पार्श्व के बीच ब्रह्म नाम का चक्रवर्ति हुआ था ।¹⁷ पार्श्व की माता जब गर्भिणी थी तो उनके पार्श्व (पास) में से सर्प निकला था इससे उनका नाम पार्श्व पड़ा ।¹⁸ उनकी माता का नाम वग्मा (वामा) था ।¹⁹ नेमिनाथ से पार्श्वजिन का समय ८३३५० और पार्श्व से महावीर के बीच का समय २५० वर्ष का था ।²⁰ पार्श्व का नील वर्ण था ।²¹ उनका काश्यप गौत्र था ।²²

सम्मेतशिखर पर पार्श्व का स्वर्गवास हुआ था ।²³ तेतीस व्यक्तियों के साथ पार्श्व का निर्वाण हुआ ।²⁴ उनकी १०० वर्ष की उम्र थी ।²⁵ वे जब पैदा हुये थे तब तीन-ज्ञानवाले थे और जब दीक्षित हुए तब वे चार ज्ञानवाले थे (मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय) ।²⁶

- | | |
|---|-----------------------|
| 1. आवश्यकनिर्युक्ति, व भद्रबाहुकृत, गाथा नं० २२१. | |
| 2. गाथा नं० २२२ | 15. गाथा नं० ३८० |
| 3. गाथा नं० २२४ | 16. गाथा नं० ३८४ |
| 4. गाथा नं० २२६ | 17. गाथा नं० ४१९ |
| 5. गाथा नं० २२८ | 18. गाथा नं० १०९८ |
| 6. गाथा नं० २३१ | 19. गाथा नं० ३८६ |
| 7. गाथा नं० २३२ | 20. भाष्य गाथा १७, ८२ |
| 8. गाथा नं० २३४ | 21. गाथा ३७६ |
| 9. गाथा नं० २५२ | 22. गा० ३८१ |
| 10. गाथा नं० २५४ | 23. गा० ३०७ |
| 11. गाथा नं० २५५ | 24. गा० ३०८ |
| 12. गाथा नं० २९९ | 25. गा० ३०५ |
| 13. गाथा नं० ३२५ | 26. गा० ११० |
| 14. गाथा नं० ३२९ | |

आवश्यकनिर्युक्ति, भद्रबाहुकृत, विजयदानसूरि जैन सीरीज, सूरत, वि० सं० १९३९-४१.

कल्पसूत्र

पुरुषादानीय अर्हन्त पाश्र्वं पंच विशाखा वाले थे । अर्थात् उनके पांचों कल्याणकों में विशाखा नक्षत्र आया हुआ था । जैसे (१) पाश्र्वं अरहन्त विशाखा नक्षत्र में च्युत हुए, च्युत होकर गर्भ में आये । (२) विशाखा नक्षत्र में जन्म ग्रहण किया । (३) विशाखा नक्षत्र में मुण्डित होकर घर से बाहर निकले अर्थात् उन्होंने अनगारत्व ग्रहण किया । (४) विशाखा नक्षत्र में उन्हें अनन्त, उत्तमोत्तम, व्याघातरहित, आवरणरहित, सम्पूर्ण, प्ररिपूर्ण केवलज्ञान, केवलदर्शन, उत्पन्न हुआ । (५) भगवान पाश्र्वं विशाखा नक्षत्र में ही निर्वाण को प्राप्त हुए ।¹

पुरुषादानीय अर्हत् पाश्र्वं जब श्रीम ऋतु का प्रथम मास, प्रथम पक्ष अर्थात् चैत्र मास का कृष्ण पक्ष था, उस चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन बीस सागरोपम की आयु वाले प्राणत नामक कल्प से आयुष्य पूर्ण कर दिव्य आहार, दिव्य जन्म और दिव्य शरीर छूटते ही शीघ्र च्यवन करके इसी जम्बूद्वीप के भारतवर्ष की वाराणसी नगरी में अश्वसेन राजा का रानी वामादेवी की कुक्षि में, जब रात्रि का पूर्वभाग समाप्त हो रहा था और पिछला भाग प्रारम्भ होने जा रहा था, उस सन्धिवेला में—मध्यरात्रि में विशाखा नक्षत्र का योग होते ही गर्भ रूप में उत्पन्न हुए ।²

पुरुषादानीय अर्हत् पाश्र्वं तीन ज्ञान से युक्त थे । 'मैं कहाँ से च्युत होऊँगा' यह जानते थे । 'च्युत होते हुए नहीं जानते थे' और 'च्युत हो गया हूँ' जानते थे ।³

हेमन्त ऋतु का द्वितीय मास, तृतीय पक्ष, अर्थात् पौष मास के कृष्ण पक्ष की दशमी के दिन, नौ माह पूर्ण होने पर और साठे सात रात—1दन व्यतीत होने पर रात्रि का पूर्व भाग समाप्त होने जा रहा था और पिछला भाग प्रारम्भ होने जा रहा था, उस सन्धि-वेला में अर्थात् मध्यरात्रि में विशाखा नक्षत्र का योग होते ही, आरोग्य वाली माता ने आरोग्यपूर्वक पुरुषादानीय अर्हत् पाश्र्वं नामक पुत्र को जन्म दिया ।

जिस रात्रि को पुरुषादानीय अर्हत् पाश्र्वं ने जन्म ग्रहण किया, उस रात्रि को बहुत से देव और देवियाँ जन्म कल्याणक मनाने के लिए आईं, जिससे वह रात्रि प्रकाशमान हो गई और देव-देवियों के वार्तालाप से शब्दायमान भी हो गई । माता-पिता ने कुमार का नाम पाश्र्वं रखा ।⁴

पुरुषादानीय अर्हत् पाश्र्वं दक्ष थे, दक्ष प्रतिज्ञा वाले थे, उत्तम रूप वाले, सर्व गुणों से युक्त भद्र व विनीत थे । वे तीस वर्ष तक गृहवास में रहे । उसके पश्चात् अपनी परम्परा का पालन करते हुए लोकांतिक देवों ने आकर इष्टवाणी के द्वारा इस प्रकार कहा—
“हे नन्द (आनन्दकारी) तुम्हारी जय हो, विजय हो ! हे भद्र ! तुम्हारी जय हो, विजय हो ” ।⁵

1. सू० १४८
2. सूत्र० १४९
3. सूत्र० १५०

4. सूत्र० १५१
5. सूत्र० १५२

पुरुषादानीय अर्हत् पार्वी को माननीय गृहस्थ-धर्म से पहले भी उत्तम आभोगिकज्ञान (अवधिज्ञान) था। अभिनिष्क्रमण के पूर्व वार्षिक दान देकर वे हेमन्त ऋतु के द्वितीय मास, तृतीय पक्ष, अर्थात् पोष मास के कृष्ण पक्ष की ग्यारस के दिन, पूर्व भाग के समय (चढ़ते हुए प्रहर में) विशाला शिविका में बैठकर देव, मानव और असुरों के विराट समूह के साथ वाराणसी नगरी के मध्य में होकर निकलते हैं। निकल कर जिस ओर आश्रमपद नामक उद्यान है, जहाँ पर अशोक का उत्तम वृक्ष है, उसके सन्निकट जाते हैं। सन्निकट जाकर के शिविका को खड़ी रखवाते हैं। शिविका खड़ी रखवाकर शिविका से नीचे उतरते हैं। नीचे उतर कर, अपने ही हाथों से आभूषण, मालाएँ और अलंकार उतारते हैं। अलंकार उतारकर, स्वयं के हाथ से पंच-मुष्ठी लोच करते हैं। लोच करके निर्जल अष्टम भक्त करते हैं। विशाखा नक्षत्र का योग आते ही, एक देवदूष्य वस्त्र को लेकर दूसरे तीन सौ पुरुषों के साथ मुंडित होकर गृहवास से निकलकर अनगार अवस्था को स्वीकार करते हैं।¹

पुरुषादानीय अर्हत् पार्वी तेरासी (८३) दिनों तक नित्य सतत शरीर की ओर से लक्ष्य की व्युत्सर्ग किए हुए थे। अर्थात् उन्होंने शरीर का ख्याल छोड़ दिया था। इस कारण अनगार दशा में उन्हें जो कोई भी उपसर्ग हुए, चाहे वे दैविक थे, मानवीय थे, या पशु-पक्षियों की ओर से उत्पन्न हुए थे, उन उपसर्गों को वे निर्भय रूप से सभ्य प्रकार से सहन करते थे, तनिक मात्र भी क्रोध नहीं करते, उपसर्गों की ओर उनकी सामर्थ्य युक्त तितिक्षा वृत्ति रहती और वे शरीर को पूर्ण अचल और दृढ़ रखकर उपसर्गों को सहन करते थे।²

उसके पश्चात् भगवान पार्वी अनगार हुए, यावत् इर्यासमिति से युक्त हुए और इस प्रकार आत्मा को भावित करते-करते तेरासी (८३) रात्रि दिन व्यतीत हो गये। चौरासीवाँ दिन चल रहा था। गीष्म ऋतु का प्रथम मास, प्रथम पक्ष अर्थात् चैत्र मास का कृष्ण पक्ष आया, उस चैत्र मास की चतुर्थी को पूर्वाह्न में आंबले (धातकी) के वृक्ष के नीचे षष्ठ तप किये हुए, शुक्ल ध्यान में लीन थे। तब विशाखा नक्षत्र का योग आया, उन्हें उत्तमोत्तम केवलज्ञान, केवल दर्शन उत्पन्न हुआ। यावत् वे सम्पूर्ण लोकालोक के भावों को देखते हुए विचरने लगे।³

शिष्य संपदा : पुरुषादानीय अर्हत् पार्वी के आठ गणधर थे। वे इस प्रकार हैं— (१) शुभ (२) अज्जघोष-आर्यघोष (३) वसिष्ठ (४) ब्रह्मचारी (५) सोम (६) श्रीधर (७) वीरभद्र और (८) यश।⁴

पुरुषादानीय अर्हत् पार्वी के संघ में अज्जदिण्ण (आर्यदत्त) आदि सोलह हजार साधुओं की उत्कृष्ट श्रमण-सम्पदा थी। पुरुषादानीय अर्हत् पार्वी के समुदाय में पुष्पचूला आदि अड़तीस हजार आर्यिकाओं की उत्कृष्ट आर्यिका सम्पदा थी।

1. सू० १५३

2. सू० १५४

3. सू० १५५

4. सू० १५६

पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के संघ में सुनन्द आदि एक लाख चौसठ हजार श्रमणोपासकों की उत्कृष्ट श्रमणोपासक संपदा थी। पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के समुदाय में सुनन्दा आदि तीन लाख और सत्ताईस हजार श्रमणोपासिकाओं की उत्कृष्ट श्रमणोपासिकासम्पदा थी।

पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के समुदाय में साढ़े तीन सौ जिन नहीं, किन्तु जिन के सदृश सर्वाक्षर संयोगों को जानने वाले यावत् चौदहपूर्वधारियों की सम्पदा थी। पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के समुदाय में चौदह सौ अवधिज्ञानियों की सम्पदा थी। पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के समुदाय में एक हजार केवलज्ञानियों की सम्पदा थी। ग्यारहसौ वैक्रिय लब्धि वालों की तथा छह सौ ऋजुमति ज्ञान वालों की सम्पदा थी। मंगवान पार्श्वनाथ के एक हजार श्रमण सिद्ध हुए, तथा उनकी दो हजार आर्थिकाएँ सिद्ध हुईं। पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के संघ में साढ़े सात सौ विपुलमतियों की (विपुलमति मनःपर्यव ज्ञान वालों की), छह सौ वादियों की और बारहसौ अनुत्तरोपपातिकों की अर्थात् अनुत्तर विमान में जाने वालों की संपदा थी।¹

पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के समय में अन्तकृतों की भूमि अर्थात् सर्व दुःखों का अन्त करने वालों की भूमि दो प्रकार की थी। जैसे कि एक तो युग-अंतकृत भूमि, और दूसरी पर्याय-अन्तकृत भूमि। यावत् अर्हत् पार्श्व से चतुर्थ युगपुरुष तक युगान्तकृत भूमि थी अर्थात् चतुर्थ पुरुष तक मुक्ति मार्ग चला था। अर्हत् पार्श्व का केवलीपर्याय तीन वर्ष का होने पर अर्थात् उनको केवलज्ञान हुए तीन वर्ष व्यतीत होने पर किसी साधक ने मुक्ति प्राप्त की। अर्थात् मुक्तिमार्ग प्रारम्भ हुआ। वह उनके समय की पर्यायान्तकृतभूमि हुई।²

पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व तीस वर्ष तक गृहवास में रह करके, तैरासी (८३) रात्रि-दिन छद्मस्थ पर्याय में रह करके, पूर्ण नहीं, किन्तु कुछ कम सत्तर (७०) वर्ष तक केवली-पर्याय में रह करके, इस प्रकार पूर्ण सत्तर वर्ष तक श्रमणपर्याय का पालन करके, कुल सौ वर्ष तक अपनी सम्पूर्ण आयु भोग कर वेदनीय कर्म, आयुष्यकर्म, नाम कर्म और गोत्र कर्म के क्षीण होने पर दुष्म-सुष्म नामक अवसर्पिणी काल के बहुत व्यतीत हो जाने पर, वर्षाश्रुत का प्रथम मास, द्वितीय पक्ष अर्थात् जब श्रावण मास का शुक्ल पक्ष आया, तब श्रावण शुक्ला अष्टमी के दिन सम्मेतशिखर पर्वत पर अपने सहित चौतीस पुरुषों के साथ (१ पार्श्वनाथ और दूसरे तैतीस श्रमण इस प्रकार कुल ३४) मासिक भक्त का अनशन कर पूर्वाह्न के समय, विशाखा नक्षत्र का योग आने पर दोनों हाथ लम्बे किये हुए इस प्रकार ध्यान मुद्रा में अवस्थित रह कर काल धर्म को प्राप्त हुए, यावत् सर्व दुःखों से मुक्त हुए।³

पुरिसादानीय अर्हत् पार्श्व को काल धर्म प्राप्त हुए, यावत् सर्व दुःखों से पूर्णतया मुक्त हुए बारहसौ वर्ष व्यतीत हो गये और यह तेरह सौ वर्ष का समय चल रहा है।⁴

1. सू० १५७

2. सू० १५८

3. सू० १५९

4. सू० १६०

— कल्पसूत्र, सं० श्री देवेन्द्रमुनिशास्त्री, सिवाना, १९६८

आगमों में पार्श्व :

जैन साहित्य के विविध ग्रन्थों में पार्श्व भगवान के विषय में जो कथा अथवा तत्सम्बन्धी सामग्री प्राप्त होती है वह कथा अथवा सामग्री उसी रूप में जैन धर्म के मूलस्रोत आगम-ग्रन्थों में अप्राप्य है। आगम के परवर्ती ग्रन्थ निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका एवं इनके आधार पर लिखे गये स्वतन्त्र ग्रन्थों की मौलिकता आगम जितनी नहीं है क्योंकि उनका आधार आगम होते हुए भी उनमें कई नयी बातों का समावेश किया गया है।

वैदिक साहित्य में वेद और इस्लाम साहित्य में कुरान शरीफ की तरह जैन साहित्य में आगम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आगम क्या है ? तीर्थंकर के उपदेश को अर्थागम कहते हैं और उसको जो उनके साक्षात् शिष्य गणधरों के द्वारा ग्रन्थरूप में प्रस्तुत किया जाता है उसे सूत्रागम कहा जाता है। वीतराग तीर्थंकर के उपदेशरूप ये आगम प्रमाण है। विद्यमान जैन आगम २४वें जैन तीर्थंकर महावीर के उपदेश समझे जाते हैं लेकिन महावीर स्वयं कहते हैं कि उनके उपदेश पूर्व तीर्थंकरों पर आधारित है। महावीर के पूर्वकाल में पूर्वसाहित्य विद्यमान था और भगवान पार्श्व के सभी गणधार पूर्वों के शाता (= पूर्वधर) थे।

मूल आगमों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि वहाँ पार्श्व से सम्बन्धित बहुत ही थोड़ी सामग्री प्राप्त होती है जो उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्रदान कर सकती है। इसके अलावा वहाँ उनकी शिष्य-सम्पदा एवं शिष्या-सम्पदा के विषय में भी मात्र गिनती ही कराई गई है। महावीर के संघ में जुड़ने वाले छः पार्श्वार्थीयों का नाम से उल्लेख आया है पर किसी भी पार्श्वार्थीय की जीवन-कथा हम जानने में असमर्थ है। महावीर के संघ में जो पार्श्वार्थीय जुड़े नहीं थे ऐसे पार्श्वार्थीयों की संख्या ५१०, आगम में मिलती है। इनमें से ५०३ साधु थे। ये साधु पूर्वावस्था में कौन थे—इस विषय में आगम मौन है। मात्र दो साधुओं के गृहस्थजीवन के विषय में लिखा है। उनमें से एक चंपा का राजा था और दूसरा उसका मंत्री था।

पाँच श्रमणोपासकों के जीवनवृत्त प्राप्त होते हैं उनमें से चार क्षत्रिय थे और एक शूद्र था। और दो क्षत्रिय वर्ण वाली श्रमणोपासिकाओं का उल्लेख मिलता है।

इसके अतिरिक्त पार्श्व के पूर्वभवों का मूल आगमों में कहीं भी वर्णन नहीं आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती साहित्य में पार्श्व के विषय में पूर्वपरम्परानुसार प्रचलित तर्कों को जोड़ कर, कथा को पूर्वभवों की कथा से मंडित कर मनोहारी बनाने की चेष्टा की गई है। वस्तुतः पार्श्व के विषय में जो भी सामग्री हम सत्य मान सकते हैं वह स्रोत है आगमों का और इसी क्रमानुसार हम पार्श्व की कथा का शनैः शनैः होता विकास दृष्टिगत करेंगे अर्थात् देखेंगे कि पार्श्व के विषय में प्राप्य समस्त सामग्री में से कौन सी सामग्री मूल आगमों में है और कौन सी सामग्री बाद में टीकाकारों द्वारा जोड़ दी गई है।

प्राचीनतम, प्राचीनतर एवं प्राचीन इस दृष्टि से आगमों का कालक्रम निम्नानुसार है :

- | | |
|------------------------|-----------------------|
| (१) आचाराङ्ग | (७) निरयावलि |
| (२) सूत्रकृताङ्ग | (८) तित्थोगाली |
| (३) व्याख्याप्रज्ञप्ति | (९) स्थानाङ्ग |
| (४) उत्तराध्ययन | (१०) समवायाङ्ग |
| (५) ज्ञाताधर्मकथा | (११) आवश्यकनिर्युक्ति |
| (६) राजप्रश्नीय | (१२) कल्पसूत्र |

आगमों के अनुसार हम पार्व की कथा पर इस प्रकार दृष्टिपात कर सकते हैं :

श्रीपार्व भगवान प्राणत कल्प से च्युत हुए थे। पार्व के पाँच कल्याणक विशाखा नक्षत्र में हुए थे (च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण)। वे विशुद्ध क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुए थे। उनका गोत्र काश्यप था। उनका जन्म वाराणसी में हुआ था। उनके पिता राजा अश्वसेन एवं माता वामादेवी थीं। वे राजकुमार थे। उनका वर्ण प्रियांगु पुष्प के समान था। उनका शरीर नौ हाथ ऊँचा था। उनकी माता जब गर्भवती थी तब उनके पार्व (पास में से) से साँप गुजरा था और गर्भ के प्रभाव से वे रात्रि के अँधेरे में भी साँप को देख सकी थीं अतः उन्होंने पुत्रोत्पत्ति पर पुत्र का नाम पार्व ही रखा था।

तीस वर्ष की अवस्था में पार्व ने दीक्षा ली थी और सत्तर वर्ष तक दीक्षाव्रत का पालन किया था। पार्व पूर्वाह्न में दीक्षित हुए थे। उन्होंने प्रथम दीक्षा आश्रमपद नामक उद्यान में ली थी। पार्व ने प्रथम भिक्षा कूपकट नामक ग्राम में ली थी एवं प्रथम भिक्षा देने वाले व्यक्ति का नाम 'वन्य' था।

मगध और राजग्रह नामक नगरों में प्रायः उनका विहार रहा था। अनार्यभूमि में भी पार्व ने विचरण किया था। चैत्र मास की चतुर्थी, विशाखा नक्षत्र के योग में, आश्रमपद में ही पार्व को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।¹

पार्व जब पैदा हुए थे तब वे तीनजानी थे और दीक्षित हुए उस समय वे चार प्रकार के ज्ञानों से युक्त थे (मति, श्रुति, अवधि एवं मनःपर्यय)। पार्व ने तीन दिन के उपवास के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की थी। पार्व ने ३०० व्यक्तियों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी और मृत्यु के समय उनके साथ तेतीस व्यक्ति थे। पार्व का स्वर्गवास सम्मत्शिखर पर हुआ था। उस समय वे १०० वर्ष के थे।

जिस समय भरतक्षेत्र में पार्व तीर्थंकर थे उसी समय ऐरावत क्षेत्र में अग्निदत्त नामक तीर्थंकर विद्यमान थे। दोनों का निर्वाण विशाखा नक्षत्र में, पूर्व रात्रि के समय में, एक ही समय में हुआ था। अरिष्टनेमि (२२वें जैन तीर्थंकर) और पार्व के मध्य ब्रह्म नामक चक्रवर्ति हुए थे।

1. आवश्यकनिर्युक्ति गा० २५२

पाश्र्व^० को आर्यदिन्न नामक प्रथम गणधर था और पुष्पचूला आर्या प्रमुख शिष्या थी ।¹ प्रसेनजित् नामक राजा उनका भक्त था ।² पाश्र्व^० अरहन्त वज्ररिषमनाराचसंघयन वाले और समचतुरस्र संस्थान वाले थे ।³

पाश्र्व^० की सोलह हजार साधुओं की उत्कृष्ट श्रमणसम्पदा तथा अड़तिस हजार साध्वीयों का उत्कृष्ट साधवा सम्पदा थी । पाश्र्व^० की साठे तीन सौ 'चौद-पूर्वीनी' सम्पदा थी । देव, मनुष्य और असुर लोक के विषय के वाद में पराजय ना प्राप्त करे, ऐसी उनकी छः सौ वादियों की उत्कृष्ट सम्पदा थी । पाश्र्व^० के एक हजार जिन थे । उनके अग्यारसौ वैक्रियलब्धि वाले साधु थे । उनकी तीन लाख, सत्ताइस हजार उत्कृष्ट श्राविकाओं की संपदा थी । उनके आठ गण व आठ गणधर थे । गणधरों के नाम-शुभ, शुभवोष, वसिष्ठ, ब्रह्मचारी, सोम, श्रीधर, वीरभद्र और यश थे । अंगती नामक गाथावती स्व^० भूता नामक वृद्धकन्या पाश्र्व^० का उपदेश सुन कर प्रव्रजित हुई थी ।

भगवान महावीर के संघ में जुड़ जाने वाले पार्श्वपत्थियों का उल्लेख

भगवान महावीर के संघ में प्रवेश करने वाले कुछ पार्श्वपत्थियों का उल्लेख आगमों में आया है । उत्तराख्ययनसूत्र के तेइसवें अध्याय के अनुसार यह ज्ञात होता है कि महावीर के समय से पूर्व के श्रमण ऋजु एवं प्रज्ञ थे⁴ अतएव श्रीपाश्र्व^०नाथ भगवान ने आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर होने वाले श्रमणों के लिए मात्र चार नियमोपनियम बनाये । तत्पश्चात् जैसे जैसे समय व्यतीत होता गया वैसे श्रमणों में ऋजुता के स्थान पर वक्रता तथा प्रज्ञा के स्थान पर जड़ता बढ़ती गई ।⁵ परिणामस्वरूप पाश्र्व^० की परंपरा में दीक्षित श्रमणों के आचार में शिथिलता दृष्टिगोचर होने लगी । अतः महावीर स्वामी ने अपने शासनकाल में इस शिथिलता को दूर करने हेतु चार व्रतों की जगह पाँच व्रतों⁶ को लेने की आवश्यकता समझाई तथा अनेकों नियमोपनियम बनाये । इसके बाद महावीर के शासन काल में जितने संयम निर्वाह रूपा ध्येय वाले पार्श्वपत्थीय थे उन्होंने चार व्रत की जगह पाँच व्रत स्वीकार किये । तदुपरान्त प्रायः संध्या प्रतिक्रमण करना स्वीकार करने के पश्चात् ही वे महावीर के संघ में प्रविष्ट हो सके थे ।

महावीर के संघ में प्रवेश प्राप्त पार्श्वपत्थियों की संख्या संभवतः अधिक होगी पर आगमों में मात्र छः पार्श्वपत्थियों का वर्णन, संक्षिप्त रूप से मिलता है जिसके द्वारा उनकी

1. तिस्थोगाली-गाथा १० व ११
2. तिस्थोगाली गाथा १२
3. स्थानाङ्गसूत्र ६९० ।

4. उत्त० २३
5. वही
6. वही

जीवनी के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हो पाता है । कुछ स्थानों पर पार्श्वपत्नीयों के लिए 'थेरो' कह कर ही काम चलाया गया है । ¹

उन पार्श्वपत्नीयों के नाम निम्नतः हैं -

- (१) कालासवेसियपुत्त - (भग० १ - ९)
- (२) केसी - (उत्त० २३ राय० ५३ आदि)
- (३) उदकपेढालपुत्त - (सूय० २. ७.)
- (४) स्थविरो (२) - (भग०-५-९)^२
- (५) गानेय - (भग० ९ - ३२)

१. श्री दलसुखभाई मालवणियाजी ने उत्थान पत्रिका के महावीर अंक में लिखे अपने लेख में 'थेरो' से दो ही स्थविरो की गिनती कराई है । उसी अनुसार यहाँ उल्लेख किया गया है ।

२. स्थविरो के नाम आगम में नहीं दिये गये हैं ।

पार्श्वपत्नीय और पार्श्व संघ, पं० श्री दलसुखभाई मालवाणया, उत्थान पत्रिका, महावीर अंक बम्बई, १९३१ ।

पुराणा एवं मुख्य पुराणोत्तर ग्रन्थों में पार्श्वनाथ के पूर्व जन्मों का तुलनात्मक चित्रण

प्रथम भव

| ग्रन्थ | ग्रन्थकार | समय | भाषा | परम्परा | पार्श्वके।पिता का नाम | माता | पार्श्वका नाम | कमठ का नाम | पार्श्व की मृत्यु का कारण |
|--------------------------------|-----------------|----------------|---------|------------|-----------------------|--------|---------------|------------|---------------------------|
| (१) चण्डवन्तमहापुराणचरितम् | शीलान्ध्याचार्य | १२५ वि. सं. | प्राकृत | श्वेताम्बर | विश्वभूति | अणुधरी | मरुभूति | कमठ | कमठ के क्रोध से |
| (२) उत्तरपुराण | गुणभद्र | १५४ वि. सं. | संस्कृत | दिगम्बर | ” | अनुधरी | ” | ” | ” |
| (३) महापुराण | पुण्ड्रन्त | १०२१ वि. सं. | अपभ्रंश | दिगम्बर | ” | ” | ” | ” | ” |
| (४) श्रीपार्श्वनाथचरितम् | वादिराजसूरि | १०८२ वि. सं. | संस्कृत | दिगम्बर | ” | ” | ” | ” | ” |
| (५) पासचरियं | कविबर रघू | वि. ११ वीं सदी | अपभ्रंश | दिगम्बर | ” | ” | ” | ” | ” |
| (६) पासणाहचरिड | पद्मकीर्ति | ११३४ वि. सं. | अपभ्रंश | दिगम्बर | ” | ” | ” | ” | ” |
| (७) तिरिपासनाहचरियं | देवप्रभसूरि | वि. १२ वीं सदी | प्राकृत | श्वेताम्बर | ” | ” | ” | ” | ” |
| (८) त्रिषष्ठिशालाकापुरुषचरितम् | हेमचन्द्राचार्य | वि. १३ वीं सदी | संस्कृत | श्वेताम्बर | ” | ” | ” | ” | ” |
| (९) पार्श्वनाथचरितम् | पद्मसुन्दरसूरि | १६२५ वि. सं. | संस्कृत | श्वेताम्बर | ” | अणुधरी | ” | ” | ” |

द्वितीय मव

तृतीय भव

| ग्रन्थ | योनि जहाँ पार्श्व का जीव उपन्न हुआ | कोमें जहाँ कमक का जीव उल्पन्न हुआ | पार्श्व का जीव जहाँ उत्पन्न हुआ | कमठ का जीव किस नरक में गया |
|-----------------------------|------------------------------------|-----------------------------------|---------------------------------|----------------------------|
| (१) चउत्पन्नमहापुरिसचरिय | हस्ती | कुक्कुट सर्प | सहस्रार | पंचम नरक |
| (२) उत्तरपुराण | हस्ती वज्रघोष | " | सहस्रार कल्प | धूमप्रभ नरक |
| (३) महापुराण | " | " | " | " |
| (४) श्रीपार्श्वनाथचरितम् | हस्ती पविघोष | सर्प | महाशुक | पांचवाँ नरक |
| (५) पासचरियं | करी पविघोष | सर्प कुक्कुट | सहस्रार कल्प | धूमप्रभ नरक |
| (६) पासनाहवरिउ | हस्ती अशनिघोष | कुक्कुट सर्प | " | " |
| (७) सिरिपासनाहचरियं | करी | " | " | " |
| (८) त्रिषण्डिशलाकापुरुषचरित | " | " | " | पांचवाँ नरक |
| (९) पार्श्वनाथचरितम् | गज, करी | कुक्कुट सर्प | " | धूमप्रभ |

चतुर्थ भव

पंचम भव

| ग्रन्थ | पिता का नाम | माता का नाम | पार्वी का नाम | कमठ जिस योनि में उत्पन्न हुआ | पार्वी क मृत्युका कारण | पार्वी का जीव जिस स्वर्ग में गया | कमठ का जीव जिस नरक में गया |
|-----------------------------|--------------|--------------|---------------|------------------------------|------------------------|----------------------------------|----------------------------|
| (१) चउत्पन्नमहापुरिसचरिय | विद्युत्गति | कनकतिलका | किरणवेग | महा सर्प | सर्प के काटने से | अभ्युत कल्प | धूमप्रभ नाम की पांचवी नरक |
| (२) उत्तरपुराण | विद्युत् गति | विद्युन्माता | रात्मवेग | अजगर | अजगर के नगलनेसे | अभ्युत कल्प | छठा नरक |
| (३) महापुराण | विद्युत्वेग | तडिन्माता | " | " | " | " | तम प्रभ नरक |
| (४) श्रीपार्वीनाथचरितम् | " | " | " | भुजंग | भुजंग के काटने से | " | " |
| (५) पासचरियं | अशनिगति | तडित्वेग । | अशनिवेग | अजगर | अजगर के निगलने से | " | पांचवा नरक |
| (६) पासणाहचरिउ | विद्युत्गति | मदनावती | किरणवेग | " | " | " | रौद्र नरक |
| (७) सिरिपासनाहचरियं | विद्युत्गति | तिलकावती | " | सर्प महोरग | भुजंग के काटने से | " | धूमप्रभ नरक |
| (८) त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित | " | कनकतिलका | " | सर्प महाहि | " | द्वादशकल्प | तमप्रभ नरक |
| (९) पार्वीनाथचरितम् | " | " | " | विषधर | विषधर के काटने से | अभ्युत कल्प | पंचम नरक |

षष्ठ भव

सप्तम भव

| ग्रन्थ | पिता का नाम | माता का नाम | पार्श्व का नाम | कर्मठ का जीव जिस योनि में उरपन्न आ | पार्श्व की मृत्यु का कारण | पार्श्व का जीव जिस स्वर्ग में गया | कर्मठ का जीव जिस नरक में गया |
|----------------------------|-------------|-------------|-----------------------------|------------------------------------|---------------------------|-----------------------------------|------------------------------|
| (१) चउपल्लनमहापुरिसचरिय | वज्रवीर्य | लक्ष्मीमती | कहीं वज्रनाथ व कहीं वज्रनाम | कुरंगक नामक भील | भील के बाण से | शैवेयक | शैव नाम की नारकी |
| (२) उत्तरपुराण | " | विजया | वज्रनीमि चक्रवती | भील कुरंगक | भील के बाण से | सुभद्रनामक शैवेयक | नरक |
| (३) महापुराण | " | " | वज्रबाहु चक्रवती | " | " | मध्यम शैवेयक | " |
| (४) श्रीपार्श्वनाथचरितम् | " | " | वज्रनाम चक्रवती | " | " | सुभद्र शैवेयक | सतम नरक |
| (५) पासचरियं | " | विजया | वज्रनाम चक्रवती | शबर कुरंगक | शबर के बाण से | शैवेयक | अतितम नरक |
| (६) पासणाहचरिउ | " | लक्ष्मीमति | वज्रयुध | " | " | " | नरक |
| (७) त्रिपुरासतहचरियं | " | " | वज्रनाम | " | " | " | सतम नरक |
| (८) त्रिषष्ठिशलाकापुरषचरित | " | " | " | " | " | मध्यम शैवेयक | " |
| (९) पार्श्वनाथचरितम् | " | " | " | किरात | किरात के बाण से | शैवेयक | नरक |

अष्टम भव

नवम भव

| ग्रन्थ | पिता का नाम | माता का नाम | पार्वी का नाम | कमठ जिस योनि में उरपन्न हुआ | पार्वी के सिंह के खाने से | पार्वी का जिस स्वर्ग में गया | कमठ का जीव जिस नरक में गया |
|----------------------------|-------------|-------------|----------------------|-----------------------------|---------------------------|------------------------------|----------------------------|
| (१) चउपन्नमहापुरिसचरिय | कुशिलबाहु | सुदर्शना | कनकरथ | सिंह | सिंह के खाने से | प्राणत कल्प | कमठ का जीव जिस नरक में गया |
| (२) उत्तरपुराण | वज्रबाहु | प्रभङ्गी | आनंद मण्डलेश्वर | सिंह | सिंह के खाने से | कल्प | पंकप्रभा नाम की नरक |
| (३) महापुराण | " | " | " | — | — | " | नरक |
| (४) श्रीपार्वीनाथचरितम् | " | " | " | सिंह | सिंह के खाने से | आनत | " |
| (५) पासचरियं | " | " | आनन्द चक्रवर्ती | " | " | चौदहवां कल्प | धूमप्रभ नरक |
| (६) पासणाहचरिउ | " | " | कनकप्रभ चक्रवर्ती | " | " | वैज्यंत | रौद्र नरक |
| (७) सिरिपासनाहचरियं | कुलिशबाहु | " | कनकबाहु चक्रवर्ती | " | " | प्राणत | पंकप्रभा नरक |
| (८) त्रिषष्ठिशलाकापुरषचरित | " | सुदर्शना | सुवर्णबाहु चक्रवर्ती | " | " | दशम कल्प | चतुर्थ नरक |
| (९) पार्वीनाथचरितम् | वज्रबाहु | सुदर्शना | काकप्रभ | सिंहयोनि | सिंह के खाने से | प्राणत कल्प | — |

आगमों से लेकर विभिन्न पुराण ग्रन्थों में पार्वी का तीर्थकर भव

| ग्रन्थ | पार्वी की माता का नाम | पार्वी के पिता का नाम | पार्वी किस वंश के थे | पार्वी का गोत्र क्या था | पार्वी का जन्म स्थान |
|-------------------------------------|-----------------------|------------------------------|----------------------|-------------------------|----------------------|
| समवायंगसूत्र | वामा | आससेण | — | काश्यप गोत्र | वाराणसी |
| आवश्यकनिर्मुक्ति | वम्मा | — | विशुद्ध क्षत्रिय वंश | काश्यप गोत्र | ” |
| कल्पसूत्र | वम्मादेवी | आससेण | इक्ष्वाकुवंश | काश्यप गोत्र | ” |
| तिलोत्पण्णत्ति | वर्मिला | अश्वसेन | उग्रवंश | ” | वाराणसी |
| शीलाकार्य का चउप्यन्महापुरिसचरिय | रानी वामा | राजा अश्वसेन | इक्ष्वाकुवंश | ” | वाराणसी |
| गुणभद्र का उत्तर पुराण | ब्राह्मी | विश्वसेन | उग्रवंश | काश्यप गोत्र | ” |
| पुण्ड्रित का महापुराण | ” | ” | उग्रवंशीय | ” | ” |
| त्रिषुधिशालाकापुरुषचरित | वामादेवी | वाराणसी नगरी के राजा अश्वसेन | इक्ष्वाकुवंशीय | ” | ” |
| पद्मसुन्दरसूरि का भीपार्वीनाथचरितम् | वामा | अश्वसेन | ” | ” | ” |

| ग्रन्थ | जन्म नक्षत्र | जन्म तिथि | पार्ष्व के नाम का रहस्य | पार्ष्व विवाहित अथवा अविवाहित | दीक्षा काल (कब दीक्षा ली) | केवलज्ञान प्राप्ति की तिथि | पार्ष्व का निर्वाण |
|-------------------------------|----------------|--|--|---|---|---|--|
| समवायांगसूत्र | विशाखा नक्षत्र | | | विवाह का प्रसंग नहीं आया है। कुमारवस्थ में दीक्षा ली थी। | ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी। | — | — |
| आयश्वकनिर्मुक्ति | " | | पार्ष्व की माता जब गर्भिणी थी तब उन्होंने पार्ष्व (पास) में सर्प को देखा इससे पुत्र का नाम उन्होंने पार्ष्व रखा। | स्त्री और अभिवेक के बिना कुमारवस्था में प्रव्रज्या ली थी। | ३० वर्ष की वय में तीन दिन के रूपवास के प्रसवात् ३०० शिष्यों के साथ आश्रम पद नामक उद्यान में दीक्षा ली थी। | चैत्र मास की चतुर्थी विशाखा नक्षत्र के योग में पार्ष्व को केवलज्ञान हुआ था। | — |
| कस्यसूत्र | " | पौष कृष्णा दशमी की मध्यरात्रि | " | " | ३० वर्ष की आयु में पौष कृष्णा | चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन, पूर्वाह्न में आँवले के पेड़ के नीचे शुक्ल ध्यान में लीन थे तब विशाखा नक्षत्र के योग में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। | श्रावण शुक्ला अष्टमी के दिन, विशाखा नक्षत्र में समे तद्विख पर परिनिर्वाण |
| तिलोत्पण्णति | " | पौष कृष्णा एकादशी | " | प्रसंग नहीं प्राप्त है | ३० वर्ष की आयु तक कुमारकाल रहा। माघ शुक्ला एकादशी को पूर्वाह्न में विशाखा नक्षत्र में दीक्षा ली। | दीक्षा ग्रहण करने के चार मास पश्चात्, चैत्र कृष्णा चतुर्थी को पूर्वाह्न काल में विशाखा नक्षत्र में केवलज्ञान | सम्मेतशिवर पर, ६६ व्यक्तियों के साथ, विशाखा नक्षत्र के प्रदोष काल में। श्रावण शुक्ला सप्तमी को मोक्ष प्राप्त हुआ |
| शीलक का चउत्पन्न महापुरिसचारय | " | पौष मास की कृष्णा दशमी के दिन विशाखा नक्षत्र में चन्द्र का योग होने पर...! | गुरुवर्ग ने पार्ष्व नाम की स्थापना की। | प्रसेनजित् राजा ने प्रभावती नामक अपनी पुत्री पार्ष्व को दी। | पौष वदि एकादशी के दिन, आषाढ नक्षत्र में दीक्षा अंगीकार की। | चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में चन्द्र का योग हुआ तब शुक्ल ध्यानवस्था में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। | श्रावण मास के शुक्ल पक्ष में, अष्टमी के दिन, समेत शिवर पर निर्वाण हुआ। |

१. आवश्यक नियुक्ति की गाथाओं के अनुसार पार्व अविवाहित रहे थे यह स्पष्टतः ज्ञात होता है । देखिए—

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं महिलं च वासुपुञ्जं च ।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥ २२१ ॥

रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु ।
न य इत्थिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइया ॥२२२॥

आवश्यकनियुक्ति, आगमोदयसमिति, बम्बई, १९२०, पत्रांक १३६ ।

उपयुक्त उद्धरण के अनुसार यह ज्ञात होता है कि पार्व ने स्त्री और अभिषेक के बिना कुमारावस्था में प्रव्रज्या ली । इसके विपरीत मलयगिरि और हरिभद्रपुर ने इन गाथाओं का अर्थ करते समय न य इत्थिआभिसेआ की जगह न य इच्छिआभिसेआ पाठ स्वीकार किया है । जिसका अर्थ निकलता है अभिषेक की इच्छा ही नहीं की और दीक्षा ले ली । विवाह अथवा स्त्री का प्रसंग उन्होंने उठाया ही नहीं है । इसके साथ ही आवश्यकवृणोकार ने इन गाथाओं की व्याख्या ही नहीं की है । देखिए—

आवश्यकनियुक्ति, मलयगिरिवृत्ति, प्रथम भाग, श्रीआगमोदयसमिति,
बम्बई, १९३२, पत्रांक २०४ ।

इसका प्रभाव हेमचन्द्राचार्य पर रहा । फलस्वरूप वासुपुञ्ज चरित्र लिखते समय उन्होंने महिल, नेमि के साथ पार्व को भी अविवाहित ही बतलाया है देखिए —

महिलनेमिः पार्व इति भाविनोपि त्रयो जिनाः ।
अकृतोद्वाहसाम्राज्याः प्रव्रजिष्यंति मुक्तये ॥ १०३ ॥

श्रीवीरश्चरमश्चार्हन्नीषद्भोग्येन कर्मणा ।
कृतोद्वाहोऽकृतराज्यः प्रव्रजिष्यति सेत्स्यति ॥ १०४ ॥

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, आगमोदयसमिति, भावनगर, वि० सं० १९६२
वासुपुञ्जचरित्र, पर्व ४, सर्ग २ ।

परन्तु श्वेताम्बर परम्परा पार्व को विवाहित मानती है अतः हेमचन्द्राचार्यने त्रिषष्टिः में ही जब पार्व का चरित्र चित्रण किया तब उन्होंने उनको विवाहित बतलाया है ।—

देखिए—पार्वनाथचरित्र, पर्व ९, सर्ग ३, पृ० २०३१, भावनगर, वि० सं० १९६४ ।

| ग्रन्थ | जन्म नक्षत्र | जन्म तिथि | पार्ष्व के नाम का रहस्य | पार्ष्व' विवाहित अथवा अविवाहित ? | दीक्षा काल (कब दीक्षा ली) | केवलज्ञान प्राप्ति की तिथि | पार्ष्व का निर्वाण |
|--|-----------------|---------------------|---|---|--|---|---|
| गुणमद्द का महापुराण | विशाखा नक्षत्र | पौषकृष्ण एकादशी | इन्द्र ने बालक का नाम पार्ष्व रखा था। | विवाह का, कुशस्थल जाने व युद्ध करने का कोई भी प्रसंग नहीं आया। | पौषकृष्ण एकादशी दिन, प्रातःकाल के समय, तीन सो राजाओं के साथ दीक्षा ली। | चैत्र कृष्ण त्रयोदशी को, पूर्वाह्न काल में केवलज्ञान प्राप्ति | श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन, प्रातःकाल में, समेद शिखर पर पार्ष्व का निर्वाण हुआ। |
| गुणदन्त का महापुराण | " | " | " | " | " | " | " |
| त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित | अनुराधा नक्षत्र | पौष मास की कृष्ण दश | कृष्ण पक्ष की रात्रि में गर्भ के प्रभाव से पार्ष्व से गुजरते सर्प का रानी ने देखा था अतः पार्ष्व नाम रखा। | कुशस्थल के राजा प्रसेनजित क पुत्री प्रभावत' से ववाह व युद्ध का प्रसंग आया है। | पौष मास की कृष्ण एकादशी को, चन्द्र के अनुराधा नक्षत्र में आने पर, अष्टम तप करके ३०० राजाओं के साथ, विशाखा नाम की शिबिका में बैठ कर, आश्रमपद में दीक्षा ली। | आश्रमपद उद्यान में, दीक्षा से ८४ दिवस पश्चात्, चैत्रमास की कृष्ण चतुर्थी चन्द्र के विशाखा नक्षत्र में आने पर, पूर्वाह्न काल में पार्ष्व को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। | विशाखा नक्षत्र में, श्रावण शुक्ला अष्टमी का, पूर्वाह्न में, समेद शिखर पर निर्वाण हुआ। |
| परमसुन्दरसिंह का श्रीपार्ष्व-नाथचरितम् | " | " | " | " | " | चैत्र कृष्ण चतुर्थी का पूर्वाह्न | चैत्र कृष्ण चतुर्थी का पूर्वाह्न |

| ग्रन्थ | पार्व की कुल आयु | पार्व के तीर्थ का अवधि | पार्व का धर्म | प्रथम शिष्य | प्रथम शिष्या |
|--|---|------------------------|-----------------------------|--|--------------------------------------|
| समवाय्यासूत्र | १०० वर्ष ३० वर्ष कुमारवस्था ७० वर्ष प्रव्रजित काल | २५० वर्ष | चातुर्याम धर्म सकेल धर्म | दिन्न (आर्यदत्त) प्रथम श्रावक सुनन्द | पुष्प चूला प्रथम श्राविका सुनन्दा |
| आवश्यकवियुक्ति | " | " | " | " | " |
| कस्मसूत्र | " | " | " | " | " |
| तिलोपपण्णति | " | " | " | प्रथम शिष्य का नाम स्वयंभू | प्रथम शिष्या सुलोकाया सुलोचना |
| शीलांक का चउत्पन्नमहा- पुरिसचरित | " | " | " | दिन्न | पुष्पचूल |
| गुणमद्र का उत्तरपुराण | " | " | " | स्वयंभू | सुलोचना |
| पुष्पदन्त का महापुराण | " | " | " | " | " |
| विद्याधिशालाकापुरुषचरित हेमचन्द्राचार्य | " | " | " | आर्य दत्त | " |
| प्रद्युम्नदर्शन नाथ | " | " | " | " | " |

पार्श्व-धरणेन्द्र : बुद्ध-मुचुलिन्द :

नाग का सम्बन्ध शिव और विष्णु के साथ प्रसिद्ध है। विष्णु की शैल्या अनन्त नाग की बनी हुई है। बालकृष्ण की वर्षा से रक्षा शेषनाग ने की थी।¹ लेकिन नाग का बुद्ध और पार्श्व के साथ जो संबंध रहा है वह तुलनीय है।²

पार्श्व-धरणेन्द्र :

दीक्षा लेने के पश्चात् विभिन्न स्थानों पर विहार करते हुए श्रीपार्श्व, एक बार, तापसों के एक आश्रम के समीप, सूर्यास्त के समय कुएँ के समीपस्थ वटवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े होते हैं। वहाँ उनके प्रथम भव का सहोदर कमठ जो इस भव में मेघमाली नामक देव होता है, पार्श्व को तपस्या करते देख, पहचान कर, उन पर सिंह, हाथी, रीछ, सर्प व विच्छु आदि छोड़ कर भाँति-भाँति के उपद्रवों से यातना पहुँचाता है। तत्पश्चात् पार्श्व को अग्नि तपस्या में लीन देख उन्हें डुबो देने के निश्चय से वह लगातार सात दिनों तक गंभीर गर्जना के साथ घनघोर वृष्टि उत्पन्न करता है। पार्श्व के नासाग्र तक पानी आ जाता है पर पार्श्व विचलित नहीं होते हैं। मेघमाली के इस उपद्रव का ज्ञान नागराज धरणेन्द्र को अपना आसन कंपित होते ही होता है। अतः वे पार्श्व की रक्षा के हेतु अपनी पटरानी पद्मावती के साथ आ उपस्थित होते हैं। नागराज धरणेन्द्र अपने सात फणों का छत्र बना कर श्रीपार्श्व की वर्षा से रक्षा करते हैं। अन्त में कमठ भी अपने दुष्कर्म को समझ पार्श्व की शरण में आता है।³

बुद्ध-मुचुलिन्द :

बोधि-प्राप्ति के पश्चात् सात दिन व्यतीत होने पर, बुद्ध भगवान अजपाल नामक वडवृक्ष से उठ कर मुचुलिन्द नामक वृक्ष की ओर गये। वहाँ मुचुलिन्द वृक्ष की जड़ में बुद्ध ने सात दिन तक एकासन रूप से बैठ कर मुक्ति के सुख का अनुभव किया।

1. श्रीमद्भागवत, Vol. II, Pub. V. Ramaswamy Sastrulu & Sons, Madras, 1937. दशमस्कन्ध, अ० ३, श्लो० ४९-५१, पृ० १२१३.
2. "The Story of the protection of Pārsva by the Nāga king really corresponds with the unmotivated story of the protection of Buddha from a storm by a nāga after enlightenment."
-The life of Buddha, E.J. Thomas, New York, 1931, p. 232.
3. (अ) Philosophies of India, Heinrich Zimmer, ed. by Joseph Campbell, New York, 1957, pages 201-202.
(ब) भगवान पार्श्व, देवेन्द्रमुनि, पृ. १००-१०२
(स) श्रीपार्श्वनाथचरित, पद्मसुन्दरसूरि, षष्ठ सर्ग, श्लो. ५३-५४।

अचानक आकाश में बादल उत्पन्न हुए और सात दिन तक लगातार मूसलाघात बरसात हुई। उस समय, उस वृक्ष में रहने वाले मुचुलिन्द नामक नागराज ने भगवान बुद्ध की घनघोर बरसात से रक्षा की। उसने भगवान के शरीर से सात बार लिपट कर उनके शरीर को पूर्णतया ढक लिया और उनके मस्तक पर मोटी फणा फैला कर स्थित रहा। इस प्रकार मुचुलिन्द नागराज ने बुद्ध भगवान का ठंडी, गर्मी, पवन, जन्तु व मच्छर आदि से बचाव किया। तथा सात दिन पश्चात् बरसात के बन्द हो जाने पर उसने अपने शरीर को भगवान के शरीर पर से उतार, माणवकसदृश (छोटे बच्चे के समान) अपनी आकृति बना भगवान की वन्दना की।¹

समानता :

भगवान बुद्ध एवं भगवान पार्श्व—इन दोनों की कथा में बड़ी ही समानता दिखलाई देती है। ध्यानावस्था की स्थिति में, मूसलाघात वृष्टि जो अवरोधक के रूप में सामने आती है उससे दोनों ही भगवानों को बचाने वाले नागराज हैं—धरणेन्द्र एवं मुचुलिन्द। वृष्टि दानों ही कथाओं में सात दिन तक लगातार चलती है। विवरण में थोड़ी सी असमानता भी है—बुद्ध के प्रकरण में वृष्टि प्रकृतिदत्त है तथा पार्श्व के विवरण में वृष्टि प्रकृतिदत्त न होकर मेघमाली देव (जो कमठ का जीव है) के द्वारा प्रेरित है। पार्श्व का शत्रु कमठ जानबूझ कर पार्श्व को यातना पहुँचाने हेतु वृष्टि उत्पन्न करता है और बाद में क्षमा-याचना भी करता है। यहाँ धरणेन्द्र वही जीव है जिसे कुमारावस्था में श्रीपार्श्व ने उसकी मृत्यु के समय नमस्कार मंत्र सुनाया था। धरणेन्द्र ऋणी है और पार्श्व की सेवा कर उन्मृण होता है। दूसरी ओर मुचुलिन्द किसी भी तरह बुद्ध से पूर्ण संबंधित नहीं है। वह बुद्ध भगवान की सेवा कर अपने लिए पुण्य संचित करता है तथा उनकी स्तुति कर, उनके उपदेश से लाभान्वित होता है।

पार्श्वनाथ—एक ऐतिहासिक पुनरवलोकन :

भूमिका :

जैन धर्म अथवा जैन साहित्य में जैन संस्कृति के उन्नायक चौबीस तीर्थंकारों को माना गया है। श्रीपार्श्व तेईसवें तीर्थंकर थे। श्रीपार्श्व का जन्म वाराणसी के इक्ष्वाकुवंश में विशाखा

1. (अ) Dictionary of Pali Proper Names, G.P. Malalasekera, Vol. II, London, 1960, p. 638.

(ब) Vinaya Pitak, Translated by Rhys Davids and Oldenberg, (Sacred Books of the East, Vol. XIII), part I, pub. Motilal Banarsidass, Delhi, 1965, p. 80.

(स) महावग्गा मिक्खु जगदीसकस्सपो, पालि पब्लीकेशन बोर्ड, बिहार, १९५६, १. ३; पृ० ५।

नक्षत्र के योग में, पौष कृष्ण एकादशी के दिन हुआ था। उनका गोत्र काश्यप था। वाराणसी के नरेश अश्वसेन उनके पिता थे और रानी वामादेवी उनकी माता थीं। वे पंचविंशतिवाले थे। उनकी ऊँचाई नौ हाथ थी। उनका वर्ण नीला या हरा था। उनका विवाह कुशास्थल के राजा प्रसेनजित् की पुत्री प्रभावती के साथ सम्पन्न हुआ था। तीस वर्ष की आयु तक वे गृहस्थाश्रम में रहे तत्पश्चात् सत्तर वर्ष तक उन्होंने श्रमणपर्याय का पालन किया। उनकी कुल आयु सौ वर्ष की थी। उनका धर्म-काल दो सौ पचास वर्ष चला। उनका निर्वाण सम्भेदाचल पर्वत के शिखर पर हुआ था।

पार्श्व का समय :

श्रीपार्श्व भगवान् महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व हुए थे। आपके समय के विषय में मतैक्य नहीं है।

दिग्बर आचार्य गुणभद्र के अनुसार श्रीपार्श्व का अस्तित्व काल ईस्वी पूर्व नौवीं शताब्दी ठहरता है।¹

जार्ज शार्पेण्टियर के मतानुसार ईसा से पूर्व आठवीं शताब्दी में पार्श्व हुए थे।²

भावश्यकनिर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति (पृ. २४१) के अनुसार भगवान् पार्श्व का अस्तित्व काल ईस्वी पूर्व दसवीं शताब्दी है।

एच. सी. राय चौधरी ने लिखा है कि जैन तीर्थंकर पार्श्व का जन्मकाल ईसा पूर्व ८७७ और निर्वाणकाल ईसा पूर्व ७७७ है।

पार्श्व के समय के विषय में जो यह मतभेद दृष्टिगोचर होता है उसका मूल कारण यह है कि किसी ने पार्श्व का निर्वाण महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व माना है; किसी ने पार्श्व के जन्म के दो सौ पचास वर्ष पश्चात् महावीर का जन्म माना है और किसी अन्य विद्वान् ने भगवान् पार्श्व के जन्म के पश्चात् दो सौ पचास वर्ष बाद भगवान् महावीर का निर्वाण माना है।

जैन साहित्य और इतिहास के प्रकाण्ड पण्डित श्री जुगलकिशोर मुख्त्यार का कथन है कि वास्तव में पार्श्वनाथ के निर्वाण से महावीर का निर्वाण ढाई सौ वर्ष पश्चात् हुआ था।³ अपने इस कथन के समर्थन में उन्होंने उत्तरपुराण का एक श्लोक उद्धृत किया है—

पार्श्वेशतीर्थसंताने पञ्चाशद्विंशताब्दके ।

तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान् ॥

— उत्तरपुराण ७४ ॥ २७९

1. उत्तरपुराण, श्रीगुणभद्राचार्य, काशी, १९५४, पृ. ७४, पृ. ४६२।
2. कल्पसूत्र, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, सिवाना, १९६८, पृ. २१।
3. 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश,'

पं. जुगलकिशोर मुख्त्यार, वीर शासन संघ, कलकत्ता, १९५६, पृ. ३१।

उपर्युक्त श्लोक का अर्थ है कि 'श्री पार्श्वनाथ तीर्थ'कर से ढाई सौ वर्ष पश्चात्, इसी समय के भीतर अपनी आयु को लिए हुए भगवान् महावीर हुए।' 'तदभ्यन्तरवर्त्यायुः' इसका द्योतक है। इसका तात्पर्य हुआ कि पार्श्वनाथ के निर्वाण से महावीर का निर्वाण ढाई सौ वर्ष बाद हुआ।

मुनिश्री नगराजजी ने अपने नवीनतम ग्रन्थ 'आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन' में सिद्ध किया है कि महावीर का निर्वाण ५२७ ई. पू. में हुआ। अतः पार्श्वनाथ का निर्वाण ७७७ ई. पू. (५२७ + २५० ई. पू.) सिद्ध हो ही जाता है।¹

श्रीपार्श्व की ऐतिहासिकता :

श्रद्धा एवं भक्तिवशात् जैनों ने किसी भी तीर्थ'कर की ऐतिहासिकता सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया। अतः परिणामस्वरूप 'जैन धर्म भगवान् महावीर से प्रारम्भ हुआ' कहा जाने लगा। महावीर से पूर्व के तेईस तीर्थ'करों को मात्र 'पौराणिक' समझ इतिहास की परिधि से बाहर कर दिया गया। जैन चुप रहे पर जर्मन के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. जैकोबी,² जिन्होंने जैन एवं बौद्ध धर्म व साहित्य का विशद अध्ययन किया था, शांत न रह सके और उन्होने इन दोनों धर्मों के परस्पर अध्ययन एवं तुलना से यह सिद्ध कर बताया कि कम से कम श्रीपार्श्व तो अवश्य ऐतिहासिक पुरुष थे। तभी से कई विद्वानों ने पार्श्व की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डाला है तथा पार्श्व की ऐतिहासिकता को सर्वविदित बनाया है।

जैन तीर्थ'करों की क्रमशः ऊँचाई और आयुष्य का जो विवरण जैन साहित्य में प्राप्त होता है तथा उन सभी तीर्थ'करों के जीवनचरित से जुड़ी हुई जो दन्तकथाएँ वहाँ प्रस्तुत हैं उन्हें पढ़ने से तीर्थ'करों की ऐतिहासिकता में विद्वान् मनीषी आलोचक जन शंका उठाते रहे हैं। विशेषकर प्रथम बाईस तीर्थ'कर-ऋषभ से लेकर नेमि तक की आयु और ऊँचाई अत्यधिक संदिग्ध है। जैन कथाकारों ने उनके आयुष्य के वर्ष हजारों और लाखों की संख्या में गिनाये हैं।³

1. तीर्थ'कर पार्श्वनाथ भक्तिगंगा, पृ. १५।

2. The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Introduction page 21.

3. तीर्थ'करों की ऊँचाई और आयुष्य जैसा कि धर्मानन्द कोसम्बी का पुस्तक 'पार्श्वनाथ का चातु'याम धर्म' में पृष्ठ संख्या २ और ३ पर बतायी गयी है :

| ऊँचाई | आयुष्य के वर्ष | सुपार्ष्व | २० | २० | २० |
|---------------------|----------------|----------------|----|----|----|
| ऋषभ ५०० धनुष्य | ८४ लाख पूर्व | चन्द्रप्रभ १५० | १० | १० | १० |
| अजित ४५० " | ७२ " " | पुष्पदन्त १०० | २ | २ | २ |
| सम्भव ४०० " | ६० " " | शीतल ९० | १ | १ | १ |
| अभिनन्दन ३५० धनुष्य | ५० " " | श्रयांस ८० | ८४ | ८४ | ८४ |
| सुमति ३०० | ४० " " | वासुगुज्य ७० | ७२ | ७२ | ७२ |
| पद्मप्रभ २५० | ३० " " | | | | |

आधुनिक विद्वान् इन्हें मानने को रैयार नहीं हैं। परन्तु अन्तिम दो तीर्थंकर पार्श्वनाथ एवं महावीर की आयु, कुमारकाल, ऊँचाई, वर्ण, तीर्थ आदि सभी बातें तार्किकता की दृष्टि से समुचित जान पड़ती हैं। भगवान पार्श्व ने सौ वर्ष की आयु तक जीवन यापन किया। उनकी ऊँचाई नौ हाथ थी। वर्ण नीला था। कुमारावस्था तीस वर्ष, तीर्थकाल दो सौ पचास वर्ष तक—इनमें कोई भी बात शंका को जन्म देने वाली नहीं है। सभी बातें इस युग के अनुसार समीचीन दृष्टिगोचर होती हैं।

श्रीपार्श्व की ऐतिहासिकता को सिद्ध करने वाले विभिन्न मत

सर्वप्रथम डॉ० हर्मन जैकोबी ने जैनागमों तथा बौद्धपिटकों के प्रमाणों द्वारा भगवान पार्श्व को एक ऐतिहासिक पुरुष प्रतिपादित किया है।¹ उन्होंने 'स्टडीज इन जैनिज्म,' खण्ड १, पृष्ठ ६ पर लिखा है "परम्परा की अवहेलना किये बिना हम महावीर को जैन धर्म का संस्थापक नहीं कह सकते। उनके पूर्व के पार्श्व (अन्तिम से पूर्व के तीर्थंकर) को संस्थापक मानना अधिक युक्तियुक्त है। पार्श्व की परम्परा के शिष्यों का उल्लेख जैन आगम ग्रन्थों में मिलता है। इससे स्पष्ट है कि पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष हैं।"² इसके अतिरिक्त उन्होंने ने सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट (जैनसूत्रात्) भाग ४५, पृष्ठ २१-२२ में भी पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध की है। उन्होंने बौद्धपिटकों का उद्धरण देते हुए लिखा है, "बुद्ध से पूर्व ही निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय यहाँ मौजूद था। तत्सम्बन्धित उद्धरण बौद्ध साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, जब कि निर्ग्रन्थ साहित्य में बुद्ध और बौद्ध धर्म का कोई उद्धरण नहीं है।"³

वस्तुतः जब बुद्ध का जन्म हुआ था, उस समय निर्ग्रन्थों के ज़ेसठ सम्प्रदाय प्रचलित थे। दीर्घनिकाय के सामञ्जस्यसुत्त, पृ० २१ के अनुसार उनमें छह सम्प्रदाय अत्यधिक प्रसिद्ध थे। उन सम्प्रदायों के आचार्य क्रमशः मकखल्लिगोशाल, पूरणकाश्यप, अजितकेसकम्बल, प्रक्रुध कात्यायन, निगंठनाथपुत्त और संजयबेलट्टिपुत्त थे।

| | | | | | |
|-----------|----|------|---------------|-----|------|
| विमल ६० | ६० | ” | सुप्रत २० | ३० | ” |
| अनन्त ५० | ३० | ” | नमि १५ | १० | ” |
| धर्म ४५ | १० | ” | नेमि १० | १ | ” |
| शान्ति ४० | १ | ” | पार्श्व ९ हाथ | १०० | वर्ष |
| कुन्धु ३५ | ९५ | हजार | वर्धमान ७ हाथ | ७२ | ” |
| अर ३० | ८४ | ” | | | |
| मल्लि २५ | ५५ | ” | | | |

1. "That Parshva was a historical person, is now admitted by all as very probable" The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Introduction, page 21.
2. तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्तिगंगा, सं० डॉ० प्रेमसागर जैन, वाराणसी, १९६९, पृ० ८।
3. वही, पृ० ८।

जेम्स डी आलविस¹ ने अपने एक निबन्ध में लिखा है कि इन सभी सम्प्रदायों पर जैन धर्म का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है अतः सिद्ध है, कि महावीर से पूर्व जैन धर्म विद्यमान था ।

डॉ० जैकोबी के पश्चात् कोलब्रुक, स्टैवेन्सन, एडवर्डे, टामस, डॉ० बेलवलकर, दासगुप्ता, डॉ० राधाकृष्णान् (Indian philosophy, Vol. I, p. 287), शार्पेन्टियर, गेरीनोट, मज्जमुदार, ईलियट और पुसिन आदि अनेक पाश्चात्य एवं पौराणिक विद्वानों ने भी यह सिद्ध किया है कि भगवान महावीर से पूर्व एक निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय विद्यमान था और उस सम्प्रदाय के प्रधान भगवान पार्श्वनाथ थे ।²

डॉ० वाशम³ के मतानुसार भगवान महावीर को बौद्ध पिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्धी के रूप में अंकित किया गया है, अतएव उनकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है ही, इसके साथ-साथ श्रीपाश्व को जैन धर्म के तेइसवे तीर्थंकर के रूप में याद किया जाता है ।

डॉ० चार्ल शार्पोटियर ने लिखा है— “हमें इन दो बातों का भी स्मरण रखना चाहिए कि जैन धर्म निश्चित रूपेण महावीर से प्राचीन है । उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चतरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके हैं, एवं परिणामस्वरूप मूल सिद्धान्तों की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्र रूप धारण कर चुकी होंगी ।”⁴

जेजर जनरल फर्लिंग ने ऐतिहासिक शोध के पश्चात् लिखा है—“उस काल में सम्पूर्ण उत्तर भारत में एक ऐसा अतिव्यवस्थित, दार्शनिक, सदाचार एवं तप-प्रधान धर्म अर्थात् जैन धर्म अवस्थित था, जिसके आधार से ही ब्राह्मण एवं बौद्धादि धर्मों के

1. वही, पृ० ९

. भगवान पार्श्व, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पूना, १९६९, ६१-६७

3 As he, (Vardhamān Mahāvīra) is referred to in the Buddhist Scriptures, as one of the Buddha's chief opponents, his historicity is beyond doubt . . Parswa was remembered as twenty-third of the twenty-four great teachers or Tirthankaras (Fordmakers) of the Jaina faith". The Wonder That was India, A.L. Basham, London, reprinted 1956, pp. 287-288

4 "We ought also to remember both the Jain religion is certainly older than Mahāvīra, his reputed predecessor Pārshva having almost certainly existed as a real person, and that, consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahāvīra."

The Uttarādhyayana Sūtra, Jarl Charpentier, Upsala, 1922, Introduction, p. 21.

संन्यासमार्ग बाद में विकसित हुए । आर्यों के गंगा-तट एवं सरस्वती-तट पर पहुँचने से पूर्व ही लगभग बाईस प्रमुख सन्त अथवा तीर्थंकर जैनों को धर्मोपदेश दे चुके थे, जिनके बाद पार्श्व हुए और उन्हें अपने-उस समस्त पूर्व तीर्थंकरों का अथवा पवित्र ऋषियों का ज्ञान था, जो बड़े-बड़े समयान्तरों को लिए हुए पहले हो चुके थे । उन्हें उन अनेकों धर्मशास्त्रों का भी ज्ञान था जो प्राचीन होने के कारण पूर्व या पुराण कहलाते थे और जो सुदीर्घकाल से मान्य मुनियों, वानप्रस्थों या वनवासी साधुओं की परम्परा में मौखिक द्वार से प्रवाहित होते आ रहे थे ।¹

जार्ज शापे'ण्टियर ने 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ जैनाज' में लिखा है, "प्रोफेसर याकोबी तथा अन्य विद्वानों के मत के आधार पर पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष और जैन धर्म के सच्चे स्थापन कर्ता के रूप में माने जाने लगे हैं । कहा जाता है कि महावीर से २५० वर्ष पूर्व उनका निर्वाण हुआ । ये सम्भवतः ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी में रहे होंगे ।"

श्री विमलाचारण लो ने भी 'इण्डालाजिकल स्टडीज' में, भाग ३, पृष्ठ २३६-३७ पर पार्श्वनाथ के ऐतिहासिक पुरुष होने का समर्थन किया है ।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दु सिविलाइजेशन' में लिखा है कि "पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे क्योंकि उनके अनुयायी महावीर और बुद्ध के जीवनकाल में मौजूद थे, यहाँ तक कि महावीर के माता-पिता स्वयं पार्श्व के उपासक और श्रमणों के अनुयायी थे ।"²

डॉ० ए० एम० घाटे ने 'हिस्ट्री एण्ड कल्चर ओव इण्डियन पीपल' खंड २ 'जैनिज्म' शीर्षक के अन्तर्गत पृष्ठ ४१२ पर लिखा है, "पार्श्व का ऐतिहासिकत्व जैन आगम ग्रन्थों से सिद्ध है ।"

श्री दिनकर जी का 'संस्कृति के चार अध्याय' में कथन है—“तेइसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे, जो ऐतिहासिक पुरुष हैं और जिनका समय महावीर और बुद्ध दोनों से २५० वर्ष पूर्व पड़ता है ।”

श्रीपार्श्व की ऐतिहासिकता प्रतिपादित करने में जितनी जैन ग्रन्थों में अंकित सामग्री सहायक होती है उतने ही अधिक उद्धरण बौद्ध साहित्य से भी प्राप्त होते हैं—

सर्वप्रथम हम देखते हैं कि भगवान बुद्ध अपना बौद्ध धर्म स्थापित करने से पूर्व श्रीपार्श्व के चार्तुयाम धर्म में ही दीक्षित हुए थे । उन्होंने ने मज्झिमनिकाय के 'महासिंह-

1. जैन धर्म का मौलिक इतिहास— आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज पृ० २८१-२८२
2. हिंदू सभ्यता, डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, श्री वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा अनुवादित, दिल्ली, (द्वि० संस्करण) १९५८, पृ० २१७-२२० ।
3. संस्कृति के चार अध्याय, रामाभारी सिंह दिनकर, पटना १९६२ (तृ. संस्करण), पृ. १३० ।

नादसुत्त' (पृष्ठ ४८-५०) में अपने प्रारम्भिक तपस्वी जीवन का वर्णन करते हुए तपस्विता, रक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता आदि पार्श्वनाथ के चार्तुयाम धर्म में विद्यमान चारों तपों पर प्रकाश डाला है। आचार्य देवसेन रचित दर्शनसार (वि० सं० १९०) में यह भी लिखा है कि बुद्ध ने एक पार्श्वपत्यमुनि पिहितालव से दीक्षा ली थी एवं शिष्यत्व के समय उनका नाम बुद्धकीर्ति था। एक बार मछलियों का आहार स्वीकार करने के पश्चात् वे धर्म-भ्रष्ट हुए थे और तब उन्होंने ने रक्ताम्बर धारण कर अपने एक अलग मत की स्थापना की थी।¹

बौद्धों के त्रिपिटकों में अनेक स्थानों पर निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के विषय में उल्लेख प्राप्त होते हैं। उन उल्लेखों में से एक स्थान पर 'अंगुत्तर निकाय' में यह लिखा मिलता है कि वप्प नामक एक शाक्य था जो निर्ग्रन्थों का श्रावक था और वहीं यह भी लिखा हुआ है कि यही वप्प बुद्ध भगवान का चाचा था।² कदाचित् बुद्ध के माता-पिता भी पार्श्वनाथ के धर्मानुयायी हों।

गौतम बुद्ध के जन्म से पूर्व अन्यथा उनके बाल्यकाल में ही निर्ग्रन्थों का धर्म शाक्य देश में प्रचलित था।³ महावीर स्वामी भगवान बुद्ध के समकालीन थे अतएव यही माना जायेगा कि यह धर्मप्रचार उनके पूर्व के निर्ग्रन्थों द्वारा किया गया था, जिनके प्रमुख भगवान पार्श्व थे।

मज्झिमनिकाय के एक संवादानुसार सच्चक नामक एक प्रसिद्धवादी का वहाँ वर्णन है जो स्वयं निर्ग्रन्थ धर्म का अनुयायी नहीं था परन्तु क्योंकि उसके पिता एक निर्ग्रन्थ साधु थे अतः वह यह गर्वोक्ति किया करता था कि उसने भगवान महावीर को विवाद में परास्त किया है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यदि निर्ग्रन्थ धर्म बुद्ध अथवा महावीर के समय से ही प्रचलित होता तो अवश्य ही सच्चक जो कि बुद्ध और महावीर का समकालीन था उसके पिता निर्ग्रन्थ धर्म के अनुयायी नहीं होने चाहिये थे। अतः यही जान पड़ता है कि निर्ग्रन्थ धर्म बुद्ध और महावीर के समय से पूर्व ही विद्यमान था।⁴

1. तीर्थकर पार्श्वनाथ भक्तिगङ्गा, सं. डॉ. प्रेमसागर जैन, वाराणसी, १९६९, पृ. ९

2. "एकं समयं भगवा सककेसु विहरति कपिलवत्थुमिं ।

अथ खा वप्पो सकको निगण्ठ सावको इ ।"

— (अंगुत्तर, चतुक्कनिपात, चतुथपण्यासक, पाँचवा वग्ग)

"वप्पोति दसंबलस्सचुल्लपिता ।"

— (अंगुत्तर अट्ठकथा, सयाम संस्करण । ४७४)

3. पार्श्वनाथ का चार्तुयाम धर्म, धर्मानन्द कोसंबी, बम्बई, १९५७, पृ. १४ ।

4. देखिए—भगवान पार्श्व, श्री देवेन्द्रमुनिशास्त्री, पूना, १९६९, पृ. ६५-६६ ।

सामञ्जसफलसुत्त में निर्ग्रन्थों का वर्णन 'चातुर्याम संवरसंबुत्तो'¹ कहकर किया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि बुद्ध के समय तक निर्ग्रन्थजन चातुर्याम धर्म को ही माना करते थे । उसके पश्चात् महावीर स्वामी ने उन चारों में पाँचवे ब्रह्मचर्यव्रत को जोड़ा था । इसके साथ ही त्रिपिटक ग्रन्थ से यह भी जान पड़ता है कि निर्ग्रन्थ लोग कम से कम एक वस्त्र का तो अवश्य ही प्रयोग करते थे—जैसा कि अंगुत्तरनिकाय में लिखा हुआ मिलता है —

“तविदं भन्ते पूरणेन कस्सपेन लोहिताभिजाति पत्रता निगण्ठा एकसाटका ।” इसके साथ ही निर्ग्रन्थ अचेलक (नग्न) रहते थे इसके लिए कोई आधार त्रिपिटकों में प्राप्त नहीं होते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि पार्श्व ऐतिहासिक व्यक्ति थे और उन्होंने ने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया था ।²

जैन आगमों एवं बौद्ध त्रिपिटकों में बहुत से स्थानों पर आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक मंखलीपुत्र गोशालक का वर्णन आया है । बुद्धघोष ने दीर्घनिकाय की एक टीका में (सुमंगलविलासिनी खण्ड १ पृष्ठ १६२) वर्णित किया है कि गोशालक के मन्तव्यानुसार मानव समाज छः अभिजातियों में विभक्त है । उन अभिजातियों में से तृतीय लोहाभिजाति है । यह लोहाभिजाति निर्ग्रन्थ साधुओं की एक जाति है जो एकशाटिक (एक वस्त्रधारी) होते थे ।³ लगता है कि यहाँ गोशालक ने महावीर के अनुयायियों से पृथक् किसी अन्य पूर्वस्थित निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय की ओर संकेत किया है कारण कि महावीर ने साधु का निर्वस्त्र रहना ही श्रेष्ठ माना है जब कि पार्श्व ने साधुओं को एक वस्त्र धारण करने की अनुमति प्रदान की थी ।

डॉ० धर्मानन्द कोसम्बी ने अपने ग्रन्थ 'पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म' में लिखा है, "गतम बोधिसत्त्व ने आलार के समाधिमार्ग का अभ्यास किया था । गृहत्याग कर प्रथम तो वे आलार के ही आश्रम में गये और उन्होंने ने योग मार्ग का अध्ययन आगे चलाया । आलार ने उन्हें समाधि की सात सीढियाँ सिखाईं । फिर वे उदक रामपुत्र के पास गये और उससे समाधि की आठवीं सीढ़ी सीखी, परन्तु उतने से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ । क्योंकि उस समाधि से मनुष्य के झगड़े खत्म होने सम्भव नहीं था । तब बोधिसत्त्व उदक रामपुत्र का आश्रम छोड़ कर राजगृह चले गये । वहाँ के श्रमण सम्प्रदाय में उन्हें शायद निर्ग्रन्थों का चातुर्याम-संवर ही विशेष पसन्द आया, क्योंकि आगे चलकर उन्होंने ने जिस आर्य अष्टा-

1. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, धर्मानन्द कोसम्बी, बम्बई, १९५७, पृ० १५ ।
2. पार्श्व का चातुर्याम धर्म, धर्मानन्द कोसम्बी, पृ० १७ ।
3. नोट :—देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने अपनी पुस्तक में छः अभिजातियाँ गोशालक के मन्तव्यानुसार बतलाई हैं परन्तु कोसम्बीजी ने अपनी पुस्तक पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ. २२ पर, पूरण काश्यप के द्वारा छः अभिजातियाँ बताई है ।

भगवान पार्श्व, देवेन्द्रमुनिशास्त्री, पृ. ६३ ।

गिक मार्ग का आविष्कार किया उसमें इस चातुर्याम का समावेश किया गया है।¹ इससे यह विदित होता है कि बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चार यामों को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया था।

प्रज्ञा यक्षु प्रकाण्ड पण्डित श्रीसुखलाल संघवी का कथन है कि श्री धर्मानन्द कोसम्बी का उद्देश्य ही 'पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म' में यह बतलाना रहा है कि बुद्ध ने पार्श्व के चातुर्याम धर्म की परम्परा का विकास किस किस रूप में किया था।²

बुद्ध का पंचशील चातुर्याम का ही अपने साँचे में ढाला हुआ रूप है। सुखलालजी ने लिखा है—“स्वयं बुद्ध अपने बुद्धत्व के पहले की तपश्चर्या और चर्या का जो वर्णन करते हैं, उसके साथ तत्कालीन निग्रन्थ आचार का हम जब मिलान करते हैं, और कपिलवस्तु के निग्रन्थ श्रावक बप्पशाक्य का दृष्टान्त सामने रखते हैं तथा बौद्ध पिठकों में पाये जाने वाले खास आचार और तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी कुछ पारिभाषिकशब्द, जो केवल निग्रन्थ प्रवचन में ही पाये जाते हैं—इन सब पर विचार करते हैं तो ऐसा मानने में कोई सन्देह नहीं रहता है कि बुद्ध ने पार्श्व की परम्परा का स्वीकार किया था।”³

महावीर के माता-पिता पार्श्वपत्निक थे।⁴ दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् महावीर द्वीपालसा नामक चैत्य में ठहरे थे। संभवतः यह चैत्य पार्श्व की मूर्ति से अधिष्ठित रहा हो।⁵ महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ प्रत्येक दिवस इस चैत्य में दर्शनार्थ जाया करते थे। महावीर ने स्वयं पार्श्वनाथ के धर्म में दीक्षा ली थी और केवलज्ञान प्राप्त होने पर उन्होंने ने पार्श्व के चातुर्याम को पंचयाम के रूप में परिणित किया था।

उत्तराध्ययन सूत्र के 'तेतीसवे' अध्ययन में केशी श्रमण और महावीर के प्रधान शिष्य गौतम का संवाद आलिखित है। इस संवाद से यह ज्ञात होता है कि महावीर ने मनुष्य की बुद्धि के विकास को देखते हुए 'परिग्रह-विरमण' नामक महाव्रत के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य को स्पष्ट एक अलग महाव्रत के रूप में कहा है। इस तरह चार महाव्रत के स्थान पर पाँच महाव्रतों को स्थापित किया है। इस संवाद से भी यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि महावीर

1. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, धर्मानन्द कोसम्बी, पृ, २८।
2. चार तीर्थंकर, पं. सुखलाल संघवी, अहमदाबाद, १९५९, पृ० ५१।
3. चार तीर्थंकर, पं० सुखलालजी, अहमदाबाद, १९५९, पृ. ३६-३८।
4. “समणस्य णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्ज सवणोवासगा यावि होस्था।”

— आचारांग सूत्र २, भाव चूलिका ३, सूत्र ४०१।

5. तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्ति गंगा, प्रेमसागर जैन, पृ० १०।

से पूर्व चार यामों को स्वीकार करने वाला एक निग्रन्थ सम्प्रदाय अवश्य ही विद्यमान था और उस सम्प्रदाय के नेता भगवान् पाश्वर्य थे ।

भगवती, सूत्रकृताङ्ग तथा उत्तराध्ययन आदि आगमों में अनेकों पाश्वर्यापर्य श्रमणों का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्होंने गौतम के स्पष्टीकरण के पश्चात् चार याम वाले धर्म के स्थान पर महावीर के पंचमहाव्रत रूपी धर्म को स्वीकारा है ।¹

भगवतीसूत्र, पंचमभाग, शतक पन्द्रह में शान, कलन्द, कर्णिकार आदि छः दिशाचरों का वर्णन आता है । वे अष्टाङ्ग निमित्त के ज्ञाता थे और उन्होंने आजीवक संघ के स्थापक गोशालक का शिष्यत्व स्वीकार किया था । इन दिशाचरों के विषय में प्राचीन टीकाकारों का कथन है कि ये महावीर के संयम से पतित शिष्य थे पर चूर्णिकार का कहना है कि ये भगवान् पाश्वर्यानाथ के सन्तानीय (शिष्यानुशिष्य) थे ।²

बौद्ध साहित्य में महावीर और उनके शिष्यों को चातुर्याम युक्त कहा है ।³ दीर्घनिकाय में⁴ वर्णित है, एक बार अजातशत्रु ने भगवान् बुद्ध से श्रमण भगवान् महावीर से हुई अपनी एक भेट का उल्लेख किया है । जो निम्न प्रकार है—“भन्ते ! मैं निगण्ट नात्त-पुत्र के पास भी गया और उनसे भी सादृष्टिक आमण्यफल के विषय में पूछा । उन्होंने मुझे चातुर्याम संवरवाद बतलाया । उन्होंने कहा—निगण्ट चार संवरों से संवृत रहता है । (१) वह जल के व्यवहार का वर्जन करता है, जिससे जल के जीव न मरे । (२) वह सभी पापों का वर्जन करता है । (३) सभी पापों के वर्जन से धूतपाप होता है । (४) सभी पापों के वर्जन में लाभ रहता है । इसलिए वह निग्रन्थ गतात्मा, यतात्मा और स्थितात्मा कहलाता है ।

संयुक्त निकाय में इसी तरह निक नामक एक व्यक्ति ज्ञातपुत्र महावीर को चातुर्यामयुक्त कहता है ।⁵

उपर्युक्त उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षु अवश्य ही पाश्वर्यानाथ के चातुर्यामयुक्त धर्म से परिचित रहे हैं तथा उन्हें महावीर द्वारा किये गये परिवर्तन का ज्ञान नहीं है ।

जैन आगम साहित्य में ‘पूर्व’ साहित्य का उल्लेख प्राप्त हुआ है । ये ‘पूर्व’ चौदह थे, पर आज वे सभी लुप्त हैं । डॉ. हर्मन जैकोबी का कथन है कि श्रुतांगों के पूर्व अन्य

1. व्याख्याप्रज्ञप्ति—१।९।७६।, उत्तराध्ययन—२३, सूत्रकृतांग २, नालदीयाध्ययन ।
2. भगवतीसूत्र श. १५, गोशालक चरित्र, पृ० २३७१ । दिशाचरों के नाम : शान, कलन्द, कर्णिकार, अल्लिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन ।
3. भगवान् पाश्वर्या, देवेन्द्रमुनि, गूना, १९६९, पृ. ६४ ।
4. दीर्घनिकाय, सामञ्जस्यसुत्त, १—२ ।
5. भगवान् पाश्वर्या, देवेन्द्रमुनि, गूना, पृ. ६५ ।

धर्मग्रन्थों का अस्तित्व एक पूर्व संप्रदाय के अस्तित्व का सूचक है ।¹

धम्मपद की अट्ठकथा (२२-८) के अनुसार निर्ग्रन्थ वस्त्रधारी थे । यह प्रसंग पार्श्व की परम्परा के अस्तित्व का ही द्योतन करता है ।²

पं. कैलासचन्द्रजी ने 'जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका' में पृ. २१ पर लिखा है कि महावीर के समय में भी पार्श्व के अनुयायी श्रमण संघ में विद्यमान थे । पं. मुखलालजी ने अपनी पुस्तक 'चार तीर्थंकर' में भगवती, सूत्रकृतांग और उत्तग्राध्ययन आदि आगमों से महावीर और उनके शिष्य गौतम का पार्श्वीपत्यिकों से होने वाले मिलन को लेकर कई रोचक कथाएँ उद्धरित की हैं ।

इसके साथ ही पं. दलमुखभाई मालवणियाजी ने 'जैन प्रकाश' के 'उत्थान विशेषांक' में भेंट करने वालों की संख्या ५१० बतलायी है, जिनमें ५३ साधु थे ।

प्रसंगतः जब जब भी महावीर ने पार्श्व का इल्लेख किया है उन्हें 'पुरुषादानीय' ही विशेषण दिया गया है । इसके साथ ही पार्श्वीपत्यिक भी महावीर को पार्श्व के समान ही ज्ञानगुणों से सम्पन्न जानकर ही उनके संघ में सम्मिलित हुए थे ।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने अनेक स्थलों पर यह कहा है कि "जो पूर्व तीर्थंकर पार्श्व ने कहा है वही मैं भी कह रहा हूँ ।"³ इसी प्रकार बुद्ध का भी यही कहना है कि वे पूर्व बुद्धों का अनुसरण करते आये हैं ।⁴ अतः ऐसा लगता है कि यह बुद्ध-महावीर की पूर्वकालीनसूचित धर्मपरम्परा पार्श्व की ही थी ।

- 1 "The name itself testifies to the fact that the pūrvas were superseded by a new canon, for pūrvā means former, earlier..." Sacred Books of the East, Vol. XXII, Introduction, P. XLIV.
2. भगवान पार्श्व, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ० ६५ ।
3. व्याख्याप्रज्ञप्ति, आगमोदयसमिति, श. ५. उद्दे. ९. २२७ ।
- 4 "He (Buddha), indeed, is reported to have emphatically disowned the authorship of a new teaching, but claimed to be a follower of a doctrine established long ago by former Buddhas. This is usually interpreted as a kind of propaganda device, but it is not quite improbable that a real historical fact underlies these assertions". —Th. Stcherbatsky, The Central Conception of Buddhism, pp. 57-58.

अपनी पुस्तक 'तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्ति गंगा' की भूमिका में डॉ. प्रेमसागर जैन ने लिखा है—पार्श्व की ऐतिहासिकता का एक पुरातात्विक प्रमाण है मथुरा का कंकाला टीला। विख्यात कनिंघम साहब ने सन् १८७१ में इस टीले के पश्चिमी किनारे को तुड़वाया था। अन्दर से कई जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुईं। उनमें से कुछ पर लेख खुदे हुए थे। वहाँ ईंटों की एक दीवाल भी प्राप्त हुई थी। शिलालेखों पर से कनिंघम साहब को शत हुआ कि ईसा की पहली दूसरी शती में कंकाली टीले की भूमि पर एक विशाल जैन स्तूप था। तत्पश्चात् फ़्यूरर को भी वहाँ पर ४७ फुट व्यास का एक जैन स्तूप तथा जैन मन्दिरों के कुछ अवशेष प्राप्त हुये थे। फ़्यूरर ने एक प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख पढ़ा था—'थूपे देव निर्मित।' इसका अर्थ है—मूर्ति की स्थापना देव निर्मित स्तूप में की गई। यह मूर्ति कुशान संवत् ७९ (ई० सं० १५७) की है। श्रीजिन प्रभसूरि ने उपयुक्त स्तूप का विविधतीर्थकल्प में 'देवनिम्भिअथूप' और 'चतुरशीति महातीर्थ' नामक संग्रहकल्प में 'महालक्ष्मी निर्मितः श्री सुपाश्वस्तूपः' लिखा है।

अतएव सिद्ध है कि श्रीपाश्व भगवान एक ऐतिहासिक पुरुष थे। वे निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के थे किन्तु अन्य सभी श्रमण सम्प्रदाया ने भी उनको इतने ही सम्मान से स्वीकार किया है। अतः उनकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है।

श्री पद्मसुन्दरसूरिविरचित

श्रीपार्श्वनाथचरितमहाकाव्य

प्रथमः सर्गः

॥ श्रीपारंगताय नमः ॥

भास्वद्भोगीन्द्रभोगद्युतिततिरनिशं मूर्ध्नि यस्यैकदण्डं
धत्ते सप्ततपत्रश्रियमिव नयतः (नुवती) सप्तलोकाधिपत्यम् ।
तन्वाना भव्यपङ्केरुहसघनवनोद्बोधने सप्तसप्तिः
स श्रीमत्पार्श्वनाथः शठकमठहठध्वंसकृद् रक्षताद् वः ॥१॥

मातरू ! भारति ! भारतीः सुरसरित्कल्लोलोलोज्ज्वलाः
सद्यः पल्लवय प्रसादविशदालङ्कारसारत्विषः ।
काव्येऽस्मिन् मधुमाधुरीपरिणते शृङ्गारभृङ्गारके
श्रीमत्पार्श्वपवित्रचित्रचरितप्रारम्भचेतोहरे ॥२॥

नानान्तरीपनिकरैः परितः परीतः
स्वर्णाचलच्छलधृतातपवारणोऽसौ ।
गाङ्गौघचामरसुवीजित एष जम्बू-
द्वीपोऽधिराज इव राजति मध्यवर्ती ॥३॥

(१) जिनके मस्तक पर तेजस्वी नागराज के (सात) फणों की , सात लोक के आधिपत्य को प्रशंसित करती हुई और फैलाती हुई प्रभाश्रेणि एक दण्डवाले सात छत्रों की शोभा को मानों निरन्तर धारण करती है; जो भव्यजनरूपी कमलों के सघन वनों को जाग्रत करने में सूर्य हैं और जो दुष्ट कमठ के दानवी बल को नष्ट करने वाले हैं ऐसे वे श्रीयुक्त पार्श्वनाथ हमारी रक्षा करें ॥ (२) जिसमें मधुमास की (या शहद की अथवा मद्य की) मधुरता उद्भाषित हुई है जो शृंगार(रस) का पात्र है और जिसमें श्रीमान् पार्श्वनाथ का पवित्र तथा विस्मयकारी चरित प्रारम्भ से ही मनोहारी है, ऐसे इस काव्य में हे माता सरस्वति ! गंगा को चल तरंगों के समान उज्ज्वल, प्रसादगुण और विशद अलंकारों की श्रेष्ठ कान्ति को धारण करने वाली वाणों को तत्काल पल्लवित करो ॥ (३) अनेक द्वीपसमुदायों से चारों ओर जो व्याप्त है, मेरुपर्वत के बहाने से जिसने छत्र को धारण किया है और जो गंगा के प्रवाहहारी चामर से अच्छे प्रकार से हवा किया हुआ है, ऐसा यह जम्बूद्वीप (द्वीपों के) मध्य में साक्षात् सम्राट की तरह सुशोभित है ॥

आर्यक्षितौ भरतवर्षसुरम्बदेशे
 नानावनाद्रिसरिदावृतसन्निवेशे ।
 आसीत् पुरं सकलपस्तनवर्द्धितर्द्धिं
 शोभातिशायिविभवं भुवि पोतनाख्यम् ॥४॥

हर्म्याणि यत्र मणिकुट्टिममञ्जुलानि
 व्योमाग्रचुम्बिशिखराणि मरुद्गणानाम् ।
 स्वैरंशुभिः किल हसन्ति विमानवृन्दं
 शुभ्रस्फुटस्फटिकभित्तिविराजितानि ॥५॥

आस्ते यत्र महाजनः परगुणव्यक्तौ पटुः स्वस्तुतौ
 मौनी क्षान्तिपरः स्वशक्तिविभवे दाने वदान्यो भृशम् ।
 नातिक्रामति नीतिवर्म निजकं रथ्येव नेमिं क्वचिद्
 धर्माचारविचारणैकचतुरः श्रीदोपमानः श्रिया ॥६॥

तत्रारविन्दनृपतिर्नयचुञ्चुरुद्यच्च—
 चापप्रतापपरिभूतविपक्षवर्गः ।
 राज्यं शशास किल धर्मपथाविरुद्धा—
 वास्तां निरस्तविषयस्य तथार्थकामौ ॥७॥

(४) आर्यावर्त में अनेक बन, पर्वत और नदियों से आच्छादित (=ढके हुए) संस्थान (=शरीर) वाले ऐसे रमणीय भारत वर्ष में समस्त नगरों से अधिक समृद्धि वाला तथा शोभा के अतिशय से सम्पन्न वैभववाला पृथ्वी पर पोतन नाम का नगर था ॥ (५) मणिजडित फर्शी से सुन्दर, आकाश के अग्रभाग को स्पर्श करने वाले शिखरों वाले, श्वेत चमकौले स्फटिक की भित्तियों से सुशोभित हवेलियाँ इस नगर में अपनी किरणों से मानों देवों के विमानों की हँसी उड़ा रही हों ! ॥ (६) जहाँ (=उक्त नगर में) बड़े बड़े श्रेष्ठिगण (=सेठ लोग) दूसरों के गुण प्रगट करने में चतुर थे, स्वकीय प्रशंसा में मौन थे, अपने पराक्रम का वैभव होते हुए भी क्षान्ति-परक थे, दान कार्य में अतीव उदार थे, कहीं पर भी नेमि का उल्लङ्घन नहीं करने वाले चक्र के समान न्यायमार्ग का उल्लङ्घन न करने वाले थे, धर्माचरण तथा विचारशालीनता में दक्ष थे, और लक्ष्मी में सदा कुबेर के समान थे ॥ (७) उस नगर में, न्याय में कुशल, देदीप्यमान धनुप्रताप से शत्रु वर्ग को तिरस्कृत करने वाला अरविन्द नामक राजा शासन करता था । विषयवासनाओं से रहित उसके प्रति (=राजा के प्रति) अर्थ और काम - ये दोनों ही धर्म-मार्ग से अविरोध थे । (अर्थात् अर्थ व काम धर्म के विरोधी नहीं थे) ॥

शास्त्रेऽधीती राजविद्याप्रगल्भ-
स्तिस्त्रस्तस्मिन् शक्तयः प्रादुरासन् ।
षाड्गुण्येऽसौ लब्धबुद्धिप्रचारो
रेजे राजा सामदानादिदक्षः ॥८॥

विप्रस्तत्रैवाभवद् विश्वभूतिः
श्रौत-स्मार्ताचारविद् राजमान्यः ।
इज्यादानादिक्रियाकर्मठोऽसौ
शिष्टाचारो वेद-वेदाङ्गवेत्ता ॥९॥

तत्कान्ताऽऽसीदेकपत्नी सुशीला
नाम्ना सैवाणु धरीति प्रसिद्धा ।
भुञ्जानायां रम्यभोगान् स्वभर्त्रा
जातं पुत्रद्वैतमस्यां क्रमेण ॥१०॥

आसीत् ज्येष्ठः कमठस्तत्प्रमदा शीलशालिनी वरुणा ।
मरुभूतिस्तु कनीयांस्तनयोऽस्य वसुन्धरा पत्नी ॥११॥
गृहीतविधौ जनकात् सुतौ तौ
षडङ्गविज्ञौ च विदांवरेण्यौ ।
श्रुतिस्मृतिस्फारितचक्षुषौ स्व-
क्रमोचिताचारविचारदक्षौ ॥१२॥

(८) वह राजा अरविन्द शास्त्र का अध्ययन करने वाला, राजविद्या में कुशल था तथा उसमें तीनों राजशक्तियाँ (=प्रभुत्वशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साहशक्ति) विद्यमान थीं । वह सामदानादि में दक्ष था तथा (संधि आदि) षड्गुण विधान में उसकी बुद्धि अत्यन्त विकसित थी । इस प्रकार उक्त क्रिया में कुशल वह राजा शोभायमान था । (९) उसी नगर में श्रुति (=वेद) और स्मृति (=धर्मशास्त्र) में विहित सदाचार का ज्ञाता, राजा द्वारा सम्मानित, यज्ञ, दान व अध्ययनादि क्रिया में कुशल, शिष्टाचारसम्पन्न तथा वेद-वेदाङ्ग का ज्ञाता विश्वभूति नामक एक ब्राह्मण रहता था ॥ (१०) उस ब्राह्मण की शुभलक्षणों वाली अणुधरी नाम से प्रसिद्ध धर्मपत्नी थी । अपने पति के साथ सांसारिक वैभव को भोगते हुए उसके क्रमशः दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ (११) ज्येष्ठ पुत्र कमठ था । वरुणा उसकी शीलसम्पन्न पत्नी थी । तथा छोटा पुत्र मरुभूति था, व वसुन्धरा उसकी पत्नी थी ॥ (१२) अपने पिता विश्वभूति से उन दोनों पुत्रों ने विद्या प्राप्त की थी । वे षडङ्ग (=वेद के छः अंग) के ज्ञाता थे, विद्वानों में वरेण्य थे, श्रुति-स्मृति से विकसित नेत्रवाले थे तथा अपने कुलक्रमोचित आचार-विचार में दक्ष थे ॥

आन्वीक्षिक्यां सुप्रगल्भौ नितान्तं
मीमांसायां लब्धवर्णौ सवर्णौ ।
साङ्ख्यं तत्त्वं धर्मशास्त्रं पुराणं
ज्ञात्वा विद्यास्नातकत्वं प्रयातौ ॥१३॥

ब्रह्मविद्यासु निष्णातौ ब्रह्मकर्मसु कर्मठौ ।
नीतिशास्त्रविदौ ज्ञात्वा राज्ञा तौ मन्त्रिणौ कृतौ ॥१४॥ विशेषकम् ॥

अन्यदा कमठः पापस्तारुण्यैश्चर्यगर्वितः ।
प्रमादमदिरोन्मादमत्तो मदनविह्वलः ॥१५॥

निजानुजवधूं वीक्ष्य रूपलावण्यशालिनीम् ।
प्रवातेन्दीवराधीरविप्रेक्षितलोचनाम् ॥१६॥

चन्द्रमण्डलसङ्काशवदनधुतिविभ्रमाम् ।
मृदुबाहुलतां चारुकदलीस्निग्धसक्थिकाम् ॥१७॥

घनाञ्जननिभस्निग्धमुग्धकुन्तलवल्लरीम् ।
कुशोदरीं च सुदतीं पीनतुङ्गपयोधराम् ॥१८॥

स्वकरांहिनस्त्रौघश्रीनिर्जिताशोकपल्लवाम् ।
चकमे कमनीयां तां कामरागो हि दुस्त्यजः ॥१९॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥

(१३) आन्वीक्षिकी में वे पूर्णतया चतुर थे, मीमांसा शास्त्र में ख्याति प्राप्त थे, सांख्य-तत्त्व, धर्मशास्त्र तथा पुराणों को पढ़कर उन विद्याओं के स्नातक बन गये थे ॥ (१४) ब्रह्मविद्या (=वेदान्त) में निष्णात तथा ब्रह्मकर्म में कुशल, नीतिशास्त्रों के ज्ञाता उन दोनों को जानकर राजा ने उन्हें मन्त्रिपद से सुशोभित कर दिया ॥ (१५) बड़ा भाई कमठ पापी था । युवा-वस्था तथा ऐश्वर्य से गर्वित था । एक बार वह प्रमाद रूप मदिरा के उन्माद से उन्मत्त तथा कामवासनाओं से विह्वल हो गया ॥ (१६-१९) अपने छोटे भाई को रूपसौन्दर्यशालिनी और कमनीय पत्नी को देखकर वह उसके प्रति कामासक्त बन गया । सचमुच काम से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है । वह स्त्री वायु के द्वारा हिलाये हुए नीलकमल की भाँति चञ्चल दृष्टिवाली थी, उसके मुख की शोभा चन्द्रमण्डल जैसी थी, उसकी बाहुलताएँ कोमल थीं, उसकी जाँघें कदली के समान स्निग्ध थीं, उसकी कुन्तललताएँ सघन काजल के समान स्निग्ध और मुग्ध थीं, उसकी कमर पतली थी, उसके दाँत सुन्दर थे, उसके स्तन पुष्ट तथा उन्नत थे, उसने अपने हाथ और पैर के नखों की कान्ति से अशोक पल्लव की शोभा को परास्त किया था ॥

अन्यदा मरुभूतिस्तु ज्ञात्वा वरुणयोदितः ।
 मद्भर्ता त्वद्धूमे श्रुत्वेति विषसाद सः ॥२०॥

सोऽथ ग्रामान्तरं गत्वा कृत्वा रूपान्तरं ततः ।
 सायं कार्पटिकोऽस्मीति सुभ्वापैत्य तदोकसि ॥२१॥

निशि वीक्ष्य तयोर्वृत्तं भूपोऽथ मरुभूतिना ।
 उक्तः सोऽपि विडम्ब्यैनं कमठं निरकासयत् ॥२२॥

स कृतच्छदमवैराग्यो दीक्षां जग्राह तापसीम् ।
 अतीवोग्रं तपस्तेपे ख्यातिं लेभे महीयसीम् ॥२३॥

स्वापराधप्रशान्त्यर्थं मरुभूतिस्तमभ्यगात् ।
 क्षमस्वेति निगद्यासौ शिरस्तत्पादयोर्न्यधात् ॥२४॥

वैरं सस्मार स स्मेरः परिव्राडधमाधमः ।
 तस्योपरिष्ठान्महतीं शिलां चिक्षेप निष्कृपः ॥२५॥

उपासितोऽपि दुर्वृत्तो विकृतिं भजते पराम् ।
 पयःसिक्तोऽपि निम्बद्रुः कटुकत्वं किमुञ्जति ? ॥२६॥

अथाऽसौ मरुभूत्यात्मा विन्ध्याद्रौ कुञ्जके वने ।
 मृत्वा विषयलौल्येन गजोऽभूत् सल्लकीधने ॥२७॥

(२०) एक बार मरुभूति बड़े भाई कमठ की पत्नी वरुणा के द्वारा 'मेरा पति (=कमठ) तुम्हारी पत्नी में आसक्त है, तथा रमण करता है।' यह सुनकर अतीव दुःखी हुआ ॥ (२१) वह मरुभूति अन्य ग्राम में जाकर, दूसरा रूप धारण कर, 'मे' कार्पटिक (मिश्रुक) हूँ' ऐसा कहकर उसी (=कमठ) के घर में पहुँचकर सो गया ॥ (२२) रात्रि में, उन दोनों (=कमठ तथा वसुन्धरा) के वृत्तान्त को देखकर मरुभूति ने राजा अरविन्द से कहा तथा राजा ने उस कमठ को तिरस्कृत करके निकाल दिया ॥ (२३) उसने (=कमठ ने) कृत्रिम वैराग्य को धारण कर तापसी दीक्षा ग्रहण की तथा अत्यन्त उग्र तप करते हुए बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली ॥ (२४) अपने अपराध के क्षमार्थं मरुभूति उसके (=कमठ के) पास गया, 'क्षमा करिये'— ऐसा कहकर उसने अपना मस्तक कमठ के चरणों में रख दिया ॥ (२५) हँसते हुए मुखवाले होकर उस अत्यन्त अधम परिव्राजक कमठ ने, वैर को याद करते हुए, मरुभूति के उपर निर्दय होकर विशाल शिला फेंकी ॥ (२६) उपासना करने पर भी (क्षमा माँगने पर भी) दुष्ट व्यक्ति अत्यन्त बिकार (=क्रोध) को प्राप्त होता है। दूध से सींचने पर भी नीम का वृक्ष क्या अपने कडुवेपन को छोड़ सकता है ? (२७) अनन्तर वह मरुभूति विन्ध्याचलपर्वत में सल्लकीतृणयुक्त घने कुञ्जक वन में मर-कर विषयासक्ति के परिणामस्वरूप हाथी हुआ ॥

क्रमेण वरुणा तत्र विपचैवोदपद्यत ।
करेणुः स तथा रेमे श्यामासु वनराजिषु ॥२८॥

वन्यद्रुमान् विदलयन् निजकर्णतालै-
गुञ्जन्मधुव्रतगणं कटदानलुब्धम् ।
आस्फालयन् विहितबृंहितनाद एष
शिश्लेष तत्र करिणीं करलालनेन ॥२९॥

कान्तया स विचचार कानने
सल्लकीकवलमर्पितम् तथा ।
तं चखाद जलकेलिषु स्वयं
तां सिषेच करसीकरैर्गजः ॥३०॥

अन्यदा स किल पोतनेश्वरः
शुभ्रसौधशिखरस्थितोऽम्बरे ।
शारदाभ्रमुदयाद्रिसन्निभं
वायुना विघटितं निरैक्षत ॥३१॥

इत्यनित्यमखिलं जगद् विदन्
राज्यसम्पदम् अमंस्त गत्वरीम् ।
स्वापतेयमखिलं तु पात्रसात्
स चकार सच्चकार चातिथीन् ॥३२॥

(२८) समय आने पर (कमठ की पत्नी) वरुणा भी मरकर हाथिनी बनी और वह हाथी भी उस हाथिनी के साथ हरित-श्यामल वनपक्षियों में रमण करने लगा ॥ (२९) वन्य वृक्षों को नष्ट करता हुआ, गण्डस्थल के दानवारी में लुब्धक बने हुए, गुजार करते भ्रमर समुदाय को कर्णप्रहार से ताड़ित करता हुआ, गर्जना का शब्द करता हुआ वह झुण्डा के सञ्चालन से हाथिनी का आलिङ्गन करने लगा ॥ (३०) वह (भ्रूभूति) हस्ती वन में उस हाथिनी के साथ विचरण करने लगा । उस हाथिनी के द्वारा दिये गये सल्लकी घास के प्रस को वह खाता था और जलक्रीड़ाओं में वह अपनी सूँड के जल से उस हाथिनी को खुद ही सींचता था ॥ (३१) दूसरे दिन पोतनेश्वर अरविन्द नृप ने स्वच्छ प्रासाद शिखर पर बैठे हुए आकाशमण्डल में पर्वतसदृश शारदी बादल को वायु से छिन्न भिन्न होते हुए देखा ॥ (३२) इस पर से वह (राजा अरविन्द) इस सम्पूर्ण संसार को अनित्य जानकर राज्यसम्पत्ति को भी चञ्चल मानने लगा । उसने सम्पूर्ण वैभव को योग्य तथा अधिकारी पात्रों को प्रदान कर दिया और अतिथियों का सत्कार किया ॥

सोऽपि जातविशदावधिस्तदा
 स्वाङ्गजार्पितनृपत्ववैभवः ।
 सङ्गरङ्गविरतः क्षमारतः
 प्रत्यपद्यत स संयमं सुधीः ॥३३॥
 नाप्यलिप्यत सदाऽरविन्दवत्
 सोऽरविन्दमुनिपो भवाम्बुनि ।
 निर्ममः स निरहङ्कृतिः कृती
 निष्कषायकलितान्तरिन्द्रियः ॥३४॥
 ईर्यया स च विशुद्धया चरन्
 भाषमाण इह शुद्धभाषया ।
 एषणासु निरतो ग्रह-क्षिपो-
 त्सर्गवर्गसमितिष्वनारतम् ॥३५॥
 कायमानसवचः सुसंवृतो
 ज्ञानदर्शनचरित्रसंयुतः ।
 निःस्पृहः स विचचार भूतले
 जैनलिङ्गपदवीमुपाश्रितः ॥३६॥
 सम्मेतमीडितुमसौ सह सागरेण
 सार्थाधिपेन सहितः सुहितः प्रतस्थे ।
 प्रातः स विन्ध्यनगकुब्जककाननान्त-
 स्तत्र स्थितः प्रतिमया निशि निष्प्रकम्पः ॥३७॥

(३३) उस राजा ने निर्मल अवधिज्ञान प्राप्त कर अपने पुत्रों को सम्पूर्ण राजवैभव सौंप दिया । स्वयं अनासक्त तथा क्षमाशील बनकर उस विद्वान राजा ने संयम स्वीकार किया ॥ (३४) कमल को भाँसि वह अरविन्द मुनिराज भवजल से सदा अलिप्त ही रहा । ममता व अहंकार रहित होते हुए उसने हृदय को (क्रोध, मान, माया और लोभ-इन) कषायों से मुक्त कर लिया ॥ (३५) विशुद्ध ईर्यासमिति से वह इधर-उधर विचरण करता था, विशुद्ध भाषासमिति से भाषण करता था, एषणासमिति में रक्त था; आदानसमिति, निक्षेपसमिति और उत्सर्गसमिति इन समितियों में सतत जाग्रत वह मुनिराज था ॥ (३६) मन, वचन, व कर्म से सुसंवृत सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन तथा सम्यग् चरित्र से युक्त और निःस्पृह-ऐसा वह पृथ्वी पर जिनलक्षण (=जैन) पदवी को प्राप्त करते हुए घूमने लगा । (३७) सम्मेतशिखर पर्वत की यात्रा करने के लिए उसने सार्थवाह सागर के साथ प्रस्थान किया और विन्ध्याचल पर्वत के कुब्जक वन के अन्तःपदेश में पहुँचा तथा वहाँ रात्रि में प्रतिमा (=ध्यान) में निश्चल होकर खड़ा रहा ।

तत्राऽऽजगाम स गजो नगजोऽथ वीक्षा-
 चक्रे मुनिं विकरुणस्तरुणः क्रुधैत्य ।
 हन्तुं प्रवृत्त इति तं मुनिराह वेत्सि
 मां नारविन्दवृपतिं स निशम्य तस्थौ ॥३८॥
 प्राग्जन्मनः स्मरणतो निरणाथि तेन
 यस्याहमेव सचिवो मरुभूतिनामा ।
 एषोऽरविन्दवृपतिर्मुनिभूयमापत्
 पूज्यो ममैष भगवानिह वा परत्र ॥३९॥
 अथ मुनिर्गृहीधर्ममुपादिशत्
 परहिते निरतः समदक् सुधीः ।
 तदुपदेशमिभः शुभभावनः
 स्फुटमुरीचकृवान् सहदर्शनम् ॥४०॥
 विज्ञाय धर्मतत्त्वं स प्रासुकाहारभोजनः ।
 सावद्यभीरुधर्मात्मा गृहिव्रतमुपाश्रितः ॥४१॥
 संशुष्कतरुशाखादितृणपर्णान्यदन्नथ
 लोलितं करियूथेन दृषदास्फालितं पयः ॥४२॥
 पारणाहि पपौ सर्वथाऽनाहारस्तपोदिने ।
 संवृतश्चिररात्राय गृहीधर्ममपालयत् ॥४३॥

(३८) वहाँ पर्वत पर जन्मे हुए उसी तरुण हाथी ने करुणा रहित होकर क्रोध से लपक कर मुनि को देखा । ज्योंहि वह उस मुनि को मारने के लिए उद्यत हुआ, मुनि ने कहा— 'तुम मुझ अरविन्द राजा को नहीं जानते हो,' ऐसा सुनते ही वह (हाथी, मरुभूति) ठहर गया । (३९) पूर्वजन्म के स्मरण से उसने यह निर्णय किया कि इस राजा का मैं मरुभूति नामक मन्त्री था । इस राजा अरविन्द ने मुनि स्वरूप प्राप्त कर लिया है । अतः यह मेरा यहाँ और परलोक में भी पूज्य है । (४०) समदर्शी, परीपकारशील, विद्वान् मुनिराज ने उसे गृहस्थ-धर्म का उपदेश दिया । उस हाथी ने भी शुद्ध भावना से उसके उपदेश को दर्शन-लाभ के साथ साथ स्पष्ट रूप से स्वीकार किया । (४१) धर्मतत्त्व को जानकर निर्जीव (=निर्दोष) भोजन करता हुआ पापभीरु उसने गृहिव्रत का आश्रय लिया । (४२) सूखे पेड़ की शाखा आदि से तृण-पर्णों को खाता हुआ वह (हाथी) हस्ती-समुदाय से आलोकित होने से पाषाणखण्ड के साथ टकराये हुए (निर्जीव बने) जल को पीने लगा ॥ (४३) व्रत के दूसरे दिन (=पारणा के दिन) वह (ऐसा) जल पीता था । तपस्या के दिन बिल्कुल निराहार रहकर चिररात्रि तक गृहस्थधर्म का पालन करता था ।

तत्र सार्थजनः सर्वो मुनिं नत्वैत्य भक्तिभाक् ।

प्रत्यपद्यत सुश्राद्धधर्मं श्रद्दालुरन्वगात् ॥४४॥

अथाऽन्यदा पयः पातुं हृदे प्रावर्ततेभराद् ।

तज्जम्बाले ममज्जाऽसौ पुलिनं यातुमक्षमः ॥४५॥

तृष्णातरलितो धावन् सरःपङ्के ममज्ज सः ।

न प्राप नीरं नो तीरम् करी धिग्विधिचेष्टितम् ॥४६॥

स चात्र कमठाऽऽत्मापि प्राप्तः कुक्कुटसर्पताम् ।

तेन दुष्टेन रुष्टेन दष्टः कुम्भे स वारणः ॥४७॥

उपर्युपरि धावन्ति विपदः शुभसंक्षये ।

भवन्त्यनर्थादिलिद्रेषु वर्धतेऽन्क्षये क्षुधा ॥४८॥

शुभलेश्यः करी मृत्वा सहस्रारे सुरोऽभवत् ।

तत्र सप्तदशाब्ध्यायुर्दिव्यं सौख्यं स चान्वभूत् ॥४९॥

क्व स्तम्बेरम एष काननगतो धर्मोपलब्धि मुने—

लब्ध्वाऽऽस्मादणिमादिभूतिसहितां वैमानिकीं सम्पदम् ।

(४४) वहाँ स्थित सम्पूर्ण व्यापारी वर्ग ने भक्तियुक्त होकर मुनि के पास आकर, प्रणाम करके श्रद्धेय धर्म का स्वीकार किया और (बाद में) वह श्रद्धालु वर्ग मुनि के पीछे पीछे गया ॥ (४५) इसके पश्चात् दूसरे दिन तालाब में जल पीने के लिए ज्योति गजराज उद्यत हुआ तभी वह जल की कीचड़ में डूब गया तथा किनारे पर पहुँचने में असमर्थ हो गया ॥ (४६) प्यास से व्याकुल, दौड़ता हुआ वह हाथी तालाब की कीचड़ में डूब गया । वह हाथी न तो जल पी सका और न किनारे पर ही पहुँच सका । अहा ! इस दैवचेष्टा (अर्थात् इस विधि के विधान) को धिक्कार है ॥ (४७) कुक्कुटसर्प की योनि को प्राप्त वहाँ वह कपशात्मा कमठ भी था । उस दुष्ट ने उस हाथी को गण्डस्थल पर काट (=डस) लिया ॥ (४८) शुभ पुण्यों के क्षीण होने पर विपत्तियाँ एक के उपर एक लगातार आ गिरती हैं । अन्न की कमी होने पर भूख बढ़ती ही है । अवकाश मिलते ही विपत्तियाँ उभर आती हैं ॥ (४९) शुभलेश्या वाला वह हाथी मर कर सहस्रार देवलोक में देवता बन गया । वहाँ सप्तदशाब्धि (=सप्तदशसागरोपम) आयु वाला होकर उसने दिव्य सुख का अनुभव किया ॥ (५०) कहीं उस हाथी का जंगल में रहना और कहीं मुनि से धर्म प्राप्त कर अणिमा आदि ऐश्वर्यवाली और संकल्प या इच्छा से ही कल्पवृक्ष के द्वारा फल प्राप्त कराने वाली वैमानिक

तत्कल्पद्रुमकल्पितेहितफलां लेभे क्व दिव्यं सुखं
 तत्तत्सागरजीवितावधि गुरोः सर्वोऽपि सोऽनुग्रहः ॥५०॥
 अथ जम्बूमति द्वीपे प्राग्विदेहे सुमञ्जुले ।
 सुकच्छाभिहयविजये तद्विद्याधरभूधरे ॥५१॥
 पत्तने तिलकाभिहये विद्युद्गतिरभून्नृपः ।
 खचरेशोऽस्य कनकतिलका प्राणवल्लभा ॥५२॥
 करिदेवस्ततश्च्युत्वा तद्गर्भे समवातरत् ।
 नाम्ना किरणवेगाह्यः सुतो जनमनोहरः ॥५३॥
 शैशवेऽथ व्यतिक्रान्ते जग्राह सकलाः कलाः ।
 कलाचार्यात् कलाभिज्ञः क्रमाद् यौवनमासदत् ॥५४॥
 चिरं स पैतृकं राज्यं लब्ध्वा वैषयिकं सुखम् ।
 अन्वभूदन्यदा धर्मं शुश्राव श्रद्धया सुधीः ॥५५॥
 सूरैः सुरगुरोः पार्श्वे विरक्तोऽभून्महाशयः ।
 लघूपदेशाद्वैराग्यं जायेत लघुकर्मणाम् ॥५६॥
 तत एव गुरोर्दीक्षां कक्षीचक्रे समाहितः ।
 अधीतैकादशाङ्गो यः स्वशरीरिऽपि निःस्पृहः ॥५७॥

देव की सम्पत्ति का तथा उन सागरोपम वर्षी तरु के दिव्य सुख का लाभ करना । यह सब गुरु का अनुग्रह (=कृपा) है ॥ (५१-५२) जम्बूद्वीप के शोभन प्राग्विदेह क्षेत्र में सुकच्छ नामक विजय में वैताढ्य पर्वत पर स्थित तिलक नामक नगर में विद्युद्गति नामक विद्याधरों का एक राजा हुआ । आकाशचार इसी राजा की कनकतिलका नामक प्राणप्यारी पत्नी थी ॥ (५३) वह देव वहाँ से च्युत होकर उस कनकतिलका के गर्भ में अवतीर्ण हुआ । वह मनुष्यों के मन को मोहित करने वाला किरणवेग नामक पुत्र था ॥ (५४) उस पुत्र ने शैशवावस्था के व्यतीत हो जाने पर सम्पूर्ण कलाओं को कलाचार्य से सीख लिया और कलाभिज्ञ हो गया । समय बीतने पर उसने युवावस्था में पदार्पण किया ॥ (५५) उसने चिरकाल तक अपने पिता के राज्य को प्राप्त कर वैषयिक सुख का अनुभव किया । एक दिन बुद्धिमान् उसने श्रद्धा से धर्म का श्रवण किया ॥ (५६) वह महामना सुरगुरु नामक सूरि के पास विरक्त हो गया । अल्प कर्म वालों को शीघ्र ही उपदेश से वैराग्य उत्पन्न होता है ॥ (५७) उसके पश्चात् उसने ध्यानपूर्वक दस्तचित्त होकर गुरु से दीक्षा ग्रहण की। एकादश अङ्गों को उसने पढ लिया । वह अपने शरीर से भी निःस्पृह हो गया ॥

सचैकाकिविहारी सन्नभूच्चारणलब्धिभाक् ।
 अथान्यदा नभोगत्या पुष्करद्वीपमागमत् ॥५८॥

तत्र हेमगिरेः पार्श्वे धर्मध्यानावलम्बनः ।
 प्रतिमायोगमाधाय तस्थौ स्वास्थ्यस्थिराशयः ॥५९॥

यत्साम्यसुखसाम्राज्यं मुने रहसि जृम्भते ।
 तन्न नाकपतेर्नाके शर्म तादृग् न चक्रिणः ॥६०॥

अथ कुक्कुटसर्पात्मा पाप्मा तत्पापकारणात् ।
 धूमप्रभाख्यं नरकं प्राप्तो नारकयातनाः ॥६१॥

तेन नानाविधाः सोढाः स्वायुःप्रान्ते ततश्च्युतः ।
 अभूद् विषधरः सोऽपि तत्र हेमगिरौ गिरौ ॥६२॥

प्रतिमास्थं मुनिं वीक्ष्याऽदं दश्यत महोरगः ।
 धर्मध्यानधरः सोऽपि मृत्वाऽभूदच्युते दिवि ॥६३॥

देवो जम्बूद्रुमावर्ते विमाने रामणीयके ।
 द्वाविंशत्यब्धिमानायुरणिमादिविभूतिभाक् ॥६४॥

द्वाविंशतिसहस्राब्दैराहारोऽस्याभवत् ततः ।
 श्वासस्य सम्भवस्तावन्मासैरेकादशप्रमैः ॥६५॥

(५८) (गुरु आज्ञा से) अकेला विहार करने वाला वह चारणलब्धि का धारक हुआ तथा एक दिन आकाशमार्ग से पुष्कर द्वीप में पहुँचा ॥ (५९) वहाँ स्वर्णगिरि के पास धर्माचरण व ध्यान क्रिया में लीन होकर प्रतिमायोग को धारण करके स्वस्थ व स्थिर हृदय वाला होकर स्थित रहा ॥ (६०) जैसा साम्यसुख का साम्राज्य मुनि के लिए एकान्त में विकसित होता है वैसा (कल्याणकृत) सुख न तो स्वर्ग में देवराज इन्द्र को है और न ही चक्रवर्ती को है । (६१-६२) इसके पश्चात् कुक्कुटसर्पात्मा (वह पापी कर्मठ) अपने ही पाप के कारण से धूमप्रभा नामक नरक में पहुँचा । वहाँ उसने विभिन्न प्रकार की नारकीय यातनाओं को सहा । अपनी आयु की समाप्ति पर वहाँ से भ्रष्ट होकर वह हिमगिरि पर्वत पर विषधर हुआ ॥ (६३-६४) प्रतिमास्थित (अर्थात् ध्यानयोग में लीन) मुनि को देखकर उस विषधर ने उन्हें डस लिया । धर्मध्यान में तल्लीन वह मुनि मर कर अच्युत स्वर्ग में देवत्व को प्राप्त हुआ । वहाँ जम्बूद्रुमावर्त नामक सुन्दर विमान में बाईस सागरोपम आयु वाला होकर अणिमादि सिद्धियों को भोगने लगा ॥ (६५) वहाँ वह बाईस हजार वर्षों के अंतर से भोजन करता था ग्यारह महीनों के अंतर से श्वास लेता था ॥

मानसोऽस्य प्रवीचारः प्रावर्तत महात्मनः ।
 स सत्कर्मविपाकोत्थं सुखं भुङ्क्ते स्म निर्जरः ॥६६॥
 जम्बूद्वीपेऽत्र हेमाद्रेर्विदेहे पश्चिमे ततः ।
 देशे सुगन्धविजये पुरी तत्र शुभङ्करा ॥६७॥
 सा नानाद्रुमतटिनी कृपाऽऽरामैर्विराजितोपान्ता ।
 प्राकारवलयपरिखागोपुरमण्डितविभागा ॥६८॥
 तत्राऽऽस वज्रवीर्यो नृपतिर्वित्रासितस्ववैरिगणः ।
 धनपतिरिव धनदोऽऽसौ तपन इवासीत् प्रतापेन ॥६९॥
 लक्ष्मीमती तु भार्या निजसौन्दर्येण या रतिमजैषीत् ।
 तत्कुक्षौ मुनिदेवोऽप्यवातरच्छेषपुण्येन ॥७०॥
 पूर्णेऽथ गर्भसमये जन्यं समजीजनज्जनन्येषा ।
 नाम्ना स वज्रनाभो विज्ञातः स्वजनवर्गादौ ॥७१॥
 अभ्यस्य कलाः सकला नृपविद्यानां स पारदृश्वाऽभूत् ।
 पित्रा कृताभिषेको राज्यं लब्ध्वा शशास महीम् ॥७२॥
 भुक्त्वा स महाभोगान् दत्त्वा विद्यायुधाय पुत्राय ।
 क्षेमङ्करजिनपार्श्वार्ज्जुनीं दीक्षामुपादत्त ॥७३॥

(६६) वह महात्मा मन से ही कामसुख को भोगता था । इसी तरह उस देव ने पुण्य कर्मों के फलसुख को भोगा और उन कर्मों से मुक्त हुआ ॥ (६७) जम्बूद्वीप में, हिमगिरि पर्वत की पश्चिम दिशा में, महाविदेह क्षेत्र में, सुगन्धविजय के प्रदेश में, शुभङ्करा (नामक) एक नगरी थी ॥ (६८) वह नगरी नाना प्रकार के वृक्ष, नदी, कूप व उद्यान आदि से शाभित प्रान्त वाली; प्राकार (=परकोटा), वलय (=घेरा), परिखा (=खाई) एवं गोपुरों (=द्वार) से शोभित भागवली थी ॥ (६९) उस शुभङ्करा पुरी में समस्त शत्रुओं को व्रस्त करने वाला वज्रवीर्य नामक राजा कुबेर की भौति धन देने वाला था तथा प्रताप (पराक्रम) के कारण वह सूर्य के समान था ॥ (७०) उस राजा की लक्ष्मीमती भार्या थी जिसने अपने सौन्दर्य से कामदेव की पत्नी रति को भी जीत लिया था । पुण्य के क्षीण होने से उस देव ने उस रानी के उदर में अवतार लिया ॥ (७१) गर्भ का समय पूरा होने पर देवी लक्ष्मीमती ने पुत्र को उत्पन्न किया । वह पुत्र अपने कौटुम्बिक वर्ग में वज्रनाभ नाम से जाना गया ॥ (७२) वह राजकुमार वज्रनाभ सम्पूर्ण कलाओं का अभ्यास करके राजविद्याओं में पारङ्गत हो गया । पिता के द्वारा आभिक्षित होकर, राज्य प्राप्त कर वह पृथ्वी का शासन करने लगा । (७३) उसने अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों को भोगकर विद्यायुध नामक पुत्र को राज्य देकर, क्षेमंकर जिन से जैन धर्म को दीक्षा ग्रहण की ॥

शास्त्रेऽधीती विद्वान् मूलोत्तरगुणगणेषु स प्रयतः ।
समितिषु पञ्चसु समितस्त्रिगुप्तिगुप्तो विशेषेण ॥७४॥

कुर्वन्नुग्रतपस्यां कर्मोपशमात् लब्धिमानभवत् ।
विचरन् सुकच्छविजयं जगाम वाचंयमस्तत्र ॥७५॥

ज्वालनाह्वयाद्रिनिकटे निर्ग्रन्थो निर्ममः स विचचार ।
सर्वत्राप्रतिबद्धश्चकार रात्रौ तनूत्सर्गम् ॥७६॥

यो दन्दशूकजीवः पञ्चमनरके स नारकोऽथाभूत् ।
तत उद्वर्त्य कियन्तं कालं बभ्राम भवगहने ॥७७॥

सोऽप्यथ ज्वालनाद्रितटे भीमाटव्यां वनेचरो जज्ञे ।
मृगयावृत्तिं कुर्वन्नुर्वीधरसविधमासाद्य ॥७८॥

रजनीविभातसमये चलितुमना मुनिरथो किरातस्तु ।
दृष्ट्वा तं मुनिपुङ्गवमपशकुनं मनसि मन्वानः ॥७९॥

विंव्याध शरेणाऽसौ तद्बाणत्रणमहाव्यथां सेहे ।
धर्मध्यानधियं धुरि धन्यः समधत्त निरपेक्षः ॥८०॥

प्रान्ते समाहितमतिर्वपुषि निरीहो विशुद्धलेश्यावान् ।
साम्यामृतरसमग्नो मुनिः शुभाराधनां कृत्वा ॥८१॥

(७४) वह मूलगुण और उत्तरगुण में संयमवाला, शास्त्रज्ञ व विद्वान्, पञ्च समितियों से समित और विशेषकर तीन गुप्तिओं से गुप्त था ॥ (७५) उग्र तपस्या करता हुआ कर्मों के उपशम से वह लब्धिमान बना तथा भ्रमण करता हुआ संयमी वह सुकच्छविजय नामक स्थान (=विजय) में चला गया ॥ (७६) ज्वालनपर्वत के निकट निर्द्वन्द्व तथा ममता रहित होकर वह घूमने लगा । सभी विषयों से मुक्त होकर रात्रि में उसने कायोत्सर्ग किया ॥ (७७) पाँचवे नरक में जो दन्दशूक जीव (=कमठ) नरकरूप में था वह वहाँ से निकलकर कुछ समय गहन संसार में भ्रमण करने लगा ॥ (७८) वह भी ज्वालनपर्वत के तट पर भयंकर भीमा नामक जंगल में वनेचर हुआ । शिकारी की आजोविका करता हुआ वह पर्वत के पास पहुँचा ॥ (७९ ८०) रात्रि के समाप्ति समय जब मुनि चलने को उद्यत हुआ तब जाते हुए उस मुनिश्रेष्ठ को देखकर मन में अपशकुन मानते हुए उस किरात ने उसको बाण से बीध दिया । उस मुनि ने उस बाण के घाव की भयंकर पीड़ा को सहन किया । धर्म-ध्यान में बुद्धि लगाकर वह निरभिलाषी धन्य हो गया ॥

प्रैवेयके स मध्यम[मध्यम]नामनि बभूव ललिताङ्गः ।
 अणिमादिविभूतियुतोऽहमिन्द्रतां प्राप सुरपूज्यः ॥८२॥
 स च सप्तविंशतिमिताम्भोनिधितुल्यायुरिद्धदिव्यर्द्धिः ।
 आसीद् दिव्यशरीरो दिव्यसुखान्येष भुङ्क्ते स्म ॥८३॥
 सम्यग्दर्शनिनो हि धैर्यमतुलं दुर्गोपसर्गेऽपि य-
 दिष्टान्तं विगणय्य चिन्मयपरब्रह्मैव नित्यं स्मरन् ।
 बाह्ये वस्तुनि निर्ममः सदृशदृक् शत्रौ च मित्रे मुनि-
 स्तस्य स्वर्गपदं न दूरविषयं यद्वा मुनिःश्रेयसम् ॥८४॥

इति श्रीमत्परापरमेष्ठिपदारविन्दमकरन्दसुन्दररसास्वादसम्प्रीणित-
 भव्यभव्ये पण्डितश्रीपद्ममेरुविनेयपण्डितश्रीपद्मसुन्दर-
 विरचिते श्री पार्श्वनाथमहाकाव्ये श्रीपार्श्व-
 भवसप्तकशंसनः नाम प्रथमः सर्गः ।

(८१-८२) मृत्यु के समय विशुद्धलेश्या वाला, शरीर के प्रति ममत्वरहित, साम्यामृत-
 में मग्न वह मुनि शुभ आराधना करके, मध्यम-मध्यम नामक पंचम प्रैवेयक (स्वर्ग) में ललि-
 ताङ्ग देव बना और अणिमादि ऐश्वर्य से युक्त, अहमिन्द्रत्व को प्राप्त कर सुरपूज्य हुआ ॥
 (८३) सत्ताइस सागरोपम आयु वाला वह, बढ़ी हुई दिव्य ऋद्धिओं से युक्त, दिव्य शरीर-
 धारी, दिव्य सुखों का उपभोग करता था ॥ (८४) जो सम्यग्दर्शी होने से भयंकर उपसर्ग
 में भी अतुल धैर्य रखता है और उपसर्ग के परिणाम को इष्ट समझता है, जो चिन्मय पर-
 ब्रह्म का नित्य स्मरण करता हुआ बाह्य वस्तुओं में निःस्पृह बना रहता है, जो शत्रु-मित्र
 में समदर्शी है उस मुनि के लिए न तो स्वर्गपद को प्राप्ति दूर है न मोक्षपद की ॥

इति श्रीमान् परम परमेष्ठि के चरणकमल के मकरन्द के सुन्दर रसके आस्वाद से
 भव्यजनों को प्रसन्न करने वाला, पं० पद्ममेरु के शिष्य
 पं० श्री पद्मसुन्दर कवि द्वारा रचित श्री पार्श्वनाथ महाकाव्य में
 श्री पार्श्वनाथ के सात भवों का बर्णन करने वाला
 प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ।

द्वितीयः सर्गः

सर्वद्वीपाधिराजेऽस्मिन् जम्बूद्वीपे प्रतिष्ठिते ।
 भास्वत्स्वर्णाचलोत्तुङ्गकोटीरपरिमण्डिते ॥१॥
 स्वर्गखण्ड इवाखण्डे प्राग्विदेहस्य मण्डले ।
 तत्पुराणाभिधेऽन्यद्भिर्भेदने पुटभेदने ॥२॥
 यत्रत्यनारीसौन्दर्यं दृष्ट्वा दिवि सुराङ्गनाः ।
 निर्निमेषदशस्तस्थुरिव शङ्के सविस्मयाः ॥३॥
 सुधाधवलितैः सौधैर्विशदैर्हासराशिभिः ।
 यत्पुरद्भिः कृतस्पर्धा हसन्तीवाऽमरावतीम् ॥४॥
 यत्रारातिनृपख्यातिगिरिवज्रसदृग्भुजः ।
 वज्रबाहुरिति ख्यातोऽन्वर्थनामा महीपतिः ॥५॥
 इक्ष्वाकुवंश्यो गोत्रेण काश्यपः काश्यपी सदा ।
 बुभुजे भुजनिर्घातपातध्वस्तद्विषत्पुरः ॥६॥
 देवी सुदर्शना तस्याऽगण्यलावण्यमञ्जरी ।
 स्वरूपसम्पदुन्नत्या व्यजीयत रतिर्यया ॥७॥
 प्रैवेयकाऽमरात्मा तु तद्गर्भे समवातरत् ।
 नवमासव्यतिक्रान्तौ सुतरत्नमसूत सा । ८॥

(१-३) देदीप्यमान हेमगिरि के उत्तुङ्ग शिखरों से परिमण्डित और सभी द्वीपों के प्रतिष्ठित अधिराज इस जम्बूद्वीप में स्वर्ग के खण्ड के समान प्राग्विदेहदेश के अखण्ड मण्डल में दूसरों की समृद्धि को भेदने वाला तत्पुराण नामक नगर था । इस नगर की नारियों के सौन्दर्य को देखकर स्वर्ग में देवाङ्गनाएँ आश्चर्यचकित होकर मानो निर्निमेष वाली रहीं ऐसा मन में होता है । (४) चूने से धवलित श्वेत महालयों के द्वारा पुर की समृद्धि (अमरावती के साथ) स्पर्धा करके अमरावती की मानो हँसी उड़ाती है । (५) इस नगर में शत्रु राजाओं के ख्यातिरूप पर्वत को भेदने में वज्र जैसी भुजावाला और सार्धक नाम वाला वज्रबाहु नाम से प्रसिद्ध राजा था । (६) अपनी भुजाओं के प्रहार से शत्रुओं के नगर को ध्वस्त करने वाला, इक्ष्वाकुवंश में अवतीर्ण और काश्यपगोत्रीय वह राजा शासन करता था । (७) उस राजा की अतीव सौन्दर्ययुक्त रूपवती सुदर्शना नाम की रानी थी, जिसने अपने रूप की सम्पदा से कामदेव की पत्नी रति को भी जीत लिया था । (८) प्रैवेयक नामक स्वर्ग से देव की अमर आत्मा उस महारानी के गर्भ में आयी तथा उस रानी ने नौ महीनों के समाप्त होने पर एक पुत्ररत्न को उत्पन्न किया ॥

कनकप्रभनामाऽऽसीद् वपुषा कनकप्रभः ।
 व्यतीतबालमावः स जप्राह सकला कलाः ॥९॥
 भारती वदनाम्भोजे लक्ष्मीस्तस्थौ कराम्बुजे ।
 हित्वा सापत्न्यविकृतिमुभे एव तमाश्रिते ॥१०॥
 द्वासप्ततिकलामिज्ञो राजनीतिविदांबरः ।
 लक्षणग्रन्थसाहित्यसौहित्यं प्राप निर्भरम् ॥११॥
 पिता तं राज्यकुशलं मत्वा नार्पत्यमार्पयत् ।
 धुरं वहति धौरेयो न जातुचन गौर्गलिः ॥१२॥
 क्रमेण चक्रवर्तित्वं प्राप्य न्यायपथेन सः ।
 शशास सकलां पृथ्वीं प्रजापालनतत्परः ॥१३॥
 तन्मन्त्रशक्त्या विस्तस्तवीर्या इव महोरगाः ।
 प्रत्यनीकमहीपाला न चक्रुर्विक्रियां क्वचित् ॥१४॥
 स नातितीक्ष्णो न मृदुः प्रजासु कृतसम्पदः ।
 निषेव्य मध्यमां वृत्तिं वशीचक्रे जगद् नृपः ॥१५॥
 न च धर्मार्थकामेषु विरोधोऽस्याऽभवन्मिथः ।
 तद्विवेकप्रयोगेण सौहार्दं प्रापितेष्विव ॥१६॥

(९) शरीर से स्वर्ण की कान्ति के समान वह बालक कनकप्रभ नाम वाला था । बाल्यकाल व्यतीत होने पर उसने सम्पूर्ण कलाओं को ग्रहण किया ॥ (१०) उस (राजकुमार) के मुखकमल में सरस्वती का और हस्तकमल में लक्ष्मी का वास था । दोनों (सरस्वती एवं लक्ष्मी) अपने पारस्परिक शत्रुभावात्मक विकारको छोड़कर उस (कनकप्रभ) के आश्रित थीं ॥ (११) बहत्तर कलाओं के ज्ञाता, राजनीति के जानकारों में श्रेष्ठ उस राजकुमार ने लक्षणग्रन्थों सहित अनेक साहित्यिक ग्रन्थों का खूब अध्ययन किया था । (१२) पिता ने राजकार्य में कुशल जानकर उसे (=राजकुमार को) राज्य सौंप दिया । (कहा भी गया है कि) धौरेय बैल धुरा को वहन करता है, परन्तु गलिया बैल धुरा को वहन नहीं कर सकता ॥ (१३) क्रमशः चक्रवर्तित्व को प्राप्त करके वह (राजकुमार) न्यायमार्ग से (=न्यायपूर्वक) प्रजापालन में तत्पर होता हुआ सम्पूर्ण पृथ्वी का शासन करने लगा ॥ (१४) (वादी की) मन्त्रशक्ति से क्षीणवीर्य सर्प को तरह उस (राजकुमार) की मन्त्रशक्ति से ध्वस्त पराक्रम वाले प्रतिद्वन्द्वी राजा लोग किसी प्रकार की कहीं पर भी उड़ण्डता नहीं करते थे ॥ (१५) वह न ज्यादा कठोर था, न ज्यादा कोमल । वह प्रजा का आनन्द बढ़ाने वाला था । मध्यममार्ग का अवलम्बन करके उसने सारे संसार को वश में कर लिया था । (१६) इस राजा के धर्म, अर्थ और काम में परस्पर विरोध नहीं था । उसके विवेक के कारण ही मानों उन्होंने परस्पर मित्रता प्राप्त की थी ॥

जितेन्द्रियेण प्रभुणा सद्धर्मपथवर्तिना ।
 उमये शमितास्तेनाऽरयोऽब्देनेव रेणवः ॥१७॥
 सन्धिर्वा विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः ।
 षड्गुणास्तस्य साफल्यं न भेजुर्हतविद्विषः ? ॥१८॥
 जातिरूपबलैश्वर्यमदौद्धत्यं न च क्वचित् ।
 प्रशान्तस्यास्य भूपस्य प्रसन्नस्याप्यवर्द्धत ॥१९॥
 प्रासादस्थोऽन्यदा चक्री वातायनपथेन सः ।
 पश्यन्नभसि देवानां वृन्दं निर्गच्छदैक्षत ॥२०॥
 तद्दर्शनसुविज्ञातजगन्नाथजिनागमः ।
 सम्राट् ससैन्यः सद्भक्त्या श्रीजिनं नन्तुमागमत् ॥२१॥
 भगवद्देशनां स्फारसारपीयूषसोदरां ।
 श्रुत्वा तुष्टाव सन्तुष्टः स्पष्टवाचा जिनं कृती ॥२२॥
 ॐ नमो विश्वरूपाय विश्वलोकेश्वराय ते ।
 विश्वविद्यास्वतन्त्राय नमस्ते विश्वचक्षुषे ॥२३॥
 त्वं विश्वदृश्व त्वं विश्वयोनिर्विश्वविदीश्वरः ।
 जगत्पतिर्जगद्धाता जगद्वन्धुरनन्तदृक् ॥२४॥

(१७) अपनी इन्द्रियों को वश में करने वाले, सन्मार्ग में प्रवृत्त उस राजा ने (अन्तर-बाह्य) दोनों प्रकार के शत्रुओं को इस प्रकार शान्त कर दिया था जिस प्रकार वर्षा मिट्टी के कणों को शान्त कर देती है । (१८) शत्रुओं का नाश करने वाले उस राजा के सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय-ये षड्गुण सफल नहीं होते थे क्या ? (१९) शान्त और प्रसन्न इस राजा को कहीं पर भी जाति, सौन्दर्य, शक्ति और ऐश्वर्य के मद से जन्य उद्वृष्टता बहती नहीं थी । (२०) एक बार, अपने महल में बैठे उस राजा ने खिड़की से, आकाशमार्ग से निकलते हुए देवताओं के समुदाय को देखा । (२१) देवों के दर्शन से जगत् के स्वामी जिनेश्वर का आगमन ठीक से जानकर, वह सम्राट् श्रीजिनेश्वर की भक्तिपूर्वक वन्दना करने हेतु सेना के साथ आया । (२२) (उस राजा ने) भगवान् जिनेश्वर के अमृत से परिपूर्ण उपदेश को सुनकर सन्तुष्ट और कृतार्थ होते हुए स्पष्ट वाणी से जिनेश्वरदेव की स्तुति की । (२३) विश्वस्वरूप, सब लोगों के प्रभु, आप को नमस्कार हो । विश्वविद्या में स्वतन्त्र और विश्व के (एकमात्र) चक्षुरूप आपको नमस्कार हो । (२४) हे प्रभो ! आप संसार के द्रष्टा हो, आप संसार को ज्ञान कराने वाले हो, आप संसार को जानने वाले हो, आप ईश्वर हो । आप जगत्पति, जगत्धारक, जगद्वन्धु तथा अनन्त दृष्टि वाले हो ।

विष्णुर्जिष्णुरचिन्त्यात्माऽचिन्त्यशक्तिर्जिनेश्वरः ।
 सर्वज्ञः सर्वदृक् सर्वलोकपः सर्वनायकः ॥२५॥
 सार्वः सर्वेश्वरः शम्भुः स्वयम्भूर्भगवान् विभुः ।
 निर्मलो निष्कलः शान्तो निष्कलङ्को निरञ्जनः ॥२६॥
 धर्माध्यक्षो धर्मशास्ता धर्मतीर्थकरा जिनः ।
 त्वमहंन् वीतारागस्त्वं ध्येयस्त्वं ध्यानगोचरः ॥२७॥
 आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् त्वां विदुर्बुधाः ।
 त्रिकालवेदिनं सूक्ष्मं पुराणपुरुषं पुरुम् ॥२८॥
 स्याद्वादवादी त्वं वाग्मी भव्यलोकैकसारथिः ।
 देवाधिदेवो देवेन्द्रवन्द्यो देवः सनातनः ॥२९॥
 जिनाय नामरूपाय नमस्ते स्थापनात्मने ।
 नमस्ते द्रव्यरूपाय भावरूपाय ते नमः ॥३०॥
 एकोऽनेको महान् सूक्ष्मो लघुर्गुरुदीरितः ।
 व्यक्तोऽव्यक्तस्त्वमेवासि ब्रह्म नित्यं परापरः ॥३१॥
 इति स्तुत्वा जगन्नाथं जगन्नाथजिनं नृपः ।
 त्रिःपरीत्य नमस्कृत्य समागाद् निजपत्तनम् ॥३२॥

(२५) आप ही विष्णु हो, जिष्णु हो, अचिन्त्य आत्मा हो, अचिन्त्य शक्ति हो और जिनेश्वर हो । आप सर्वज्ञ हो, सर्वदर्शी हो, सभी लोकों के पालक हो और सभी प्राणियों के नायक हो । (२६) हे प्रभो ! आप ही सार्व हो, सर्वेश्वर हो, शम्भु हो, ब्रह्मा हो और विभु हो । आप निर्मल, निष्कलंक (=निष्कल), शांत और निरञ्जन हो । (२७) आप ही धर्माध्यक्ष हो, धर्मशास्ता हो, धर्मतीर्थ के कर्ता हो, जिन हो, अर्हत हो, वीतराग हो, ध्येय हो और ध्यान का आलम्बन हो । (२८) हे प्रभो ! विद्वान् लोग आपको अन्धकार से परे सूर्यस्वरूप, त्रिकालज्ञ, पुराणपुरुष, सूक्ष्मरूप और पुरु जानते हैं । (२९) हे भगवान् ! आप स्याद्वाद का कथन करने वाले हो, प्रशस्तवक्ता हो और भव्य जीवों के एकमात्र सारथि हो । आप ही देवाधिदेव, देवेन्द्रों द्वारा वन्दनीय एवं सनातन देव हो । (३०) नामरूप जिन और स्थापनारूप जिन, आपको नमस्कार है । द्रव्यरूप जिन और भावरूप जिन, आपको नमस्कार है ॥ (३१) हे भगवन् ! आप एक होते हुए भी अनेक हैं, महान होते हुए भी सूक्ष्म हैं । आपको लघु और गुरु कहा गया है । आप व्यक्त भी हैं और अव्यक्त भी । आप नित्य परापर ब्रह्म हैं ॥ (३२) इस प्रकार वह राजा जगत् के नाथ जिनदेव की स्तुति करके, तीन बार परिक्रमा के साथ नमस्कार करके, अपने नगर में आ गये ॥

विजहार जिनेन्द्रोऽपि निर्ममो विषयान्तरम् ।
 कनकप्रभभूपालोऽन्यदाऽर्हधर्मदेशनाम् ॥३३॥
 विशुद्धचेतसा भव्यो भावयन् जातभावनः ।
 जातजातिस्मरः पूर्वभवान् दृष्ट्वा व्यरज्यत ॥३४॥
 लघूपदेशतोऽपि स्याद् निर्वेदो लघुकर्मणाम् ।
 प्रान्तेऽपि मोहमुग्धानां पापधीर्न निवर्तते ॥३५॥
 दत्त्वा स्वसूनवे राज्यं स्वयं गत्वा जिनान्तिकम् ।
 प्रव्रज्यां जगृहे जैनीं निर्विध भवभावतः ॥३६॥
 अधीतैकादशाङ्गोऽयं रत्नत्रयधरो मुनिः ।
 शुद्धलेश्यः प्रशान्तात्मा जितरागाद्युपप्लवः ॥३७॥
 स राजर्षिस्तपस्तेपे बाहचमाभ्यन्तरं द्विधा ।
 स्वकर्मनिर्जराहेतोश्चक्रे स्थानकविंशतिम् ॥३८॥
 अर्हतामथ सिद्धानां भक्तिं संघस्य सोऽकरोत् ।
 गुरूणां स्थविराणां च बहुश्रुततपस्विनाम् ॥३९॥
 ज्ञानोपयोगमाभीक्ष्ण्याद् दर्शनं विनयं व्यधात् ।
 षोढाऽथाऽऽवश्यकं शीलव्रतेष्वनतिचारताम् ॥४०॥

(३३-३४) वे ममत्वमुक्त जिनेन्द्र भगवान् भी अन्य प्रदेश को चले गये । कनकप्रभ राजा का भव्य जीव, दूसरे ही दिन, जिनदेव की धर्मदेशना को विशुद्ध चित्त से विचारता हुआ, भावना और जातिस्मरण ज्ञान को प्राप्त कर, पूर्वभव को देख कर विरक्त हो गया । (३५) अल्प कर्मों वाले व्यक्तियों को साधारण उपदेश से भी निर्वेद अर्थात् वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और मोह से मूढ़ लोगों की पापबुद्धि अन्त तक निवृत्त नहीं होती । (३६) उस राजा ने अपने पुत्र को राज्य देकर, स्वयं जिनदेव के पास पहुँच कर, संसार के पदार्थों से विरक्त होकर, जैन धर्म की प्रव्रज्या ग्रहण कर ली । (३७) उस मुनि ने एकदश अङ्गों का अध्ययन किया । शुद्धलेश्या वाले प्रशान्त आत्मा मुनि ने रागादि उपद्रवों को जीत लिया । (३८) अपने कर्म की निर्जरा करने के लिए उस मुनिराज ने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप किये तथा (इसके साथ ही) बीसस्थानक तप भी किये । (३९) उस मुनिराज ने अर्हतों की, सिद्धों की, (चतुर्विध) संघ की, स्थविरों की, ज्ञानियों की और तपस्वियों की सेवा (भक्ति) की । (४०) वह बारम्बार ज्ञानोपयोग, दर्शन व विनय को प्रगट करता था । वह छः प्रकार के आवश्यक का पालन करता था तथा वह निरस्तिच्यार शील और उसका पालन करता था ।

संवेगं भवभावेभ्यस्तपस्यागौ स्वशक्तिः ।
 वैयावृत्यं व्रतस्थेषु दधौ साधुसमाधिताम् ॥४१॥
 अनधीतश्रुताभ्यासं श्रुतिभक्तिं तथाऽकरोत् ।
 मार्गं प्रभावयामास स्थानानीमानि विशतिम् ॥४२॥
 कारणान्येष सर्वाणि तीर्थकृत्वस्य भावयन् ।
 बबन्ध तीर्थकृद्गोत्रं त्रिजगत्क्षेमकारणम् ॥४३॥
 स चाऽत्युग्रं तपस्तप्त्वा चिरं सद्भावभावितः ।
 प्रान्ते प्रायोपगमनं कृत्वा प्रतिमया स्थितः ॥४४॥
 मुनिः क्षीरवण(णे) क्षीरमहाद्वौ सूर्यसम्मुखः ।
 भास्ते स्माऽथ स भिल्लात्मा चिरं स्वकृतदुष्कृतात् ॥४५॥
 तमस्तमायां पापस्तु भुक्त्वा नारकयातनाः ।
 प्रच्युत्याऽऽयुःक्षये तत्र गिरौ कण्ठीरवोऽभवत् ॥४६॥
 अन्यदा विचरंस्तत्र प्राग्विरोधानुबन्धतः ।
 स सिंहः प्रतिमास्थस्य मुनेर्द्राक् कण्ठमप्रहीत् ॥४७॥
 प्रान्ते विशुद्धलेश्योऽसौ मृत्वाऽभूत् प्राणते दिवि ।
 देवो महाप्रभे याने विशत्यम्बुधिजीवितः ॥४८॥

(४१) उसने सांसारिक भावों के प्रति वैराग्य को धारण किया, अपनी शक्ति के अनुसार तप और त्याग किया, व्रत में स्थित साधुओं की सेवा की और शुभ समाधि को धारण किया । (४२) श्रुत का अभ्यास किये बिना ही उसने श्रुतभक्ति की (और) मार्ग की प्रभावना की—ये हैं बीस स्थान । (४३) तीर्थकृत्व के सभी कारणों की भावना (=ध्यान) करते हुए उसने तीनों लोकों का कल्याण करने वाले तीर्थकृतगोत्रकर्म को बाँध लिया । (४४) अत्यन्त उग्र तप काके, बहुत समय तक सद्भावनापूर्वक अन्तकाल में आमरणान्त उपवास करके वह मुनि प्रतिमा रूप ध्यान में स्थित रहा । (४५-४६) वह मुनि क्षीरवण नामक वन में क्षीरमहापर्वत पर सूर्य के सम्मुख खड़ा था । अपने किये हुए दुष्कर्म के कारण बहुत समय तक तमस्तमा नरक में नारकीय शात-माओं को भोग कर आयु क्षीण होने पर नरक से च्युत होकर उस पापी भिल्लात्मा (कमठ) ने पर्वत के ऊपर सिंह योनि में जन्म लिया । (४७) एक बार घूमते घूमते उस पापी सिंह ने पूर्व जन्म के विरोध के आग्रह से उस पर्वत पर प्रतिमास्थित उस मुनि को कण्ठ से पकड़ लिया । (४८) अन्तसमय में विशुद्धलेश्या वाला वह मुनि मरकर प्राणत नामक देवलोक में महाप्रभ विमान में बीस सागरोपम आयु वाला देव हुआ ।

सै चोपपादशय्यायां समुत्पेदे महर्द्रिकः ।
 युवा सुप्तोत्थित इवाऽन्तर्मुहूर्तात् सुरोत्तमः ॥४९॥
 चिताभ्रे गगने विद्युद्विलास इव दिद्युते ।
 तनुरस्याऽमरी दिव्यनानाभरणभारिणी ॥५०॥
 अरजोऽम्बरसम्बीतः केयूराङ्गदकुण्डलैः ।
 भ्राजमानवपुः स्रग्वी सालसेक्षणवीक्षणः ॥५१॥
 तद्रूपं तच्च लावण्यमस्य दिव्यमयोनिजम् ।
 विरेजे वर्णनातीतं निष्टप्तकनकोज्ज्वलम् ॥५२॥
 पुष्पवृष्टिं तदैवाशु मुमुचुः कल्पशाखिनः ।
 जजृम्भे दुन्दुभेर्मन्द्रः प्रतिध्वानो मरुत्पथे ॥५३॥
 स किञ्चित् सालसं वीक्ष्य दिक्षु व्यापारयद् दशम् ।
 तदैव प्रणतो देवैर्दिव्यकोटीरमण्डितैः ॥५४॥
 किमद्भुतमिदं कस्मादहमागां क्व चाभवम् ।
 को वाऽयमाऽऽश्रमः के वा सुरा मां प्रणमन्त्यमी ॥५५॥
 एवं विमृशतस्तस्याऽवधिः प्रादुरभूत् क्षणात् ।
 तेनाऽज्ञासीदिदं सर्वं तपःकल्पतरोः फलम् ॥५६॥

(४९) वह मुनि (=मरने के पश्चात्) उपपादशय्या में उत्पन्न हुआ । वह क्षणभर में ही सोकर उठे हुए युवक के समान महर्द्रिक देवता बन गया । (५०) आकाशमण्डल में बिजली के विलास की तरह वह चमकने लगा और देवस्वरूप उसका शरीर अनेक प्रकार के आभूषणों से सुन्दर प्रतीत होने लगा । (५१) वह देव स्वच्छ शोभन वस्त्रों से युक्त भुजबन्द व कुण्डलों से शोभित शरीर वाला, मालाधारी व अलसनेत्रों से अवलोकन करने वाला था । (५२) उसका वह दिव्यरूप और स्वाभाविक लावण्य वर्णनातीत तथा तपे हुए स्वर्ण के समान उज्ज्वल चमक रहा था । (५३) (=जब वह उपपादशय्या में उत्पन्न हुआ) तब यकायक कल्पवृक्षों ने पुष्प-वृष्टि की तथा आकाशमार्ग में नगाड़े का मन्द प्रतिशब्द होने लगा । (५४) वह देव अलसनेत्रों से देखकर सभी दिशाओं में चारों ओर दृष्टि फैलाने लगा । तभी दिव्य मुकुटों से सम्पन्न देवताओं ने उन्हें झुककर नमस्कार किया । (५५) यह देखकर देव ने सोचा यह क्या आश्चर्य है ? मैं कहाँ से आया और कहाँ उत्पन्न हुआ ? यह कौन सा आश्रमस्थल है तथा ये कौन से देवता हैं जो मुझे प्रणाम कर रहे हैं ? (५६) ऐसा विचार करते हुए देव को क्षणभर में अवधि ज्ञान प्रकट हुआ और उन्होंने यह सब तपस्यारूप कल्पवृक्ष का फल समझा ।

ध्रुवं स नाकलोकोऽयं त इमे नाकिबः सुराः ।
 कनकप्रभजीवोऽहं चारित्रार्जितपुण्यभाक् ॥५७॥
 विमानं नन्दनोद्भासि मन्दारद्रुमवेष्टितम् ।
 एताश्चाप्सरसो नृत्य-गीत-वादित्रसादराः ॥५८॥
 निश्चिकाय चिरं यावदिति देवः स्वसम्पदम् ।
 अथो व्यजिज्ञपन् देवा 'जय'-'नन्दे'तिशंसिनः ॥५९॥
 स्वामिन्नदं हि कर्तव्यं देवानां पुण्यशालिनाम् ।
 प्रागर्हत्प्रतिमा पूज्या विधिना शिवशंसिनी ॥६०॥
 ततः पश्य निजानीकं गान्धर्वादिगणैर्वृतम् ।
 सुराङ्गनाऽङ्गलावण्यलीलाः स्मृतिपथं नय ॥६१॥
 तदेवं देवविज्ञप्त्या हृदि युक्तिं व्यचिन्तयत् ।
 यद्यप्यचेतनं बिम्बं निग्रहानुग्रहाऽक्षमम् ॥६२॥
 तथापि वीतरागस्य शुक्लध्यानमयात्मनः ।
 बद्धपद्मासनस्येयं मूर्तिस्फूर्तिर्विजृम्भते ॥६३॥
 स्त्रीशस्त्ररागद्वेषाङ्कपङ्कशङ्काविवर्जितः ।
 निर्दोषो भगवानेव कृतकृत्यो निराकुलः ॥६४॥

(५७) निश्चित यह स्वर्गलोक है । ये स्वर्गस्थ देवता है । मैं कनकप्रभ नामक जीव हूँ । अपने चरित्र से ही मैं पुण्यफल को भोगने वाला हूँ । (५८) नन्दनवन में चमकने वाला, मन्दार वृक्ष से परिवेष्टित यह विमान है तथा ये नृत्य, गीत व वाद्य में आदरप्राप्त स्वर्ग की अप्सराएँ हैं । (५९) बहुत देर तक उस देव ने अपने ऐश्वर्य का ज्योंहि निश्चय किया तदनन्तर देवताओं ने 'जय' 'नन्द' ऐसा कहते हुए निवेदन किया । (६०) हे स्वामिन् ! पुण्यशाली देवताओं का यह करणीय है कि सर्वप्रथम कल्याणमूर्चिका अर्हत्प्रतिमा का विधिविधान के साथ पूजन करना चाहिए । (६१) उसके पश्चात् (=आप) गन्धर्व आदि गणों से युक्त अपनी सेना को देखें तथा देवाङ्गनाओं के अंगसौन्दर्य की लीलाओं को स्मृतिपथ में लायें । (६२-६३) इस प्रकार देवताओं के निवेदन से वह अपने हृदय में युक्ति सोचने लगे-यद्यपि अचेतना प्रतिमा बन्धन व कृपा के लिए अक्षम है तब भी शुक्लध्यानमय आत्मा वाला, वीतराग जो पद्ममासन में स्थित है उसकी मूर्ति की स्फूर्ति विकसित हो रही है । (६४) जिनके चिह्न (क्रम से) स्त्री और शस्त्र हैं ऐसे राग और द्वेष के कीचड़ की शंका से भो जो मुक्त है (अर्थात् ऐसी-कीचड़ की शंका भी जिसके बारे में नहीं उठती) ऐसे वह भगवान् ही निर्दोष, कृतकृत्य और निराकुल है ।

स एवायं जिनश्चेति संवित्तिर्वीक्ष्य जायते ।
जिनार्चाभित्यतः साक्षात् जिनमुद्रामिमां विदुः ॥६५॥
तद्भक्तिर्जिनभक्तिः स्यात् तन्नुतिः श्रीजिनस्तुतिः ।
तद्ध्यानं तु जिनध्यानं पुण्योत्कर्षफलप्रदम् ॥६६॥
कार्यं कारणतुल्यं स्याद् भावो द्रव्यानुरूपगः ।
तज्जिनप्रतिमाभक्तिः पुण्यकरणकारणम् ॥६७॥
विमृश्येति सुरः सम्यग्दृष्टिः पूजामचीकरत् ।
निजधर्मक्रमाचारो दुरुल्लङ्घ्यो महात्मनाम् ॥६८॥
शुक्ललेश्यः सार्धहस्तत्रयोत्सेधः स चाऽऽहरेत् ।
विशत्याऽब्दसहस्रैश्च मासैर्दशभिरश्वसीत् ॥६९॥
मानसोऽस्य प्रवीचारः पञ्चमक्षितिगोऽर्धधः ।
तावत्क्षेत्रं विक्रियाऽस्य बलं तेजोऽप्यवर्तत ॥७०॥
कृतसुकृतविपाकप्राप्तदिव्योपभोगः
सुरतरुभिरभीष्टप्रार्थितं लम्भितोऽसौ ।
सुरयुवतिसलीलापाङ्गसङ्गाऽऽस्तरङ्ग-
दिचरमरमत नानानिर्जराभ्यर्चनीयः ॥७१॥

(६५) यह ही 'जिन' है—ऐसा परिचय देखने से होता है । इस कारण से जिनदेव की मूर्ति को साक्षात् जिनदेव की देह (विद्वान) मानते हैं । (६६) इस दृष्टि से उसकी (=जिन-प्रतिमा को) भक्ति जिनदेव की भक्ति है उसकी स्तुति श्रीजिनदेव की स्तुति है, उसका कीया हुआ ध्यान जिनदेव का ध्यान है, जो उत्कृष्ट पुण्यों के फल को प्रदान करने वाला है । (६७) इस दृष्टि से कारणतुल्य ही कार्य होता है, द्रव्यानुरूप ही भाव होता है । इसलिए उस जिनदेव की प्रतिमा की भक्ति ही पुण्योत्पाद का कारण है । (६८) सम्यग्दृष्टि वाले उस देव ने ऐसा विचार कर पूजा का विधान किया । महात्माओं के लिए स्वधर्म का सदास्वर सर्वथा दुर्लङ्घनीय होता है । (६९) शुक्ललेश्यावाला साढ़े तीन हाथ उँचा वह (=देव) बीस हजार वर्षों के बाद आहार करता था और दस माह के बाद श्वास लेता था । (७०) मन के द्वारा ही पूर्ण मैथुन क्रिया सम्पन्न कर लेने वाला वह था । वह पञ्चमी नरकभूमि तक जानने की क्षमतावाले अवधिज्ञान का धारक था । उतने ही क्षेत्र में उसकी विक्रिया, उसका बल और उसका तेज कार्यक्षम था । (७१) जिसने पूर्वकृत पुण्यों के परिणाम से दिव्य उपभोगों को प्राप्त किया है, जिसने कल्पवृक्षों से इच्छित फल का लाभ किया है, जिसने देवा-जनाओं के अपाङ्गों के संग से आनन्द प्राप्त किया है और जो देवों के द्वारा पूज्य है ऐसे इस देव ने चिरकाल तक रमण किया ।

कण्ठीरवोऽपि दुष्कर्माऽर्जनाद् भ्रान्त्वा बहून् भवान् ।
 आसीद् दरिद्रविप्रस्य सुतस्तज्जन्मवासरात् ॥७२॥
 पितृ-मातृ-सगर्भादिकुटुम्बं सकलं तदा ।
 मरकोपद्रवानीतं क्षयं तुगू जीवति स्म सः ॥७३॥
 कृपालुभिश्च तत्रत्यैर्महेभ्यैरन्नदानतः ।
 वर्द्धितो विप्रबालोऽयं यौवनं प्राप च क्रमात् ॥७४॥
 कृच्छ्रेण जीविकां कुर्वन्नवज्ञां लभते स्म सः ।
 धिगू दुःखभाजनं मामित्युक्त्वा संविग्नमानसः ॥७५॥
 कन्दमूलादिभक्षी सन् पञ्चाग्न्यादि तपश्चरन् ।
 बभूव तापसः काशिमण्डलस्य वने वसन् ॥७६॥
 तत्पूजां महतीं चक्रुस्तत्रत्याः कुटुशो नराः ।
 गतानुगतिको लोकः प्रायः सर्वो न तत्त्ववित् ॥७७॥

इति श्रीमत्परापरपरमेष्ठिपदारविन्दमकरन्दसुन्दररसास्वादसम्प्रीणित-
 भव्यभव्ये पण्डितश्रीपद्ममेरुविनेयपण्डितश्रीपद्मसुन्दरविरचिते
 श्रीपार्श्वनाथमहाकाव्ये श्रीपार्श्वतीर्थकरगोत्रार्जनं नाम
 द्वितीयः सर्गः ।

(७२-७३) पापकर्म प्राप्ति से सिंह भी बहुत जन्मों में भ्रमण करता हुआ दरिद्र ब्राह्मण के यहाँ पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ । माता, पिता, सकलकुटुम्बीजन उसके जन्मदिन ही मरकी के उपद्रव से मष्ट हो गये, लेकिन वह बालक जिन्दा रहा । (७४) उस नगर के रहने वाले धनाढ्य एवं दयालु जनों के द्वारा अन्नदान आदि से सम्बर्धित वह विप्रबालक क्रमशः युवावस्था में पहुँचा । (७५) बहुत कष्ट से जीविका का निर्वाह करता हुआ वह सर्वत्र अपमान प्राप्त करता था । 'मुझ दुःखी को धिक्कार है' ऐसा कहकर वह अतीव दुःखी मन वाला हो गया । (७६) कन्दमूल आदि खाकर पञ्चामि तप करता हुआ, काशी मण्डल के वन में रहता हुआ वह तापस बन गया । (७७) वहाँ, जंगल के निवासी मिथ्यादि वाले उसकी खूब पूजा करने लगे । देखादेखी काम करने वाले सभी सांसारिक जन तत्त्व की जानकारी नहीं रखते ।

इति श्रीमान् परम परमेष्ठि के चरणकमल के मकरन्द के सुन्दर रस के आस्वाद से
 भव्यजनों को प्रसन्न करने वाला, पं० श्री पद्ममेरु के शिष्य पं० श्रीपद्मसुन्दर
 कवि द्वारा रचित श्रीपार्श्वनाथ महाकाव्य में 'श्रीपार्श्वतीर्थकरगोत्रार्जन'
 नामक यह द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ।

तृतीयः सर्गः

अथ मध्यमलोकस्य मध्यवर्त्यन्तरीपराद् ।
हिमाद्रिमौलियों जम्बूतरुच्छत्रच्छविर्बभौ ॥१॥
द्वीपौऽयं लवणाम्भोधिमेखलो लक्षयोजनः ।
वर्षैस्तु सतभिः षड्भिः कुलाद्रिभिरधिश्रितः ॥२॥ युग्मम् ॥
हिमवल्लवणाम्भोधि-मध्य-मण्डल-मण्डनम् ।
भारतं वर्षमत्रास्ति पुण्यराशिरिवाङ्गिनाम् ॥३॥
तत्राऽऽस काशिविषयस्त्रिदिवस्यैकखण्डवत् ।
स्वर्गिणां भुवमाप्तानां शेषैः पुण्यैर्विनिर्मितः ॥४॥
तत्र वाराणसीत्यासीत् नगरीवाऽमरावती ।
यत्र संस्कृतवक्तारः सुरा इव नरा बभुः ॥५॥
नित्यानन्दाः प्रजा यत्र धर्मकर्मसु कर्मठाः ।
निसर्गचतुरालापा भान्ति यत्र पुराङ्गनाः ॥६॥
सदानभोगैर्यत्रैः पौरैर्नित्यकृतोत्सवैः ।
वैदग्ध्यमधुरालापैः स्वर्गलोकोऽधरीकृतः ॥७॥

(१) हिमवन्त पर्वत का मुकुट धारण किये हुए और जम्बूद्वीप के छत्र को शोभा को धारण किये हुए जम्बूद्वीप मध्यमलोक के मध्य में शोभायमान था (२) लवण समुद्ररूप कटिमेखला वाला एक लाख मील विस्तृत यह जम्बूद्वीप (भारत आदि) सात क्षेत्रों से तथा (हिमवन्त आदि) छः कुलगिरियों से अधिष्ठित है । हिमवन्त पर्वत के और लवण समुद्र के मध्य भाग को शोभा देने वाला भारतवर्ष मानो शरीरधारियों की पुण्यराशि है । (४) वहाँ स्वर्ग के एक खण्ड (=भाग) की भाँति काशी प्रदेश है जो पृथ्वी पर आये स्वर्गवासियों के शेष पुण्यों से बनाया गया है । (५) इस काशी प्रदेश में, देवताओं की नगरी अमरावती की तरह वाराणसी नामक नगरी थी । जिस नगरी में संस्कृत बोलने वाले मानव देवताओं की तरह शोभा पाते थे । (६) इस नगर की प्रजा हमेशा आनन्द में रहने वाली थी तथा धर्मकर्मों में कुशल थी । यहाँ की रमणियाँ प्रकृति से ही वार्ताताप में चतुर होने से मनोहारी थीं । (७) सदा आकाश में उड़ने वाले (या दान के साथ साथ उपभोग करने वाले), हमेशा उत्सव मनानेवाले और विद्वत्तापूर्ण मधुर बातें करने वाले यहाँ के पौरजनों ने स्वर्गलोक को हीन बना दिया था ।

नेपथ्यैः सम्पदो यत्र सूक्तिभिर्गुणिनां गुणाः ।
 यौवनान्यनुमीयन्ते पौराणां रतविभ्रमैः ॥८॥
 धन्विष्वेव गुणारोपस्तब्धता यत्र वा मदः ।
 करिष्वेवातपत्रेषु दण्डो भङ्गस्तु वीचिषु ॥९॥
 आरूढयोगिनां यत्र ब्रह्मण्येवातिसम्मदः ।
 श्लथत्वं विप्रहेष्वेव विषयेष्वेव निग्रहः ॥१०॥
 यत्र गाङ्गास्तरङ्गौघाः कल्मषक्षालनक्षमाः ।
 जन्मिनां स्वर्गसर्गाय पुण्यपुञ्जा इवोज्ज्वलाः ॥११॥
 पात्रसाद् यत्र वित्तानि नृणां चित्तानि धर्मसात् ।
 सद्धर्मः शास्त्रसादेव नयमार्गस्तु राजसात् ॥१२॥
 तत्रासीदश्वसेनाह्वो नृप इक्ष्वाकुवंशजः ।
 निर्जितो यत्प्रतापेन तपनः परिधिं दधौ ॥१३॥
 सर्वकार्येषु यस्याऽऽसीच्चक्षुर्वृतं महीपतेः ।
 एकश्चारो विचारोऽन्यो दशौ रूपादिदर्शने ॥१४॥
 यस्य धर्मार्थकामानां बाधा नासीत् परस्परम् ।
 सख्यमाप्ता इवानेन यथास्वं भजता नु ते ॥१५॥

(८) यहाँ वेवभूषा से (=पहनने के कपड़ों से) समृद्धि का अनुमान होता है, सुवचनों से गुणी-जनों के गुणों का अनुमान होता है तथा कामक्रीडाओं से नगरजनों के (रसिक) यौवन का अनुमान होता है । (९) यहाँ धनुषधारियों में ही गुण (प्रत्यञ्चा) का आरोप था अन्यत्र नहीं; हाथियों में ही मद तथा स्तब्धता थी; आतपत्र (=छातों) में ही दण्ड लगा हुआ था (=अन्य किसी नागरिक के लिए दण्ड का विधान नहीं था), तथा पानी की लहरों में ही भङ्ग अर्थात् तोंड़ मरोड़ था (=जनता में कहीं भी तोंड़ मरोड़ अर्थात् अव्यवस्था नहीं थी) । (१०) आरूढ़ योगी लोगों को ब्रह्मध्यान में ही अत्यन्त हर्ष था; लड़ाई-झगड़ों में शैथिल्य था तथा-विषय वासनाओं पर पूरा दमन था । (११) यहाँ वाराणसी नगरी में गंगा नदी की तरंगों के समुदाय पाप प्रक्षालन में समर्थ थे । वे प्राणियों के स्वर्गसृजन के लिए उज्ज्वलपुण्यों के ढेर के समान थे । (१२) इस नगरी में धन योग्य व्यक्ति को दिया जाता था, मनुष्यों के चित्त धर्म के अधीन थे, सद्धर्म शास्त्र के आर्षेयन था तथा नीतिमार्ग राजा के आधीन था । (१३) उस वाराणसी नगरी में अश्वसेन नाम वाला इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न राजा था जिसके प्रताप से परास्त सूर्य उसकी प्रदक्षिणा करता था । (१४) उस राजा अश्वसेन के दो अपूर्व नेत्र सभी कार्यों में दो प्रकार से संलग्न थे । एक नेत्र था गुप्तचर और दूसरा था विचार (=विवेक) । दो आँखें तो रूप आदि को ही देखने वाली थीं । (१५) उस राजा के यहाँ धर्म-अर्थ-काम में परस्पर टकराव नहीं था । वह राजा उनका यथायोग्य सेवन करता था इसलिये वे परस्पर भिन्नता रखते थे ।

राजन्वती धरा सर्वा तस्मिन्नासीत् सुराजनि ।
यद्भयाद् भीर्बिभेति स्म तल्लोकेषु कुतो भयम् ? ॥१६॥
शिष्टानां सोमसौम्योऽसौ दुष्टानां तपनद्युतिः ।
तमः-प्रकाशसंवीतश्चक्रवाल इवाचलः ॥१७॥
वामानाम्नीति देव्यासीत् तस्य सौन्दर्यशालिनी ।
या वामलोचनानां नु चूडामणिरिवादभुता ॥१८॥
मति-द्युति-विभूति-श्री-लावण्याद्भुतसुन्दरैः ।
स्त्रीसर्गस्य परा कोटिर्निर्ममे विधिना गुणैः ॥१९॥
तत्कुक्षौ शित्तिचैत्रस्य चतुर्थ्यां समवातरत् ।
कनकप्रभदेवात्मा विशाखायां दिवश्च्युतः ॥२०॥
साऽन्यदा मञ्चके सुप्ता दरनिद्रामुपागता ।
इमांश्चतुर्दशस्वप्नान् ददृशे शुभसूचकान् ॥२१॥
इभमैरावणाभं सबृंहितं त्रिमदद्भुतम् ।
गवेन्द्रं कुन्दचन्द्राभं ककुद्मन्त(तं, धनध्वनिम् ॥२२॥
मृगेन्द्रमिन्दुधवलं केसराटोपशोभितम् ।
पद्मां पद्मासनासीनां स्नाप्यां दिग्गजदन्तिभिः ॥२३॥

(१६) उस सुयोध्य राजा के शासन करने पर सारी पृथ्वी राजन्वती (=अच्छे राजावाली) थी। जिसके भय से भय खुद ही काँपता हो ऐसे उस राजा को (तीनों) लोक में कहाँसे भय हो सकता है ? (१७) शिष्टाचार सम्पन्न व्यक्तियों के लिए वह राजा चन्द्रमा के समान सौम्य व दुष्टों के लिए सूर्य की भाँति दीप्तिमान् था। वह (=राजा) अन्धकार और प्रकाश से घिरे हुए चक्रवाल पर्वत की भाँति था (१८) उस राजा की सौन्दर्यसम्पन्न वामा नामक देवी (=महारानी) थी जो शोभन नेत्र वाली स्त्रीयों में चूडामणि के समान अद्भुत थी (= अर्थात् सर्वश्रेष्ठ थी)। (१९) स्वयं विधाता ने मति, द्युति, ऐश्वर्य, लक्ष्मी व सौन्दर्य आदि अद्भुत गुणों से छोटी सृष्टि में परमकोटि (उच्च कोटि) का (अर्थात् उस महारानी का) निर्माण किया था। (२०) उस महारानी की कोख में चैत्र मास कृष्ण चतुर्थी में, विशाखा नक्षत्र में, स्वर्ग से च्यवन प्राप्त कर कनकप्रभदेव का अवतार हुआ। (२१) एक दिन, पलंग पर सोयी हुई उसने अल्प निद्रा प्राप्त कर शुभसूचक चौदह स्वप्न देखे। (२२-२३-२४) तीन स्थान पर मदस्त्राव से युक्त और गर्जना कर रहे हाथी को; कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमा के समान कान्तिवाले, उन्नत कन्धरावाले और मेघ समान आवाज वाले वृषभेन्द्र को; अपनी केसरा (अयाल) के आडम्बर से शोभित और चन्द्रमा के समान श्वेत सिंह को; पुष्पों की सुगन्ध से आकृष्ट होकर घूमते भ्रमरों की झंकार से

दामद्वयं सुमामोदभ्रमदभ्रमरझंकृतम् ।
 सम्पूर्णमण्डलं चन्द्रं ज्योत्स्नोद्द्योतितभूतलम् ॥२४॥
 प्रद्योतनमथोद्यन्तमुदयाद्रेस्तमोपहम् ।
 बर्हिबर्हविचित्राभं ध्वजं दण्डाग्रमण्डितम् ॥२५॥
 पूर्णकुम्भं ततः पद्मपिहितं सुप्रतिष्ठितम् ।
 नानापद्मपरागश्रीशोभि पद्मसरो महत् ॥२६॥
 जलधिं पवन-क्षोभ-चलत्कल्लोलभासुरम् ।
 स्वर्विमानं स्फुरद्रत्ननिःसपत्नप्रभोज्ज्वलम् ॥२७॥
 रत्नोच्चयं समुत्सर्पद्दीप्तिविच्छुरिताम्बरम् ।
 ज्वलज्ज्वलनमुज्ज्वालं निर्धूमं सा जिनप्रसूः ॥२८॥ अष्टभिः कुलकम् ॥
 स्वप्नान्ते च प्रबुद्धा सा बभूवाऽऽनन्दमेदुरा ।
 वपुः पुलकितं तस्या वृष्टौ नीपप्रसूनवत् ॥२९॥
 ततः साऽकल्पिताऽऽकल्या प्रमोदं वोढुमक्षमा ।
 निजाङ्गोष्विति तन्वङ्गी भर्तुरभ्यर्णमभ्यगात् ॥३०॥
 उचिते समयेऽथोचे स्वामिन् ! स्वप्नानिमानहम् ।
 अद्राक्षं मध्ययामिन्यां पावकान्तान् गजादिकान् ॥३१॥

युक्त दो मालाओं को; तथा अपनी ज्योत्स्ना से भूमण्डल को प्रकाशित करने वाले, सम्पूर्ण मण्डल वाले चन्द्र को महारानी ने देखा । (२५-२६) उदयाचल से उठे हुए, अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य को और मयूरपिच्छ (=मोर के पंख समान) जैसे रंगविरंगे और दण्ड के अग्रभाग पर अलंकृत ध्वज को; कमल से आच्छादित सुप्रतिष्ठित पूर्णकुम्भ को तथा अनेक पद्मपराग की कल्पित से सुशोभित बड़े कमल के सरोवर को महारानी ने देखा । (२७) पवन जनित क्षोभ की चंचल तरंगों से देदीप्यमान सागर को; प्रकाशमान रत्नों की अनुपम प्रभा से उज्ज्वल स्वर्गीय विमान को महारानी ने देखा । (२८) चारों ओर फैलती हुई अपनी दीप्ति से आकाशमण्डल को व्याप्त करने वाली रत्नराशि को; और ऊर्ध्वगामी ज्वालाओं वाली जलती हुई घूमरहित अग्नि को जिनदेव की माता ने देखा । (२९) स्वप्न के अन्त में वह जगी और आनन्दविभोर हो गयी । वर्षा ऋतु के कदम्ब पुष्प की भाँति ही उसका शरीर पुलकित हो उठा । (३०) तदनन्तर अकल्पित अशोभ्य वाली वह कृशाङ्गी महारानी उस आनन्द को अपने शरीर में वहन करने में असमर्थ होती हुई, अपने पति के पास पहुँची । (३१) उचित अवसर पाकर उसने महाराज से कहा-स्वामिन् !, मैंने मध्यरात्रि में हाथी से लेकर अग्नि तक के इन स्वप्नों को देखा ।

श्रीमतः श्रीमुखादेषां फलं शुश्रूषुरस्मि तत् ।
 अपूर्वदर्शनं प्रायो विस्मापयति मानसम् ॥३२॥

नरेन्द्रस्तत्फलान्याह किं बहूक्तेन भामिनि ! ।
 अस्मदवंशावतंसं त्वं प्रसोष्यसि सुतोत्तमम् ॥३३॥

जजागार जगद्वन्द्या वयस्याभिः प्रबोधिता ।
 सत्कथाकथनोत्काभिस्तल्पवामार्धशायिनी ॥३४॥

उदतिष्ठत् ततो देवी प्रातरातोद्यनिःस्वनैः ।
 कीर्तनैर्बन्दिवृन्दानां मङ्गलध्वनिशंसिभिः ॥३५॥

निद्रां जह्रीहि देवि ! त्वमिति जागरयत्ययम् ।
 विभातकालः प्रोत्फुल्लपदमाञ्जलिपुटैरिव ॥३६॥

मन्दिमानं गतश्चन्द्रो देवि ! त्वन्मुखनिर्जितः ।
 प्रकाशयत्यथ जगत् प्रबुद्धं त्वन्मुखाम्बुजम् ॥३७॥

इतः प्राच्यां विभान्ति स्म स्तोत्राद् मुक्ताः करा रवेः ।
 इतः सारससंरावाः श्रूयन्ते सरसीष्वपि ॥३८॥

इतश्च कोकमिथुनं निशाविरहविकलवम् ।
 कलैरामन्द्रनिःस्वानैर्मित्रमभ्यर्थयत्यलम् ॥३९॥

(३२) आप श्रीमान् के मुख से मैं इन स्वप्नों का फल सुनना चाहती हूँ । अपूर्वदर्शन प्रायः मन को आश्चर्यचकित कर देते हैं । (३३) राजा अश्वसेन ने उन स्वप्नों का फल कहा—है देवि !, हे रानी !, उंचांदा क्या कहूँ ? हमारे वंश के भूषण उत्तम पुत्र को तुम उत्पन्न करोगी । (३४) शय्या के बाँये अर्धभाग में सोई हुई जगद्वन्दनीया रानी सुन्दर कथाओं को कहने में उत्कण्ठा रखने वाली अपनी सखियों द्वारा जगाई गई । (३५) बाद में वह देवी प्रातः—कालीन वाद्यध्वनि से और बन्दि (=चारण) समुदाय के मंगल ध्वन्यार्थ को कहने वाले कीर्तनों से उठी । (३६) हे महारानी ! निद्रा त्यागो । यह प्रातःकाल विकसित कमलपुष्पों के अञ्जलिपुटों से तुम्हें जगा रहा है । (३७) हे देवि !, आपके मुख की शोभा से जीता हुआ चन्द्र का प्रकाश मन्द हो गया । गतिमान सूर्य आप के मुखकमल का प्रबोध करे । (३८) इधर पूर्व दिशा में थोड़ी छोड़ी हुई सूर्य की किरणें चमक रही हैं, उधर सरोवरों में सारसों का आवाज सुनाई पड़ रही है । (३९) इधर चक्रवाक मिथुन जो रात्रि के विरह से व्याकुल है अपनी मन्द मन्द मधुर ध्वनि से पर्याप्त रूप में अपने मित्र (सूर्य) से प्रार्थना कर रहा है ।

सरस्युद्भिन्नमुकुला नलिनी भ्रमरारवैः ।
 देवि ! प्रबोधयन्तीव पद्माक्षी त्वामिनोदये ॥४०॥
 ताम्रचूडध्वनिस्तारो दम्पत्योः श्लिष्टयोरयम् ।
 दुनोतीव मतो नूनं सद्यो विरहसूचकः ॥४१॥
 सरः शीकरवृन्दानां वोढा मन्दं ववौ मरुत् ।
 प्रफुल्लपङ्कजोत्सर्पत्सौरभोद्गारसुन्दरः ॥४२॥
 कल्याणि ! ते सुप्रभातम् अनघे ! वीरसूर्भव ।
 इति प्रबोधयामासुः पाठैर्मङ्गलपाठकाः ॥४३॥
 सुस्नातः प्रातरातोद्यमङ्गलध्वनिशंसितः ।
 आजुहाव नृपः स्वप्नलक्षणेऽधीतिनो द्विजान् ॥४४॥
 निर्णीतार्था द्विजाः प्राहुर्महास्वप्नांश्चतुर्दश ।
 जिनाम्बा चक्रिमाता वा पश्यतीमान् न चापरा ॥४५॥
 देवी तीर्थकरं वाऽथ चक्रिणं वा प्रसोष्यति ।
 गजसंदर्शनात् पुत्रो गरीयान् भविता तव ॥४६॥
 धुरन्धरो विभुत्वस्य वृषभालोकनाद् भुवि ।
 सिंहाद्वीर्यातिशयवान् दामतो धर्मतीर्थकृत् ॥४७॥

(४०) विकसित कली वाली सरोवरस्थ नलिनी भ्रमरों के गुंजन से हे देवि ! कमलनयना तुम्हें सुपौदय के समय मानों जगा रही है ! (४१) दोनों आश्लिष्ट (=आलिंगनबद्ध) दम्पति के मन को यह सुर्गे के उच्च स्वर को ध्वनि शीघ्र ही मानों विरह के सूचन रूप में पीड़ित कर रहा है । (४२) तालाब के जल के विन्दु समुदाय को वहन करने वाला मन्द मन्द पवन बहने लगा, जो पवन विकसित कमल पुष्प को उत्कट सुगन्धि को फैला कर सुन्दर बना रहा है । (४३) हे निष्पाप !, तू वीर पुत्र को उत्पन्न करने वाली हो ! हे कल्याणि ! तुम्हारा यह सुप्रभात हो ! ऐसा कह कर मंगलपाठक स्तोत्रपाठों से उन्हें जागृत करने लगे । (४४) प्रातः स्नान करके, वाद्यादि मंगल को सुनकर राजा ने स्वप्न लक्षणों के जानने वाले ब्राह्मणों को बुलाया । (४५) ब्राह्मणों ने उन चौदह स्वप्नों के बारे में यह निर्णय दिया कि जिनदेव की माता अथवा चक्रवर्ती की माता ही ये स्वप्न देख सकती है, अन्य कोई नहीं । (४६) यह देवी तीर्थकर पुत्र को अथवा चक्रवर्ती पुत्र को उत्पन्न करेगी । हाथी के देखने से तुम्हारा यह पुत्र श्रेष्ठ पुत्र होगा । (४७) बैल को देखने से पृथ्वी पर ऐश्वर्य में अग्रणी तथा सिंह दर्शन से अतीव पराक्रमी और माला को देखने से धर्मतीर्थ का कर्ता होगा ।

लक्ष्म्या लब्धाभिषेकं स देवेभ्यो मेरुमूर्द्धनि ।
 पूर्णचन्द्राञ्जनानन्दी भास्करादतिभास्वरः ॥४८॥
 सिद्धिसौधध्वजारोपं कर्ताऽऽराधनया ध्वजात् ।
 निधिवान् पूर्णकुम्भेन पद्मकासारदर्शनात् ॥४९॥
 अष्टोत्सरसहस्रोच्चलक्षणैः सहितो भवेत् ।
 क्षीरसागरतो लोकालोकदर्शी स केवली ॥५०॥
 विमानात् स्वर्गतो जन्म रत्नराशेर्गुणाकरः ।
 कर्मौघोदाहकृद् वह्नेर्भविता पुरुषोत्तमः ॥५१॥
 इति तत्फलमाकर्ण्य भूपतिर्मुदेतराम् ।
 कृतसत्कारसन्मानान् विससर्ज द्विजोत्तमान् ॥५२॥
 तदुक्तं सर्वमाचख्यौ पुरो देव्या यथातथम् ।
 एवमस्त्विति सा तुष्टा तद्वाक्यं स्म प्रतीच्छति ॥५३॥
 चक्रुर्वयस्याः शुश्रूषां काचित् ताम्बूलदायिनी ।
 सञ्जाऽऽसीन्मञ्जने काऽपि काचित् तस्याः प्रसाधिका ॥५४॥
 काचिदुक्तवती देव्यै 'मन्दं निगद सञ्चर' ।
 तत्तल्पकल्पने काचिदपरा पादमर्दने ॥५५॥
 काचिद्वपनसंस्कारभूषाभोज्यैरुपाचरत् ।
 अन्या स्थितेषु प्रयत्ना ददावासनमेकिका ॥५६॥

(४८) लक्ष्मीदर्शन से देवताओं द्वारा वह मेरुपर्वत के शिखर पर अभिषेक प्राप्त करेगा और पूर्णचन्द्र के दर्शन से लोगों को आनन्द देने वाला होगा तथा सूर्यदर्शन से अतीव दीप्तिमान होगा । (४९-५०) ध्वजदर्शन से आराधना द्वारा सिद्धिधरूप महालय के उपर ध्वज चढ़ाने वाला वह होगा और पूर्ण घट के दर्शन से द्रव्यशाली होगा; कमलपुष्पो वाले सरोवर के दर्शन से एक हजार आठ लक्षणों वाला होगा तथा क्षीरसागर के दर्शन से लोकालोक को देखने वाला वह केवलज्ञानी होगा । (५१) विमानदर्शन होने के कारण उसका स्वर्ग से जन्म; रत्नों के ढेर से गुणशाली; अग्निदर्शन से कर्म के समूह को मरम करने वाला उत्तम पुरुष होगा । (५२) ऐसे स्वप्नफल को सुनकर राजा अतीव प्रसन्न हुआ । सम्मानपूर्वक सत्कार करके उसने श्रेष्ठ ब्राह्मणों को विदा किया । (५३) (राजा ने) पण्डितों की सारी बात अपनी महारानी को कही । 'ऐसा ही हो' । - ऐसा कहकर उस महारानी ने भी अपनी स्वीकृति दी । (५४) अनेक सखियाँ (रानी की) सेवा में लीन थीं । कोई ताम्बूल देती थी, कोई स्नान कराने में उद्यत थी तथा कोई उसे अलंकृत करने में तल्लीन थी । (५५) कोई सखी देवी से 'धीरे बोलो व धीरे से चलो' ऐसा कहती, कोई शय्या तैयार करने में और अन्य कोई उसके पाँव दबाने में संलग्न रही ।

उपास्यमाना देवीभिर्देवीन्द्राणीव साऽऽलिभिः ।
 अन्तर्वत्नी सुखं तस्थौ विहाराहारसेवनैः ॥५७॥
 दत्तावधिः सुनासीरः समागात् तद्गृहं तदा ।
 पितरौ च ववन्देऽथ त्रिःपरीत्याऽऽनतक्रमः ॥५८॥
 सुरैः सह समारेमे ताण्डवं वाद्यनिःस्वनैः ।
 कल्मीतैरभिनयैः साङ्गहारैश्च मिश्रितम् ॥५९॥
 शक्रस्तवेन तुष्टाव श्रीजिनं जिनमातरम् ।
 स्तुत्वा च परया भक्त्या स्वर्जगाम शतक्रतुः ॥६०॥
 गर्भोत्पत्तिदिनात् तत्र तिर्यग्जृम्भकनिर्जराः ।
 व्यधुर्नित्यमविच्छिन्नां वसुधारां नृपौकसि ॥६१॥
 दधति सा बभौ गर्भरत्नमाकरभूरिव ।
 मातुर्बाधां स नाकार्षीद्विवाग्निबिम्बतोऽम्बुनि ॥६२॥
 नृपतिर्नातृपत् तस्या वदनं पदमसौरभम् ।
 आघ्रायालिरिवोद्भिन्नं नलिनीनलिनोदरम् ॥६३॥

(५६) कोई (सखी) वस्त्रालंकार, आमृषण, भोजन आदि से उसका सत्कार करती थी । अन्ध उसके ठहरने पर आसन दिया करना था । (५७) अनेक अनोखों के द्वारा देवीओं से इन्द्राणी की भाँति सेवा की जाती हुई वह सगर्भा महारानी भ्रमण, भोजन आदि के सेवन से सुखपूर्वक स्थित थी । (५८) अवधिज्ञान से देवराज इन्द्र अप्रतर होकर उस राजा के घर आये और तीन परिक्रमा करके माता पिता को प्रणाम करने लगे । (५९) देवताओं के साथ उसने वाद्यध्वनि, मधुर गीतों, अभिनयों और आङ्गिक हावभाव से मिश्रित ताण्डव नृत्य शुरू किया । (६०) इन्द्र ने शक्रस्तव से जिनदेव और जिनमाता की स्तुति की । परमभक्ति से स्तुति करके इन्द्र स्वर्गलोक का चला गया । (६१) गर्भ की उत्पत्ति के दिन से ही वहाँ तिर्यक् एवं जृम्भक देवता लोग नित्य अखण्डित द्रव्यराशि राजा के भवन में बिखरने लगे । (६२) जिस प्रकार खान की भूमि रत्न को धारण करके शोभा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार गर्भ को धारण करने पर वह (रानी) शोभित थी । पानी में अग्नि का बिम्ब जिस प्रकार कोई नुकसान नहीं पहुँचता है उसी प्रकार उस (गर्भस्थ शिशु) ने माताको बाधा नहीं पहुँचाई । (६३) जिस प्रकार झर विकसित कमलिनी के मध्य की संघर्कर तृप्त नहीं होता है उसी प्रकार उस रानी के कमल के समान सुगन्धित मुख को संघर्कर राजा तृप्त नहीं होता था ।

स मातुरुदरे रेजे त्रिज्ञानज्योतिरुज्ज्वलः ।
 स्फुटस्फटिकोहान्तर्वर्तिरत्नप्रदीपवत् ॥६४॥
 सुरासुरनरैर्वन्धा बभूव भुवनत्रये ।
 कला चान्द्रीव रोचिभिर्भासमाना जिनाम्बिका ॥६५॥
 धन्या वामा हि सा रामा मौलिचूडामणिर्यया ।
 ध्रियतेऽन्तः परब्रह्मधाम काममनोहरम् ॥६६॥
 अथ सा नवमासानामत्यये तनयं सती ।
 प्रासूत त्रिजगदव्यापिज्योतिरुद्धोतिताम्बरम् ॥६७॥
 पौषमास्यसिते पक्षे दशम्यां च विशाखया ।
 युक्ते चन्द्रेऽर्भरूपेण प्रादुरासीद् जगत्प्रभुः ॥६८॥
 ज्ञानत्रयधरो बालो बालार्क इव दिद्युते ।
 स वामायाः इव प्राच्याः कुक्षौ सोद्योतमुद्गतः ॥६९॥
 मरुत्सीकरसंवाही पद्मखण्डं प्रकम्पयन् ।
 ववौ मन्दं दिशः सर्वाः प्रसेदुः शान्तरेणवः ॥७०॥
 हर्षप्रकर्षता सर्वा जनेषु समजायत ।
 मन्दारसुन्दरादिभ्यः पुष्पवृष्टिस्तदाऽपतत् ॥७१॥

(६४) स्फुट स्फटिक के घर में रहे रत्न के प्रदीप की तरह तीन ज्ञान की ज्योत से उज्ज्वल वह माता के पेट में शोभित था । (६५) तीनों लोक में चन्द्र की कला की भाँति कान्ति से देदीप्यमान जिनेश्वर की माता सुर, असुर और मनुष्यों की पूज्य बनी । (६६) वह स्त्री धन्य है तथा स्त्रियों में मूर्धन्य है जिसने अपने अन्दर (गर्भ में) कामदेव के मन को हरने वाला परब्रह्म का तेज धारण किया है । (६७) तीनों लोकों को व्याप्त करने वाले और आकाश को प्रकाशित करने वाले प्रकाशस्वरूप पुत्र को नौ माह व्यतीत हो जाने पर उस महारानी ने जन्म दिया । (६८) पौष माह में, कृष्ण पक्ष में, दशमी तिथि के दिन जब चन्द्र विशाखा नक्षत्र से युक्त था तब बालरूप में जगत्प्रभु का प्राकट्य हुआ । (६९) तीन ज्ञानों को धारण करता हुआ वह बालक बालमूर्त्य की भाँति प्रकाशमान था; वह पूर्वदिशा की कुक्षि (=अन्तराल) के समान वामादेवी की कुक्षि में प्रकाश के साथ उदय में आया । (७०) उस समय सम्पूर्ण दिशाएँ शान्तधूलि वाली थीं तथा जलबिन्दुओं को अन्य स्थान पर ले जाने वाला, कमलखण्ड को कम्पित करने वाला वायु धीरे धीरे बह रहा था । (७१) सर्वत्र लोगों में हर्ष का आधिक्य समुत्पन्न हुआ । तथा मन्दार, सुन्दर आदि वृक्षों पर से पुष्पों की वर्षा होने लगी ।

दिवि दुन्दुभयो नेदुर्विष्वग् ध्वानतताम्बराः ।
आसन् सुराऽसुराः सेन्द्राः सान्द्रानन्दद्युसुन्दराः ॥७२॥

गजदन्ताद्यधःस्थास्तु दिक्कुमार्यः समाययुः ।
जिनजन्मावधेर्ज्ञात्वाऽधोलोकात् कम्पितासनाः ॥७३॥

भोगङ्करा भोगवती सुभोगा भोगमालिनी ।
सुवत्सा वत्समित्रा च पुष्पमाला च नन्दिता ॥७४॥

जिनं जिनाम्बामानम्य ताः संवर्तकवायुना ।
सम्मृजन्ति स्म सद्भक्त्या क्षेत्रं योजनमण्डलम् ॥७५॥

अथोर्ध्वलोकवासिन्यो मेरुनन्दनसंस्थिताः ।
अभ्येयुर्दिक्कुमार्योऽष्टौ तत्क्षणाच्चलितासनाः ॥७६॥

मेघङ्करा मेघवती सुमेघा मेघमालिनी ।
तोयधरा विचित्रा च वारिषेणा बलाहिका ॥७७॥

विकुर्व्याऽभ्राणि ता गन्धोदकवृष्टिं वितेनिरे ।
अवावरीं च पांशूनां तत्क्षेत्रे कुसुमाञ्जिताम् ॥७८॥

रुचकद्वीपमध्यस्थरुचकाद्रिशिरःस्थिताः ।
चत्वारिंशदिमास्ताश्च दिग्विदिग्मध्यकूटगाः ॥७९॥

(७२) स्वर्ग में नगाड़े बजने लगे, चारों ओर सुन्दर ध्वनियों से आकाश व्याप्त हुआ । सुर, असुर, सभी भाव ओर आनन्द की चमक से सौन्दर्यसम्पन्न बन गये । (७३) अपने आसन कम्पित होने पर अवधिज्ञान से जिनप्रभु के जन्म को जानकर गजदन्त आदि के नीचे स्थित दिक्कुमारियाँ अधोलोकसे आयीं । (७४-७५) भोगङ्करा, भोगवती, सुभोगा, भोगमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा, पुष्पमाला व नन्दिता ये दिक्कन्याएँ जिनदेव तथा जिनमाता को प्रणाम करके भक्तिपूर्वक सम्वर्तक वायु से योजनपर्यन्त भूमि को पवित्र करती थीं । (७६) ऊर्ध्वलोक में रहने वाली मेरुनन्दनस्थित आठों दिक्कुमारियाँ, जिनका आसन कम्पित हो गया था, तत्काल आ पहुँचीं । (७७-७८) मेघङ्करा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, तोयधरा, विचित्रा, वारिषेणा, बलाहिका—इन कन्याओं ने बादलों का निर्माण कर, धूलि को दूर करनेवाली पुष्पसम्मिश्रित गन्धोदक की वृष्टि उस क्षेत्र में की । (७९) रुचकद्वीप के मध्य में स्थित, रुचकपर्वत की चोटी पर रहने वाली, दिग्-विदिग्-मध्यकूटवासिनी चालीस वे दिक्कुमारियाँ भी आ पहुँचीं ।

तत्र नन्दोत्तरा नन्दा सुनन्दा नन्दिवर्धिनी ।
विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता ॥८०॥

एताः प्राञ्चकादेत्य नत्वाऽर्हन्तं समातरम् ।
गायन्त्यः कलगीतिं तास्तस्थुर्दर्पणपाणयः ॥८१॥

समाहारा सुप्रदत्ता सुप्रबुद्धा यशोधरा ।
लक्ष्मावती शेषवती चित्रगुप्ता वसुन्धरा ॥८२॥

अष्टावपाचीरुचकादेत्यैता नततत्क्रमाः ।
त्रिः परीत्य कृतोद्गानास्तस्थुर्भृङ्गारपाणयः ॥८३॥

इलादेवी सुरादेवी पृथ्वी पद्मावती तथा ।
एकनासा नवमिका भद्राऽशोका च ता इमाः ॥८४॥

प्रतीचीरुचकादष्टावभ्येत्याऽऽनततत्क्रमाः ।
तिस्रः प्रदक्षिणा दत्त्वा तालवृन्तकराः स्थिताः ॥८५॥

अलम्बुसा मितकेशी पुण्डरीका च वारुणी ।
हासा सर्वप्रभा श्री हीरष्टोदयुचकादिमाः ॥८६॥

अभ्येत्य भगवन्तं तं भगवन्मातरं तथा ।
त्रिः परीत्य नमस्कृत्य तस्थुश्चामरपाणयः ॥८७॥

(८०-८१) उनमें से नन्दोत्तरा, नन्दा, सुनन्दा, नन्दिवर्धिनी, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती व अपराजिता ये दिक्कन्याएँ रुचक के पूर्वभाग से आकर माता सहित अर्हत् देव को नमस्कार करती थीं तथा हाथ में शीशा (दर्पण) लेकर मधुर कण्ठ से गाती हुई स्थित थीं । (८२-८३) समाहारा, सुप्रदत्ता, सुप्रबुद्धा, यशोधरा, लक्ष्मीवती, शेषवती, चित्रगुप्ता, वसुन्धरा— ये आठ दिक्कन्यायें रुचक के दक्षिण भाग से आकर नतमस्तक हुईं तथा झारी हाथ में लिए हुए तीन परिक्रमा करके गाती हुई स्थित रहीं । (८४-८५) इलादेवी, सुरादेवी, पृथ्वी, पद्मावती, एकनासा, नवमिका, भद्रा तथा अशोका—ये दिक्कन्यारियाँ रुचक के पश्चिम भाग से आकर नतमस्तक होकर, तीन तीन प्रदक्षिणा देकर तालवृन्त (=ताल के वृक्ष का गुच्छा) लेकर स्थित रहीं । (८६-८७) अलम्बुसा, मितकेशी, पुण्डरीका, वारुणी, हासा, सर्वप्रभा, श्री, ही—ये आठ दिक्कन्याएँ रुचक के उत्तरभाग से आकर भगवान् जिनदेव तथा उनकी माता को नमस्कार करके चामर हाथ में लिये हुए स्थित रहीं ।

चित्राऽथ चित्रकनका सुतेजाश्च सुदामिनी ।
 विदिप्रुचकवासिन्यश्चतस्रो दीपपाणयः ॥८८॥
 रूपा रूपान्तिका चाथ सुरूपा रूपवत्यपि ।
 मध्यस्थरुचकादेताश्चतस्रोऽभ्येत्य तत्क्रमात् ॥८९॥
 नत्वा शिशोर्नाभिनालं चतुरङ्गुलवर्जितम् ।
 छित्त्वा भूमिगतं चक्रुः सुगन्धद्रव्यपूरितम् ॥९०॥
 गर्तं विधाय तत्राथ वेदीं निर्माय निर्मलाम् ।
 दूर्वाभिरञ्चितां सर्वा मिलित्वा भक्तिपूर्वकम् ॥९१॥
 विशालान् सचतुःशालांश्चकुलीन् कदलीगृहान् ।
 पीठत्रययुतांस्तत्राभ्यङ्गोद्घर्त्तनमञ्जनैः ॥९२॥
 जिनस्य जिनमातुश्च भक्तिं कृत्वा गरीयसीम् ।
 आभियोगिकदेवेभ्यः क्षुद्राद्धिमवतो गिरेः ॥९३॥
 गोशीर्षचन्दनैर्वास्याऽऽनाययामासुरादृताः ।
 तान्यग्नौ भस्मसात्कृत्वा भूतिकर्म विभोः करे ॥९४॥
 रक्षां बद्ध्वा पर्वतायुर्भवेत्याशिषमुज्जगुः ।
 कलस्वरेण ताश्चकुर्भगवद्गुणकीर्तनम् ॥९५॥

(८८) चित्रा, चित्रकनका, सुतेजा, सुदामिनी-ये चारों रुचक के अन्तर्दिग्भागों में रहने वाली दिक्कन्याएँ हाथ में दीपक लिए हुए (स्थित) थीं। (८९-९०) रूपा, रूपान्तिका, सुरूपा व रूपवती-इन चारों ने मध्य रुचक से क्रमशः आकर बालक जिनके चार अंगुल प्रमाण नाभिनाल को छोड़कर शेष नाभिनाल को काटकर पृथक् कर दिया और उसे सुगन्धित द्रव्य सहित जमीन में गाड़ दिया। (९१) उन सबने भक्तिपूर्वक मिलकर, वहाँ एक गड्ढा बनाकर, शुद्ध वेदी का निर्माण कर उसे हरित दूर्वा से सुशोभित कर दिया। (९२-९५) (उसके बाद) वहाँ उन सबने मिलकर विशाल चार शालाओं वाले और तीन पीठों से युक्त तीन कदलीगृहों का भक्तिपूर्वक निर्माण किया। वहाँ कदलीगृहों में अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान द्वारा जिन को और जिनमाता की बड़ी भक्ति करके, आभियोगिक देवों के पास क्षुद्र हिमवतपर्वत पर से गोशीर्ष तथा चन्दन के काष्ठ माँगवाये और उनको अग्नि में भस्मीभूत करके आदरयुक्त उन दिक्कन्याओं ने भूतिकर्म किया। बाद में उन्होंने प्रभु के हाथ में रक्षोसूत्र बाँधकर 'पर्वत के समान आयु हो' ऐसा आशीष दिया और सुमधुर स्वर से भगवान् जिन का गुणकीर्तन प्रारंभ किया।

तद्द्वयं जन्मगेहे ताः संस्थाप्याऽऽगुर्निजालयान् ।
 शक्रः शक्रासनोत्कम्पाद् जिनजन्म विभावयन् ॥९६॥
 शक्रस्तवेनाभिष्टुत्य सुघोषामप्यवादयत् ।
 जिनजन्माभिषेकाय क्षिप्रमभ्युद्यतोऽभवत् ॥९७॥
 वैमानिक—ज्योतिषिक—वन्य—भावनसद्मसु ।
 नेदुर्घण्टाः सिंहनादभेरीशङ्खस्वनान्तराः ॥९८॥
 श्रुत्वैषामारवं देवा भगवज्जन्म मेनिरे ।
 निर्ययुः स्वालयाच्छक्राज्ञयाऽभ्रपटला इव ॥९९॥
 गजाश्वरथगन्धर्वनर्तकीभटसंयुताः ।
 सवृषा निर्ययुर्नाकात् सप्तानिकास्तु नाकिनाम् ॥१००॥
 सौधर्मेन्द्रः शचीयुक्तः प्रतस्थे पालकाभिधम् ।
 समारुह्यात्मरक्षाद्यैः सुरैः सामानिकैर्बृतः ॥१०१॥
 केऽपि नृत्यन्ति गायन्ति हसन्त्यास्फोटयन्त्यथ ।
 वलान्त्यन्ये सुपर्वाणः प्रमोदभरमेदुराः ॥१०२॥
 नभोम्बुधौ चलद्दिव्यविमानगणपङ्क्तयः ।
 रेजिरे मारुतोद्भूतलोलद्वेलाचला इव ॥१०३॥

(९६-९७) उन दोनों (=माँ-बेटे) को जन्मगृह में स्थापित करके (उन दिक्कुमारियोंने) अपने घर को प्रस्थान किया। इन्द्रदेव भी जिनजन्म का विचार करते हुए वहाँ आये और शक्रस्तव से स्तुति करके 'सुघोषा' नामक घंटा बजाकर जिनप्रभु के जन्म के बाद किये जाने वाले अभिषेक के लिए शीघ्र ही उद्यत हो गये। (९८) वैमानिक, ज्योतिषिक, व्यन्तर और भवनवासी देवों के भवनों में सिंहनाद, नगाड़े, भेरी और शंख की ध्वनि से मिश्रित घण्टानाद होने लगा। (९९-१००) चारों ओर फैलाई हुई इनकी ध्वनि सुनकर सभी देवों ने भगवान् का जन्म होना मान लिया और इन्द्र की आज्ञा से सभी देव अपने-अपने भवनों से बादल के समूह की तरह निकल पड़े। स्वर्गवासी देवताओं को गज, अश्व, रथ, गन्धर्व, नर्तकी, भटों और वृषभ से युक्त सेनाएँ स्वर्ग से निकल पड़ी। (१०१) आत्मरक्ष (=सामानिक देवों का एक प्रकार) आदि सामानिक देवों से घिरे हुए सौधर्मेन्द्र ने इन्द्राणी के साथ पालक नामक विमान में बैठकर प्रस्थान किया। (१०२) कोई देव आनन्दविभोर होकर नाच रहे हैं, कोई अन्य गा रहे हैं, अन्य हंस रहे हैं, अन्य आस्फोटन कर रहे हैं तथा अन्य कूद रहे हैं। (१०३) आकाश रूपी सागर में दिव्य विमानों की पंक्तियाँ वायु से उठी हुई चंचल गतिशील वेला की भाँति सुशोभित हो रहीं थीं।

सेन्द्राः सुराऽसुरा व्योम्नि स्वैर्विमानैः स्ववाहनैः ।
 नाकान्तरमिवाऽऽतेनुः संपृक्ताश्छादिताम्बरैः ॥१०४॥
 अवतीर्य क्रमात् सर्वे नभसः काशिपत्तनम् ।
 प्रापुर्जयारवोन्मिश्रदुन्दुभिध्वानडम्बराः ॥१०५॥
 अरिष्टगृहमासाद्य शची नत्वा जगत्प्रभुम् ।
 जिनाम्बायाः स्तुतिं चक्रे शतक्रतुयुता ततः ॥१०६॥
 सर्वगीर्वाणपूज्ये ! त्वं महादेवी महेश्वरी ।
 रत्नगर्भाऽसि कल्याणि ! वामे ! जय यशस्विनि ! ॥१०७॥
 स्तुत्वेति तामथो मायानिद्रयाऽयोजयत् ततः ।
 मायाशिशुं पुरोधाय जिनमादाय सा ययौ ॥१०८॥
 मुखं वीक्ष्य प्रभोद्दीप्तं परमां मुदमाप सा ।
 अष्टमङ्गलहस्तास्तु देव्यस्तस्याः पुरो बभुः ॥१०९॥
 पञ्चरूपोऽभवच्छक्रः छत्रमेकेन चामरे ।
 द्वाभ्यां पुरस्थैकेन वज्रमुल्लालयन्नभूत् ॥११०॥
 रूपेणान्येन शच्यङ्कात् स्वाङ्कपर्यङ्कगं जिनम् ।
 विधाय विलुलोके तं प्रमोददिकसदृश ॥१११॥

(१०४) इन्द्र के साथ परस्पर संलग्न सुरों असुरों ने अपने विमानों से और वाहनों से आकाश को आच्छादित करके मानों दूसरे स्वर्ग का निर्माण कर दिया । (१०५) आकाश से क्रम से उतरकर वे सभी जयजयकार से मिश्रित दुन्दुभि की ध्वनि करते काशीनगर पहुँचे । (१०६) सूतिकागृह में पहुँचकर इन्द्राणी ने जगत्प्रभु को नमस्कार करके, इन्द्रदेव के साथ जिनदेव की माताजी की स्तुति की । (१०७) हे वामादेवी ! हे यशस्विनि ! हे कल्याणि ! हे देवपूज्या !, तुम महादेवी हो, महेश्वरी हो, रत्नगर्भा हो, तुम्हारी जय हो । (१०८) उसकी स्तुति करने के पश्चात्, उसकी मायानिद्रा से युक्त क्रिया और मायाशिशु को उसके आगे रखकर वह इन्द्राणी जिनदेव को लेकर चली गई । (१०९) कान्तियुक्त मुख को देखकर वह परम प्रसन्न हुई । हाथों में अष्टमंगल धारण किये हुए देवियाँ उसके सम्मुख शोभा पा रही थीं । (११०) देवराज इन्द्र पाँच रूपवाला हो गया । एक रूप से छत्रों को, दो रूपों से चामर को तथा एक रूप से वज्र को ऊँचा उठाये हुए था । (१११) इन्द्र अन्य एक रूप से इन्द्राणी की गोद से अपनी गोद रूपी पलंग पर जिनदेव को स्थित करके प्रसन्नता से विकसित नेत्र से उसे देखने लगा ।

जय त्वं जगतामीश ! परमज्योतिरात्मभूः ।
 जगद्धाता जगत्त्राता त्वमेव पुरुषोत्तमः ॥११२॥
 जगद्गुरो ! नमस्तुभ्यं नमस्ते विश्वमूर्तये ।
 अनन्तगुणपूर्णाय गुणातीताय ते नमः ॥११३॥
 इत्यभिष्टुत्य देवेन्द्रश्चचाल प्रति मन्दरम् ।
 वद्धस्व जय नन्देति देवैर्निजगिरे गिरः ॥११४॥
 ईशानेन्द्रः शूलपाणिरागाद् वृषभवाहनः ।
 पुष्पकारूढ एवायं मेरौ समवातरत् ॥११५॥
 इत्थं वैमानिका इन्द्रा दशैव सपरिच्छदाः ।
 सूर्याचन्द्रमसौ वन्यव्यन्तराणामधीश्वराः ॥११६॥
 द्वात्रिंशद्विंशतिस्तत्र भावनानामधीश्वराः ।
 स्वाङ्गरक्षकसामानिकर्द्धियुक्ताः समाययुः ॥११७॥
 अथोत्पेतुः सुरपथं सुरास्तु सुरचापताम् ।
 तन्वानाः नैकधा रत्नभूषावर्णांशुसंकरैः ॥११८॥
 जगुर्मङ्गलगीतानि जिनेशस्याप्सरोगणाः ।
 अङ्गहारैर्विदधिरे नाट्यं रोचकनर्त्तनैः ॥११९॥
 दिव्यं भगवतो रूपं विस्फारितदशः सुराः ।
 विलोकयन्तः सफलां मेनिरे स्वानिमेषताम् ॥१२०॥

(११२) हे जगद्देवर ! आप की जय हो ! आप जगत्धाता, जगत्त्राता, परमज्योतिर्मय, स्वयंभू तथा पुरुषोत्तम हैं । (११३) हे जगद्गुरु ! आपको नमस्कार हो, विश्वमूर्तिरूप आपको नमस्कार हो, गुणातीत और अनन्तगुणों से पूर्ण आपको नमस्कार हो । (११४) देवराज इन्द्र इस प्रकार स्तुति करके मन्दारपर्वत को चले गये । देवताओं ने 'जय हो', 'प्रसन्न रहो' 'खूब बढ़ो' ऐसी वाणियाँ कहीं । (११५) वृषभवाहन शूलपाणि ईशानेन्द्र भी पुष्पक विमान में बैठकर सुमेरुपर्वत पर उतर पड़े । (११६-११७) इस प्रकार वैमानिक देवों के दस इन्द्र सपरिवार आये, सूर्यदेव और चन्द्रमा आये, व्यन्तरदेवों के इन्द्र आये, भवनपति देवों के छःसौ चालीस इन्द्र अपने अंगरक्षक सामानिक देवों की ऋद्धि के साथ आये । (११८) अपने रत्नलंकारों की रंगबिरंगी किरणों के संकर से मेघधनु को नाना प्रकार से रचना करते हुए देवता लोग आकाश में उड़े । (११९) अप्सराएँ जिनदेव के मंगलगीत गाने लगीं और अंगहार नर्तन के साथ नाटक करने लगीं । (१२०) भगवान् के दिव्य रूप को विस्फारित नेत्रों से देखने वाले देवों ने अपनी अनिमेषता को सफल माना ।

क्रमात्प्रापुः सुमेरोस्ते विपिने पाण्डुकाभिधे ।
 अतिपाण्डुकम्बलाह्वाम् शिलां कुन्देन्दुसुन्दराम् ॥१२१॥
 योजनानां पञ्चशतं सा दीर्घा पृथुला पुनः ।
 तदर्धं च चतुर्योजनोच्चाऽर्धे[न्]दुसमाकृतिः ॥१२२॥
 पीठं धनुःपञ्चशतदीर्घं तद्दलविस्तरम् ।
 धनुश्चतुष्टयेनोच्चं मङ्गलाष्टकसंयुतम् ॥१२३॥
 निवेश्य प्राङ्मुखः शक्रः प्रभुं स्वाङ्कगतं ततः ।
 तत्राच्युतेन्द्रेण सुरा आज्ञप्ताः कलशान् व्यधुः ॥१२४॥
 अष्टोत्तरसहस्रं ते कुम्भान् हेममयानथ ।
 तथैव राजतान् स्वर्णरूपोत्थांश्च मणीमयान् ॥१२५॥
 स्वर्णरत्नमयान् रूप्यरत्नाद्वयांस्त्रिविधानपि ।
 मृण्मयानपि तानेवं भृङ्गारादींश्च निर्ममुः ॥१२६॥ युग्मम् ॥
 क्षीरोद-पुष्करोदादेर्जलं गङ्गादिसिन्धुतः ।
 पद्महृदादेरब्जानि वैताद्यादेस्तथौषधीः ॥१२७॥
 सर्वर्तुकानि पुष्पाणि भद्रशालवनादितः ।
 गोशीर्षचन्दनादीनि गृहीत्वा ते समाययुः ॥१२८॥

(१२१) क्रमशः वे देवता सुमेरु के पाण्डुक नामक वन में, कुन्द और चन्द्र जैसी धबल अतिपाण्डुकम्बल नामक शिला के पास पहुँचे । (१२२) वह शिला पाँचसौ योजन लम्बी थी और चौड़ी थी उसका आधा भाग (दोसौ पचास योजन) । वह चार योजन ऊँची थी और अर्धचन्द्र की आकृतिवाली थी । (१२३-१२४) (उस भाग पर आयी हुई) पाँचसौ धनुषलम्बी, उस भाग जितनी विस्तृत, चार धनुष ऊँची, मंगलाष्टक से युक्त पीठ पर पूर्वाभिमुख इन्द्र ने अपनी गोद में रहे हुए प्रभु को रखा । बाद में अच्युतेन्द्र की आज्ञा से देवों ने वहाँ कलशों का निर्माण किया । (१२५) (उन्होंने) एक हजार आठ स्वर्णमय कुम्भ तथा उसी प्रकार के चाँदी के तथा स्वर्ण में मणिजड़ित कुम्भ तैयार किये । (१२६) स्वर्णरत्नमय, रूप्यरत्नमय और मृण्मय ऐसे त्रिविध कलश तैयार करने के साथ झारी आदि पात्र भी बनाये । (१२७-१२८) क्षीरसागर, पुष्करोद आदि से तथा गंगा एवं सिन्धु आदि से जल और पद्महृद आदि से कमल तथा वैताड्यवर्त आदि से औषधियाँ व भद्रशालवन आदि से सभी ऋतुओं के पुष्प तथा गोशीर्षचन्दन आदि लेकर वे आये ।

सुराः क्षीराम्बुधेः कुम्भैः शातकुम्भमयैर्मुदा ।
 स्नानीयम् अथ पानीयमानयामासुरुज्ज्वलम् ॥१२९॥

तैरम्भःपूरितैः कुम्भैर्मुखे योजनविस्तृतैः ।
 वसुयोजनगम्भीरैरारब्धः सवनोद्भवः ॥१३०॥

ते चान्दनैर्द्रवैरब्जैर्मुक्तादामभिरञ्चिताः ।
 सुरैः करधृता व्योम्नि शतचन्द्रश्रियं दधुः ॥१३१॥

जिनजन्माभिषेके प्राक् कलशोद्धारमाचरत् ।
 अच्युतेन्द्रो जयेत्युक्त्वा धुरि धारां न्यपातयत् ॥१३२॥

तस्थुः शेषास्तु कल्पेन्द्राश्छत्रचामरधारिणः ।
 सधूपभाण्डकलशा वज्रशूलास्त्रपाणयः ॥१३३॥

ततो दुन्दुभयस्तारं दध्वनुर्व्याप्तदिकृतटाः ।
 नृत्यमारेभिरे देवनर्तक्यः कलगीतिकम् ॥१३४॥

कालागुरुकृतोद्दामधूपधूमः खमानशे ।
 साक्षतोदकपुष्पाणि निक्षिप्यन्ते स्म नाकिभिः ॥१३५॥

केचित् सुरा गन्धवर्तिं कुर्वते गन्धबन्धुराम् ।
 परे सुवर्णाभरणरत्नपुष्पादिवर्षणम् ॥१३६॥

(१२९) देवता लोग क्षीरसागर से स्वर्णमय कलशों में, प्रसन्नतापूर्वक स्नान का उज्ज्वल जल लाये । (१३०) उन जलपूर्ण, अष्टयोजन गहरे, मुख में योजनपर्यन्त विस्तृत घड़ों द्वारा स्नान का उत्सव प्रारंभ किया गया । (१३१) द्रवित चन्दनचूर्ण तथा मोतिओं से अलंकृत, देवताओं के द्वारा हाथ में धारित वे कलश आकाश में सौकड़ों चन्द्र की शोभा को धारण करते थे । (१३२) अच्युतइन्द्र ने जिन भगवान् के जन्माभिषेक में प्रथम कलश उठाया और 'जय जय' की ध्वनि के साथ अग्रभाग में जलधारा डाली । (१३३) शेष कल्पेन्द्र छत्र, चामर धारण किये हुए, धूमपात्र और कलश सहित तथा वज्र, शूल व अस्त्रादि हाथ में लिये हुए स्थित थे । (१३४) तब चारों दिशाओं को व्याप्त कर देने वाले नगाड़े जोर से बजने लगे । देवनर्तकियाँ मधुर ध्वनि से गीत गाती हुई नृत्य करने लगीं । (१३५) कालागुरु से किया उटकट धूप का धुआँ आकाश में फैल गया और देवों के द्वारा अक्षत सहित पुष्प, जल आदि फेंके जाने लगे । (१३६) कोई देवता सुगन्धित धूप करने लगे, कुछ अन्य सुवर्णभूषण के साथ रत्न और पुष्प की वर्षा करने लगे ।

परे ततं च विततं शुषिरं धनमुच्चकैः ।
 एतत् चतुर्विधं वाद्यं वादयन्ते स्म निर्भरम् ॥१३७॥
 एके गायन्ति वल्गन्ति नृत्यन्त्यास्फोटयन्त्यथ ।
 सिंहनादं तथा हस्तिबंधितं चक्ररुच्चकैः ॥१३८॥
 केचिज्जिनगुणोद्गानं कीर्तनं विदधुस्तराम् ।
 इन्द्रः कृताभिषेकोऽयं मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिर्जगौ ॥१३९॥
 मुहुर्मुहुर्जयजयाऽऽरावं सम्मृज्य वाससा ।
 चन्द्रचन्दनजैः पङ्कैरानर्चं जगतां पतिम् ॥१४०॥
 नृत्यं विधाय सद्भक्त्या चक्रे रजततण्डुलैः ।
 र्मङ्गलान्यष्ट संलिख्य कुसुमोत्करमक्षिपत् ॥१४१॥
 कृतधूपोऽपसृत्याथ वृत्तैरस्तौन्मनोहरैः ।
 ईशानेन्द्रस्तथा स्नात्रं चक्रे सद्भक्तिनिर्भरः ॥१४२॥
 ततः शक्रो भगवतश्चतुरो वृषभान् सितान् ।
 चतुर्दिक्षु विनिर्माय तच्छृङ्गेभ्यो न्यपातयत् ॥१४३॥
 अष्टधोत्पत्य मिलितामेकधारां समन्ततः ।
 क्षीरोदनीरजां मूर्ध्नि सा पतन्ती विभोर्व्यभात् ॥१४४॥

(१३७) अन्य कुछ देवता तत, वितत, शुषिर और धन ये चारों प्रकार के वाद्य जोर से बजाने लगे । (१३८) कुछ देव गाते हैं, कुछ चेष्टा करते हैं, कुछ नाचते हैं तथा कुछ आस्फोटन करते हैं । कुछ सिंहनाद कर रहे हैं तथा कुछ जोर से ढाथी की तरह चिंघाड़ते हैं । (१३९) कुछ जिनदेव के गुणगानरूप कीर्तन करते हैं । अभिषेक करने पर इन्द्रदेव मस्तक पर हाथ जोड़ कर स्तुति करने लगे । (१४०) इन्द्र बारम्बार 'जय जय' की ध्वनि के साथ वस्त्र से जगत्पति को पौछकर चन्दन से उत्पन्न पङ्क से पूजा करते थे । (१४१) इन्द्रदेव बड़ी भक्ति के साथ नृत्य करके चाँदी के चावलों से आठ मंगलों का आलेखन करके पुष्पों की वर्षा करने लगे । (१४२) धूप करके, थोड़ा हटकर, ईशानइन्द्र सुन्दर स्तोत्रों से प्रार्थना करने लगे और बड़ी भक्ति के साथ भगवान् को स्नान कराने लगे । (१४३) उसके पश्चात् इन्द्रदेव भगवान् की चारों दिशाओं में चार श्वेत वृषभों का निर्माण करके उनके सींगों से जलधारायें गिराने लगे । (१४४) आठ प्रकार से उछल कर, चारों ओर से एकत्र होकर मिली हुई क्षीरसागर के जल की एकधारा भगवान् के मस्तक पर पड़ती हुई शोभित होती थी ।

सौधर्मेन्द्रो जयेत्युक्त्वा वारिधारां न्यपातयत् ।
जयध्वनिप्रतिध्वानैः सुराः सांराविणं व्यधुः ॥१४५॥
दोः सहस्रैः सहस्राक्षः कलशानुज्जहार यत् ।
तद्भाजनाङ्गैः कल्पद्रुशाखाभूषां जिगाय सः ॥१४६॥
जिनमूर्ध्नि पतन्ती सा धारा हारानुकारिणी ।
स्वर्गङ्गेव रराजोच्चैर्हिमाद्रिशिखरे ध्रुवम् ॥१४७॥
अनन्तरं च शेषेन्द्रैः समस्तैश्च समन्ततः ।
विष्वदीची पयोधारा पातिता पावनक्षमा ॥१४८॥
महापगाप्रवाहाभा वारिधाराः स्वमूर्धनि ।
गिरीशवदुवाहोच्चैर्भगवान् गिरिसारभृत् ॥१४९॥
जिनाङ्गसङ्गपूताङ्गा निर्मला वारिबिन्दवः ।
भेजुर्बुध्वर्गतिं मूर्ध्नि सम्पातोच्छलनच्छलात् ॥१५०॥
केऽपि तिर्यग्गता वारिशीकराः शीभवाः इव ।
दिग्गजानां करास्फालनाग्रगाः किल रेजिरे ॥१५१॥
जडानामुच्चसङ्गोऽपि नीचैः पाताय केवलम् ।
उत्पतन्तोऽप्यधः पेतुः स्नानीया जलबिन्दवः ॥१५२॥

(१४५) सौधर्मेन्द्र 'जय' शब्द कहकर जलधारा को गिराने लगे । 'जय-जय'ध्वनि की प्रतिध्वनि से सभी देवता जोर की आवाजें करने लगे । (१४६) हजारों भुजाओं से इन्द्र कलश उठाते थे । उस समय वह उन पात्रों से कल्पवृक्ष की शोभा को भी जीत लेते थे । (१४७) कण्ठहार के समान, भगवान् जिनदेव के मस्तक पर पड़ती हुई वह जलधारा हिमालय के शिखर पर जोर से पड़ती हुई देवनादी गंगा की तरह शोभित होती थी । (१४८) इसके पश्चात् समस्त शेष इन्द्र आदि देवों ने चारों ओर फैलने वाली और पवित्र करने वाली जलधारा छोड़ी । (१४९) पर्वत के बल को धारण करने वाले भगवान् ने हिमालय की भाँति अपने मस्तक पर गंगा आदि नदियों के प्रवाह के समान पड़ती हुई जलधाराओं को धारण किया । (१५०) जिनेश्वर भगवान् के अंग के संग से जिनके अंग पवित्र हुए हैं ऐसी निर्मल पानी की बूँदे मस्तक पर पड़ कर, उछलने के बहाने से ऊपर उठती थीं । (१५१) स्नानाभिविक के समय कतिपय तिरछी हुई जल की बूँदे दिग्गजों की सूँड के आस्फालन से दूर तक फैलते हुए फुव्वारे की तरह शोभित होती थीं । (१५२) जड़ (=मूर्ख) लोगों की उच्च लोगों के साथ संगति भी मात्र नीचे की ओर पतन के लिए ही होती है । इसी प्रकार स्नानसंबंधी जल की बूँदे ऊपर उठती हुई भी नीचे की ओर ही गिरती थीं ।

जन्मस्नानाम्बुना पूता जिनस्य ननु निम्नगाः ।
 जनो हि मज्जनादाशु शुद्धः स्यादन्यथा कथम् ॥१५३॥
 सुमेरो रत्नकूटे तु विचित्रमणिमण्डिते ।
 प्रसर्पत्पयसां पूरः सुरचापश्रियं दधौ ॥१५४॥
 अधिमेरु परिस्फीतः क्षीराब्धिपयसां चयः ।
 परिधापयति स्मेव दुकूलैः पाण्डुरैरमुम् ॥१५५॥
 स्फाटिको राजतो वाऽयं हिमाद्रिर्वा सुधागिरिः ।
 तर्क्यते स्म सुरस्त्रीभिर्मेरुः स्नात्राम्बुसम्प्लुतः ॥१५६॥
 शीकराः सर्वदिग्ब्याप्ता मुक्ताभाश्चोत्पतिष्णवः ।
 केचिद् दधुर्विभोर्मूर्धनि शुभ्रभामण्डलश्रियम् ॥१५७॥
 शङ्ख-कुन्देन्दु-डिण्डीर-हार-हीरक-सन्निभाः ।
 प्रासरन् पयसां वाहाः कीर्तिपूरा विभोरिव ॥१५८॥
 स्नानाम्भसां प्रवाहौघे हंसो हंस इवाऽऽबभौ ।
 तरन् मन्थरया गत्या जडिमानं परं गतः ॥१५९॥
 सवनाम्बुनिमग्नास्तास्तारास्तारतरद्युतः ।
 गलज्जललवा व्योम्नि बभुः करकसन्निभाः ॥१६०॥

(१५३) नदियों निश्चितरूप से जिनदेव के जन्म के स्नानजल से मानों पवित्र हो गईं। नहीं तो (उनमें) स्नान करने से लोग शीघ्र कैसे शुद्ध हो सकते हैं ? (१५४) सुमेरु पर्वत के विचित्र मणिमण्डित रत्नशिखर पर फैला हुआ जल का वेग इन्द्रधनुष की शोभा को धारण करता था। (१५५) सुमेरुपर्वत पर विस्तृत फैला हुआ क्षीरसागर के जल का समुदाय मानों उन जिन भगवान को सफेद रेशमी दुपट्टों से ढक देता था। (१५६) 'यह स्फटिक से बना है या रजत से' 'यह हिमगिरि है या सुधागिरि?'—ऐसी आशंका देवङ्गनाथों को स्नात्र के जल में डूबे मेरुपर्वत के विषय में हुई। (१५७) ऊपर की ओर उठती हुई, सभी दिशाओं में व्याप्त जल की बूँदे जो मोती के समान चमकती थीं, भगवान् जिन के मस्तक पर शुभ्र मण्डल की शोभा को धारण करती थीं। (१५८) शंख, कुन्दपुष्प, चन्द्र, हार और हीरे के समान ये जल के प्रवाह विभु जिनदेव की कीर्ति की बाह की तरह फैल गये। (१५९) स्नान के जल के प्रवाहसमुदाय में सूर्य हंसपक्षी की तरह शोभित था। तथा धीमी गति से तैरता हुआ अत्यन्त जडभाव को प्राप्त हो गया (उण्डा हो गया)। (१६०) स्नात्रजल में डूबे गिरते हुए पानी की बूँदवाले और अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाशवाले तारे आकाश में ओलों के सदृश चमकते थे।

पयःपूरैर्विलसांशुप्रतापं चण्डरोचिषम् ।

तारागणः शशिभ्रान्त्या तमसेवीत् परिभ्रमन् ॥१६१॥

जिनस्तानाम्बुपूरेण नृलोके निगमादयः ।

निरीतयो निरातङ्गाः प्रजाः सर्वाः पवित्रिताः ॥१६२॥

नृलोकस्यैव गरिमा त्रिजगत्सु विशिष्यते ।

यत्रावतीर्य भगवान् पुनाति भुवनत्रयम् ॥१६३॥

ज्वलत्सु रत्नदीपेषु पठत्सु सुरबन्दिषु ।

गद्यपद्यात्मकं स्तोत्रं विभोर्वैभवशंसनम् ॥१६४॥

निनदत्सु मृदङ्गेषु गायन्तीषु कलस्वरम् ।

किन्नरीषु च गन्धर्वैः प्रारब्धे तत्र ताण्डवे ॥१६५॥

नृत्यन्तीषु सुरस्त्रीषु मेरुरङ्गे सविभ्रमैः ।

अङ्गहारैर्लयोपेतैः कारणैः सपरिक्रमैः ॥१६६॥

कृतमङ्गलसङ्गीतं शृण्वत्सु मधवादिषु ।

जयनन्दारवोन्मिश्रप्रतिध्वानो विजृम्भितः ॥१६७॥

तौर्यत्रिकमहाध्वानोऽपूरयद् रोदसी असौ ।

चक्रः सुरासुराः सर्वे मन्दारसुमवर्षणम् ॥१६८॥

(१६१) पानी की बाढ से जिसकी किरणों आ प्रताप नष्ट हो गया है उस सूर्य को चन्द्र समझकर तारागण उसको परिक्रमा करते हुए सेवा कर रहे थे । (१६२) भगवान् जिन के स्नात्रजल की बाढ से मनुष्यलोक में निगम (सार्थवाह) आदि समस्त प्रजा इतियों से रहित, आतंक से मुक्त और शुद्ध बनी । (१६३) मनुष्य लोक की गरिमा (विशिष्टता) तीनों लोकों में उत्तम है, जहाँ पर भगवान् जिनदेव ने जन्म लेकर मानों तीनों लोकों को पवित्र किया है । (१६४-१६५) रत्नदीपों के जलने पर, प्रभु के वैभव को प्रकट करने वाला गद्यपद्यात्मक स्तोत्र का पाठ दिव्य स्तुतिपाठकों के द्वारा किये जाने पर, मृदङ्गों के बजने पर, किन्नरियों के द्वारा मधुरगान होने पर गन्धर्वों ने ताण्डवनृत्य शुरू किया । (१६६-१६७) हावभाववाले लयोपेत तालबद्ध और बलयाकार भ्रमणों से युक्त अभिनयों से देवङ्गनाओं के द्वारा मेरुरंग-भवन में नृत्य किये जाने पर, किये गये मंगल संगीत को इन्द्र आदि द्वारा सुने जाने पर, 'जय' 'नन्द' शब्दों की आवाज से मिश्रित प्रतिध्वनि फैल गई । (१६८) तौर्यत्रिक (वाद्य, गान और नृत्य) की ध्वनि पृथ्वी और आकाश को पूर्ण कर रही थी । सुर और असुर सभी मन्दार पुष्पों की वर्षा कर रहे थे ।

अथ दौवारिकैर्देवैः कृतहुंकृतिनिःस्वनैः ।
 कृतसंज्ञास्तदा जोषमासुः सामानिकामराः ॥१६९॥
 अथ प्रारब्धवान् स्नात्रं दिव्यगन्धोदकैर्हरिः ।
 गन्धलोभभ्रमद्भृङ्गैर्भृङ्गारोदरसंस्थितैः ॥१७०॥
 गन्धाम्बुधारा शुशुभे पतन्ती जिनविग्रहे ।
 तदङ्गसौरभेणेव निर्जिताऽऽसीदधोमुखी ॥१७१॥
 मण्डलाप्रोप्रधारेव प्रत्यूहव्यूहवैरिणाम् ।
 सैषा गन्धाम्भसां धारा दद्याद् वो मङ्गलावलीम् ॥१७२॥
 वन्द्या दिविषदां गन्धाम्बुधारा विश्वपावनी ।
 ईशाङ्गसङ्गपूताऽसौ स्वर्धुनीव पुनातु नः ॥१७३॥
 एवं गन्धोदकैः स्नात्रं विधाय विबुधाधिपाः ।
 जगच्छान्त्यै ततः शान्तिघोषणां चक्रुरुच्चकैः ॥१७४॥
 तद्गन्धाम्बु गृहीत्वा ते सुराः स्वीयाङ्गसङ्गतम् ।
 विदधुर्मङ्गलार्थं तज्जगन्मङ्गलकारणम् ॥१७५॥
 तत्प्रान्तेऽथ जयारावमिश्रैर्गन्धाम्बुभिस्समम् ।
 वात्योक्षीं चक्रिरे देवाः सचूर्णैः कृतसम्मदाः ॥१७६॥

(१६९) जिन्होंने हुँकार शब्द किये हैं ऐसे दौवारिक देवों से संकेत पाये हुए सामा-
 निक देव चुप हो गये । (१७०) इसके बाद गन्ध के लोभ से भ्रमण करते भ्रमरोवाले,
 पात्रगत दिव्य गन्धोदक से इन्द्र ने स्नात्र का प्रारम्भ किया । (१७१) भगवान् जिन के दिव्य
 शरीर पर गिरती हुई सुगन्धित जल की धारा भानों उनके अङ्ग की खुशबू से निर्जित नीचे
 की ओर मुख किये हुए शाभित हो रही थी । (१७२) विघ्नव्यूहरूप शत्रुओं के लिए तल-
 वार की उग्र अप्रधारा की भाँति वह गन्धजल को धारा आप सबका कल्याण करे । (१७३)
 देवताओं की वह सुगन्धित जलधारा जो विश्व में व्यापक है और जो पूजनीय है, ईश्वर
 जिनप्रभु के अङ्ग सम्पर्क से पवित्र गंगानदी को भाँति हमें पवित्र करे । (१७४) इस प्रकार
 इन्द्रों ने गन्धजल से स्नान करके जगत् की शान्ति के लिए जोर से शान्ति की घोषणा की ।
 (१७५) वे सभी देवतालोक उस गन्धजल को लेकर अपने स्वयं अङ्गों में कल्याण के लिए
 लगाते थे क्योंकि वह जल संसार के कल्याण का करने वाला था । (१७६) उसके (स्नात्रके)
 अन्त में जयध्वनि से मिश्रित और चूर्णयुक्त गन्धोदक के साथ पवन को मदमस्त देवों ने
 चलाया ।

समाप्तावभिषेकस्य विधायावभृथाप्लवम् ।
सुधान्धसो जगत्पूज्यं पूजयामासुरादृताः ॥१७७॥

गन्धैर्धूपैः प्रदीपैश्च कुसुमैः साक्षतोदकैः ।
समन्त्रैश्च फलैः सार्धैरानर्च जगदर्चितम् ॥१७८॥

शचीपतिरथो शच्या समं तं जगतां पतिम् ।
परीत्य च त्रिधा शुद्ध्या प्रणनाम महाशयः ॥१७९॥

पपात नभसः पुष्पवृष्टिः सौरभसुन्दरा ।
परागपिञ्जरा सान्द्रमकरन्दाऽतिशीतला ॥१८०॥

इत्थं निर्वर्तयामासुः श्रीजिनस्नपनोत्सवम् ।
सुरेन्द्राद्याः समम् देव-देवीवृन्दैः परिवृताः ॥१८१॥

आह्वयन् पार्श्वनामानमिति सर्वे सुरासुराः ।
जयमङ्गलघोषैस्तम् प्रणेमुर्भक्तिनिर्भराः ॥१८२॥

अथ प्रसाधनं चक्रे शची सर्वाङ्गसङ्गतम् ॥
प्राग् दिव्यैरंशुकैर्जेनं वपुः सार्धं ममार्ज सा ॥१८३॥

सद्गन्धबन्धुरैर्यक्षकर्दमैरन्वलिम्पत ।
विश्वैकतिलकस्यास्य ललाटे तिलकं व्यधात् ॥१८४॥

(१७७) अभिषेक की समाप्ति पर, अवभृथ (धार्मिक स्नान) स्नान करके समादृत होकर जगत्पूज्य जिनदेव की पूजा करने लगे । (१७८) गन्ध, धूप, दीप, पुष्प, अक्षत, जल, मन्त्र, व फलों से जगत्पूज्यजिनदेव को वे पूजने लगे । (१७९) उदाराशय इन्द्र अपनी पत्नी इन्द्राणी के साथ जगत्पति को, तीन शुद्ध परिक्रमा के साथ प्रणाम करने लगे । (१८०) सुरभि से मनोहर, पराग से कपिश, मकरन्द से भरपूर, अतिशीतल पुष्पवृष्टि आकाश से होने लगी । (१८१) इस प्रकार देवी देवताओं ने एकत्रित होकर, एक साथ भगवान् जिनदेव के स्नान का उत्सव सम्पन्न किया । (१८२) देव एवं असुर सभी ने उन्हें 'पार्श्व' नाम से पुकारा । जयमङ्गलध्वनि से भक्तिविभोर होकर (सभी ने) उन्हें प्रणाम किया । (१८३) इन्द्राणी ने पहले सुन्दर वस्त्रों से भगवान् के गीले बदन को स्वच्छ किया । और इसके बाद (भगवान् के) सभी अङ्गों को प्रसाधित किया (सजाया) । (१८४) (इन्द्राणी ने) सुशोभित यक्षकर्दम (चूर्ण) से शरीर को लिप्त करके विश्वश्रेष्ठ जिनदेव के ललाटे पर तिलक किया ।

विश्वविश्वकिरीटस्य न्यधान्मूर्ध्नि पुलोमजा ।
 मन्दारकुसुमोत्तंस तेनातीव बभौ विभुः ॥१८५॥
 त्रिविष्टपस्फुरच्चूडामणेरस्थ शिरस्यथ ।
 चूडामणिं निधत्ते स्म मघोनी स्नेहनिर्भरा ॥१८६॥
 इन्दीवरनिभे स्निग्धे लोचने विश्वचक्षुषः ।
 शची चक्रेऽञ्जनाचारं बभौ तेन निरञ्जनः ॥१८७॥
 भवाब्धिकर्णधारस्य कर्णयोः कुण्डले दधौ ।
 द्रष्टुं तन्मुखजां शोभां पुष्पदन्ताविवागतौ ॥१८८॥
 मुक्तिस्त्रीकण्ठहारस्य तारहारो मनोहरः ।
 न्यस्तस्तया सुकण्ठस्य कण्ठशोभां दधौतराम् ॥१८९॥
 आजानुबाहोर्यद् बाहुद्वयं केयूरमण्डितम् ।
 तद्भूषणाङ्गकल्पद्रुशाखाद्वैतमिव व्यभात् ॥१९०॥
 कटीतटेऽस्य विन्यस्तं किङ्किणीभिः सुभासुरम् ।
 काञ्चीदाम स्फुरदरत्नरचितं निचितं श्रिया ॥१९१॥
 चरणौ किरणोद्दीप्तैः स्फुरद्भिर्मणिभूषणैः ।
 गोमुखोद्भासिभिर्न्यस्तै रेजतुर्जगदीशितुः ॥१९२॥

(१८५) इन्द्राणी ने सम्पूर्ण विश्व के मुकुट रूप जिनदेव के मस्तक पर मन्दार पुष्पों की अलंकृत माला रखी जिससे भगवान् अत्यन्त शोभित हो रहे थे । (१८६) इन्द्राणी ने बड़े प्रेम के साथ स्वर्ग के चूडामणिरूप इन जिनदेव के मस्तक पर चूडामणि स्थापित की । (१८७) उस इन्द्राणी ने विश्व के एकमात्र नेत्र उन जिनदेव के कमल के समान स्निग्ध नेत्रों में अञ्जन लगाया जिससे वह निरञ्जन देव बहुत ही शोभित हो उठे । (१८८) संसार सागर के एकमात्र कर्णधार उन भगवान् के कानों में इन्द्राणी ने कुण्डल पहनाए मानों उनकी मुखशोभा को देखने के लिए सूर्य और चन्द्र आ पहुँचे हों । (१८९) उस इन्द्राणी के द्वारा सुन्दर कण्ठवाले भगवान् को पहनाया गया मुक्तिरूपी स्त्री के कण्ठ का मनोहर उज्ज्वल हार प्रभु के कण्ठ की शोभा को धारण करता था । (१९०) घुटनों तक भुजावाले उन जिनदेव के भुजबन्ध से सुशोभित दोनों बाहु उनके आभूषणों के भङ्गरूप कल्पद्रुम की दो शाखाओं के समान सुन्दर दिखाई देते थे । (१९१) घूँघरियों से चमकता हुआ, दमकते हुए रत्नों से बना हुआ एवं शोभायमान कन्दोरा उनको (भगवान् की) कमर में पहनाया । (१९२) किरणों से उज्ज्वल, गोमुखों से प्रकाशित, देदीप्यमान पहनाये गये मणिभूषणों से उस जगत्पिता के दोनों चरण अतीव शोभित हो रहे थे ।

स्नानान्तरमेवासौ बभासे भूषणैर्विभुः ।
सुतरां निर्गतोऽभ्रौघाच्छरदिन्दुरिवांशुभिः ॥१९३॥
निसर्गात् सुन्दरं जैनं वपुर्भूषणभूषितम् ।
कवेः काव्यमिव श्लिष्टमनुप्रासैर्वभौतराम् ॥१९४॥
धाम्नामिव परं धाम सौभाग्यस्येव जन्मभूः ।
सौन्दर्यस्येव संवासो गुणानामिव शेवधिः ॥१९५॥
साळङ्कारः कवेः काव्यसन्दर्भ इव स व्यभात् ।
नूनं तदर्शनाऽतृप्तः सहस्राक्षोऽभवद्धरिः ॥१९६॥
इति प्रसाधितं पार्श्वं ददृशुस्ते सुरासुराः ।
नेत्रैरनिमिषैः पातुकामा इव दिदृक्षया ॥१९७॥
अथ शक्रादयो देवास्तुष्टुवुस्तं जिनेश्वरम् ।
भावितीर्थकरोद्दामगुणग्रामनिधीश्वरम् ॥१९८॥
त्वमेव जगतां धाता त्वमेव जगतां पिता ।
त्वमेव जगतां त्राता त्वमेव जगतां विभुः ॥१९९॥
नूनं त्वद्वचनाऽर्केण नृणामन्तर्गतं तमः ।
विलीयते न तद् भानुभानुभिः सततोद्गतैः ॥२००॥

(१९३) स्नान के पश्चात् वह प्रभु अलंकारों से अति शोभित थे मानों बादलों के समूह से शरद् का चन्द्रमा किरणों के साथ निकल पड़ा हो । (१९४) जिनदेव का प्रकृति से अति सुन्दर, आभूषणों से अलंकृत शरीर कवि के श्लेष और अनुप्रास से युक्त काव्य की भाँति अत्यन्त शोभा दे रहा था । (१९५) तेज का परम भण्डार, सौभाग्य का उत्पत्तिस्थल, सुन्दरता का निवास तथा गुणों का मानों वह भगवान् समुद्र था । (१९६) कवि के अलंकारयुक्त काव्य की तरह उनकी (भगवान की) शोभा थी । निश्चितरूप से उनके दर्शन से अतृप्त इन्द्र सहस्रनेत्र हुआ । (१९७) देखने की इच्छा के कारण निर्निमेष नेत्रों से उनको पीने की मनोकामना रखने वाले उन देवों ने तथा असुरों ने इस तरह प्रसाधित (अलंकृत) पार्श्व को देखा । (१९८) इसके पश्चात् इन्द्रादिक देवताओं ने भावी तीर्थकर तथा उत्कट गुणसमुदाय के भण्डार जिनेश्वर देव की स्तुति की । (१९९) हे प्रभु ! आप ही जगत् के धारक हो, आप ही जगत् के रक्षक हो (और) आप ही जगत् के व्यापक प्रभु हो । (२००) हे देव ! निश्चितरूप से आपके वचनरूप सूर्य से मानवों का आन्तरिक अन्धकार नष्ट हो जाता है । वह अन्धकार सूर्य की सतत उदय पाने वाली किरणों से नष्ट नहीं होता है ।

अस्नातपूतस्त्वं विश्वं पुनासि सकलं विभो ! ।
 स्नापितोऽस्यद्य तन्नूनं जगत्पावित्र्यहेतवे ॥२०१॥
 पूतस्त्वं जगतामेव पवित्रीकरणक्षमः ।
 उद्योतवान् शशाङ्को हि जगदुद्योतनक्षमः ॥२०२॥
 अवाग्मनसलक्ष्यं त्वां श्रुतिराह स्म तन्न सत् ।
 दिष्ट्या नः परमं ज्योतिस्त्वं दृग्गोचरतामगाः ॥२०३॥
 अभूषणोऽपि सुभगोऽनघीतोऽपि विदांवरः ।
 अदिग्धोऽपि सुगन्धाग्रः संस्कारो भक्तिरेव नः ॥२०४॥
 यथा ह्याकरजं रत्नं संस्काराद् द्योततेतराम् ।
 गर्भजन्मादिसंस्कारैस्तथा त्वं विष्टपत्रये ॥२०५॥
 एकोऽपि त्वमनेकात्मा निर्गुणोऽपि गुणैर्युतः ।
 कूटस्थोऽथ न कूटस्थो दुर्लक्ष्यो लक्ष्य एव नः ॥२०६॥
 नमस्ते वीतरागाय नमस्ते विश्वमूर्तये ।
 नमः पुराणकवये पुराणपुरुषाय ते ॥२०७॥
 निःसंगाय नमस्तुभ्यं वीतद्वेषाय ते नमः ।
 तितिक्षागुणयुक्ताय क्षितिरूपाय ते नमः ॥२०८॥

(२०१) हे विभो ! आप बिना स्नान के ही पवित्र सम्पूर्ण विश्व को पवित्र करते हो । जगत् को पवित्र करने के कारण मात्र से ही निश्चयतः आपको स्नान कराया गया है । (२०२) पवित्र आप ही संसार को पवित्र करने में समर्थ हैं कारण कि प्रकाशमान चन्द्रमा ही जगत् को प्रकाशित कर सकता है । (२०३) श्रुति ने आपको वाणी तथा धूमन से अलक्षित कहा है, यह सत्य नहीं है । सौभाग्य से परम ज्योतिरूप आप हमें दृष्टिगोचर हुए हैं । (२०४) बिना अभूषणों से भी आप सुन्दर हैं, बिना पदे हुए भी आप श्रेष्ठ विद्वान् हैं, बिना लेपन के भी आप सुगन्धित हैं तथा हमारी भक्ति ही आपका संस्कार है । (२०५) जिस प्रकार खान से निकला हुआ रत्न संस्कार से अत्यन्त चमकता है उसी प्रकार गर्भ, जन्म आदि संस्कारों से आप तीनों लोकों में द्योतित होते हैं । (२०६) एक होते हुए भी आप अनेकात्म हैं, निर्गुण होते हुए भी आम गुणयुक्त हैं, कूटस्थ होते हुए भी आप अकूटस्थ हैं तथा दुर्लक्ष्य होते हुए भी आप लक्ष्य हैं । (२०७) वीतराग आपको नमस्कार हो, विश्वमूर्ति आपको नमस्कार हो, पुराणकवि तथा पुराणपुरुषोत्तम आपको नमस्कार हो । (२०८) आसक्तिरहित आपको नमस्कार हो, रागद्वेषरहित आपको नमस्कार हो, सहनशीलता आदि गुणों से युक्त पृथ्वीरूप आपको नमस्कार हो ।

द्रवरूपाय शुद्धाय नमः सलिलमूर्तये ।
निःसंगतागुणाद्रयाय दधते पावनीं तनुम् ॥२०९॥

शुक्लध्यानाग्नेये तुभ्यं नमः कर्मन्धनल्लुषे ।
रजःसङ्गवियुक्ताय विभवे खात्मने नमः ॥२१०॥

सर्वक्रतुस्वरूपाय यजमानात्मने नमः ।
नमः सोमस्वरूपाय जगदाह्लादिनेऽस्तु ते ॥२११॥

अनन्तज्ञानकिरणस्वरूपायार्कतेजसे ।
अष्टमूर्तिस्वरूपाय नमो भाविजिनाय ते ॥२१२॥

दशावताररूपाय मरुभूत्यात्मने नमः ।
नमो गजावताराय नमस्ते त्रिदशात्मने ॥२१३॥

विद्याधरावतारायाच्युतदेवाय ते नमः ।
वज्रनाभिस्वरूपाय प्रैवेयकसुरात्मने ॥२१४॥

कनकप्रभरूपाय नमस्ते प्राणतर्भवे ।
नमः श्रीपार्श्वनाथाय लोकोद्घोतकराय ते ॥२१५॥

कमठासुरदर्पाग्निजलदाय नमोनमः ।
अनेकान्तस्वरूपाय नमस्ते सर्वदर्शिने ॥२१६॥

(२०९) द्रवस्वरूप शुद्ध सलिल आपको नमस्कार हो । निःसंगतागुण से भरपूर पवनघटित शरीर को धारण करने वाले आपको नमस्कार हो । (२१०) कर्मरूप काष्ठ को जलाने वाले शुक्लध्यानाग्नि रूप आपको नमस्कार हो । रजोगुण के संग से मुक्त व्यापक आकाशरूप आपको नमस्कार हो । (२११) सर्वयज्ञ स्वरूप यजमानरूप आपको नमस्कार हो । जगत् को आह्लाद देनेवाले आपको नमस्कार हो । (२१२) अनन्त ज्ञान की किरणों ही जिसकी आत्मा है ऐसे सूर्यप्रकाशरूप (आपको नमस्कार हो) । (इस प्रकार) अष्टमूर्तिरूप भावी जिनदेव को नमस्कार हो । (२१३) दशावताररूप मरुभूति की आत्मा को नमस्कार हो । गजावतार को नमस्कार हो । त्रिदशात्मन् देवरूप आपको नमस्कार हो । (२१४) विद्याधरावतार को तथा अच्युतदेवरूप आपको नमस्कार हो । वज्रनाभिस्वरूप और प्रैवेयकदेवरूप आपको नमस्कार हो । (२१५) कनकप्रभरूप और प्राणतर्भवरूप आपको नमस्कार हो । लोक को प्रकाशित करने वाले श्रीपार्श्वनाथ को नमस्कार हो । (२१६) कमठरूप राक्षस की दर्परूप अग्नि को शान्त करने में मेघसमान आपको नमस्कार हो । अनेकान्तस्वरूप समदर्शी आपको नमस्कार हो ।

चरमेऽप्यवतारे ते परमश्रीर्महोदया ।
 जजृम्भेऽस्तु नमस्तुभ्यमश्वसेनसुतात्मने ॥२१७॥
 स्तुत्वा त्वां भगवन्नेवं वयमाशास्महे फलम् ।
 भवे भवे भवानेव भूयान्नः शरणं जिनः ॥२१८॥
 स्तुत्वेति तं गुणैर्भूतैः शक्राद्यास्त्रिदशावृताः ।
 क्रमाच्छिवपुरीं याताः परमानन्दनन्दिताः ॥२१९॥
 सौधर्मेन्द्रोऽथ जगतामीशितारं मितैः सुरैः ।
 राजसौधाङ्गणे सिंहविष्टरे तं न्यवीविशत् ॥२२०॥
 अश्वसेनोऽथ नृपतिः सागन्दं पुलकाञ्चितः ।
 ददर्श दर्शनतृप्तस्तं मुदा मेदुरेक्षणः ॥२२१॥
 पौलोभ्या जिनमाताऽथ मायानिद्रां वियुज्य सा ।
 प्रबोधिता तमैक्षिष्ट विभुमानन्दनिर्भरा ॥२२२॥
 ततः क्षौमयुगं कुण्डलद्वयं च जिनान्तिकम् ।
 सुवर्णकन्दुकं श्रीदामगण्डं मणिरत्नयुक् ॥२२३॥
 हारादिभिः शोभमानं विताने प्रीतये विभोः ।
 चिक्षेप शक्रो द्वात्रिंशद्वैमकोटीः कुबेरतः ॥२२४॥

(२१७) आपके इस अन्तिम अवतार में महान् उदयवाली परमलक्ष्मी फैली हुई है। (ऐसे) अश्वसेन के पुत्र आपको नमस्कार हो। (२१८) हे प्रभो ! हम देव आपकी इस प्रकार स्तुति करके इस फल की आशा करते हैं कि प्रत्येक जन्म में आप जिनदेव ही हमारे आश्रय होंगे। (२१९) इस प्रकार योग्य गुणों से भगवान् जिनदेव की स्तुति करके इन्द्रादि सहित सभी देव परम आनन्दपूर्वक अनुक्रम से शिवपुरी को चले गये। (२२०) तब सौधर्मेन्द्र ने कुछ देवताओं के साथ उन जगत् के स्वामी को राजप्रासाद के प्रांगण में सिंहासन पर बैठाया। (२२१) हर्ष से रोमाञ्चित, प्रमोद से सभर नेत्रवाले अश्वसेन राजा ने उसका दर्शन किया और वह (राजा) दर्शन से तृप्त हुआ। (२२२) शची के द्वारा माया निद्रा को पृथक् किये जाने पर जगायी गयी जिनमाता ने आनन्द विभोर होकर प्रभु जिन को देखा। (२२३-२२४) बाद में, प्रभु की प्रसन्नता के लिये इन्द्र ने मण्डप में जिनदेव के नजदीक दो रेशमी दुपट्टे, दो कुण्डल, सुवर्ण की गेंद, मणिहार आदि से शोभायमान तथा मणिरत्नजटित श्रीदामगण्ड फेंके; और कुबेर के पास से लेकर बत्तीस करोड़ स्वर्णमुद्राओं की वृष्टि की।

शक्राज्ञयाऽयाऽऽभियोगिका इत्यूचुः समन्ततः ।
 शृण्वन्तु देवीवामाया जिनरयोपरि दुष्टधीः ॥२२५॥
 कर्तीं दुष्टां धियं तस्याज्जकमञ्जरिवच्छिरः ।
 शतधा स्फुटतादेवमुद्घुग्थागुः सुरासुराः ॥२२६॥
 देवाः शक्रादयोऽष्टाह्निकार्चां नन्दीश्वरे व्यधुः ।
 सर्वेऽपि स्वालयं जग्मुः कृतकृत्याः ससम्मदाः ॥२२७॥
 तद्रात्रौ हेमरत्नादिवर्षणं जृम्भकामरैः ।
 अश्वसेनगृहेऽकारि सान्द्रमानन्दनन्दितैः ॥२२८॥
 यस्यैवं जननाभिषेकमहिमा देवेन्द्रवृन्दारकैः ।
 सानन्दं सुरसुन्दरीपरिलसत्तौर्यत्रिकाडम्बरैः ।
 दुग्धाम्मोनिषिवारिभिस्सह महाहर्षप्रकर्षाञ्चितै-
 रातेने स च सम्पदे भवतु वः श्रोपार्श्वनाथप्रभुः ॥२२९॥

इति श्रीमत्परापरपरमेष्ठिपदारविन्दमकरन्दसुन्दररसास्वादसम्प्रीणित-
 भव्यभव्ये पं० श्रीपद्ममेरुविनेयपं० श्रीपद्मसुन्दरविरचते
 श्रोपार्श्वनाथमहाकाव्ये श्रोपार्श्वजन्माभिषेकोत्सवो नाम
 तृतीयः सर्गः ।

(२२५-२२६) इन्द्र को आज्ञा से आभियोगिकों ने चारों ओर यह कहा कि 'सुानये । वामादेवी और जिनदेव पर जो दुष्टबुद्धि करेगा उसका सर अर्जक वृक्ष की मञ्जरी की तरह सौ टुकड़ों में टूट जायेगा ।' सुर और असुर ऐसी उद्घोषणा करके चले गये । (२२७) इन्द्रादि देवताओं ने उस भगवान् को नन्दीश्वरद्वीप में अष्टाह्निक पूजा की तथा कृतकृत्य और हर्ष वाले होकर सभी देव अपने अपने स्थान को प्रस्थान कर गये । (२२८) वहाँ रात्रौ में, अश्वसेन महाराजा के भवन में भावपूर्ण प्रसन्नचित्त होकर जृम्भक देवताओं ने स्वर्ण रत्नों की वर्षा की । (२२९) सुरसुन्दरियों से शोभान्वित, तौर्यत्रिक वाद्यों की ध्वनि से युक्त, अस्यन्त हर्ष से पुलकित देवेन्द्रों के समुदायों ने जिसके जन्माभिषेक की महिमा को क्षीरसागर के जल के साथ आनन्दपूर्वक फैलाया वह पार्श्वनाथप्रभु आपको सम्पत्ति के लिए हों ।

इति श्रीमान्परमपरमेष्ठी के चरणकमल के मकरन्द के सुन्दर रस के स्वाद से भव्यजनों को प्रसन्न करने वाले, पं० श्रीपद्ममेरु के शिष्य पं० श्रीपद्म-सुन्दर कवि द्वारा रचित श्रीपार्श्वनाथमहाकाव्य में "श्रीपार्श्वजन्माभि-षेक उत्सव" नामक यह तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ।

चतुर्थः सर्गः

अथाऽश्वसेनः पार्श्वस्य जातकर्मोत्सवं मुदा ।
प्रारंभे मङ्गलोद्गीतविभावितपुरस्सरम् ॥१॥
उत्तम्भितपताकाभिर्बभौ वाराणसी पुरी ।
सा ताभिराह्वयन्तीव कौतुकोत्कण्ठितान् नरान् ॥२॥
यस्यां कृष्णागुरूदामधूपधूमविवर्तनैः ।
धनभ्रान्त्या वितन्वन्ति केकां नृत्यत्कलापिनः ॥३॥
उद्यन्मङ्गलसङ्गीतमुखध्वानजडम्बरैः ।
दिग्दन्तिकर्णतालाश्च व्याप्य यैर्बधिरीकृताः ॥४॥
कृतपुष्पोपहाराश्च पुरवीथ्यो विरेजिरे ।
आबद्धतोरणोत्तुङ्गं गोपुरं कलशौकितम् ॥५॥
चलन्तभिः पताकाभिः नृत्यन्तीव पुरी बभौ ।
पट्वासैरभिव्याप्तमन्तरिक्षं सुसंहतैः ॥६॥
बद्धाः प्रतिगृहद्वारं यत्र वन्दनमालिकाः ।
पौरा बभुः सनेपथ्याः सानन्दाश्चन्दनाञ्चिताः ॥७॥
नानागीतैर्महातोद्यैस्ताण्डबाडम्बरैर्भृशम् ।
पौरः सर्वोऽपि कुतुकाळोकनव्याकुलोऽभवत् ॥८॥

(१) तत्पश्चात् महाराजा अश्वसेन ने पार्श्वकुमार के जातकर्म संस्कार को प्रसन्न हो कर मंगल गायन के साथ प्रारंभ किया । (२) वह वाराणसी नगरी (उस समय) ऊँची लहराती हुई पताकाओं से शोभित हो रही थी । ऐसा लगता था मानो वह नगरी लहराती हुई पताकाओं के द्वारा, कौतुक से उत्कण्ठित लोगों को बुला रही हो । (३) जिस नगरी में, कृष्णागुरु धूप आदि के धुएँ से उठे हुए चक्रों में बादल की भ्रान्ति से नाचते हुए मयूर अपनी केकारव (मयूरो-की ध्वनि) फैला रहे थे । (४) गाये जाने वाले मङ्गल संगीत की मुखध्वनि के आडम्बर ने मानों दिग्गजों के कर्णतालों को व्याप्त करके बहिरे कर दिये हों । (५) पुष्पों के अलंकरण से नगर की गलियाँ शोभित थीं । अनेक बंधी हुए उन्नत तोरण वाले गोपुर (बुलन्द द्वार) उच्च कलशों से शोभित हो रहे थे । (६) उड़ती हुई पताकाओं से वह नगरी (वाराणसी) मानो नृत्य करती हो ऐसी शोभित हो रही थी (तथा) सुसंगठित मुगन्धित चूर्णों से सारा गगनमण्डल व्याप्त था । (७) प्रत्येक गृहद्वार पर वन्दनमालाएँ बंधी थीं । सुन्दर कपड़ों में सजे चन्दनचर्चित गात्रवाले नागरिक लोग बड़े आनन्द के साथ देदीप्यमान हो रहे थे । (८) अनेक प्रकार के गीत, वाद्य व नृत्य के आडम्बरों से युक्त सम्पूर्ण जनपद कौतुक देखने को व्याकुल था ।

पुरी नाकपुरीवाऽऽसीत् त्रिदशा इव नागराः
 नानाशृङ्गारवेषाढ्या नार्यो देव्य इवाऽऽबभुः ॥९॥
 दानशौण्डे नृपे तस्मिन्नश्वसेने यथेप्सितम् ।
 दानं दातरि कोऽप्यासीदपूर्णेच्छो न मार्गणः ॥१०॥
 पौराः सर्वेऽपि तत्रत्याः प्रमोदभरनिर्भराः ।
 न कोऽप्यासीन्निरुत्साहो निरानन्दोऽथ दुर्विधः ॥११॥
 निर्वृते जन्ममाद्गल्ये दशाहिकमहामहम् ।
 विधाय द्वादशे घन्ने नृपे ज्ञातिमभोजयत् ॥१२॥
 तल्पपार्श्वे तु यत् सर्पमपश्यज्जननी ततः ।
 महान्धतमसे चक्रे 'पार्श्व' नाम शिशोरिति ॥१३॥
 अथ देवकुमाराश्च सवयोरूपशालिनः ।
 पार्श्वस्य परिचर्यायै तस्थुः शक्रनिरूपिताः ॥१४॥
 इन्द्राऽऽदिष्टास्तदा धात्र्यो देव्योऽस्याऽऽसन्नुपासिकाः ।
 मज्जने मण्डने स्तन्ये संस्कारे क्रीडने यताः ॥१५॥
 शिशुः स्मितं क्वचित् तेने रिङ्खन्मणिमयाङ्गणे ।
 विभ्रच्छैशवलीलां स पित्रोर्मुदमवर्धयत् ॥१६॥

(९) वह नगरी स्वर्गपुरी की भाँति थी । नागरिक लोग देवताओं के समान थे । अनेक शृंगार और वेशों से सम्पन्न नगरस्त्रियाँ देवियों की भाँति शोभित हो रही थीं । (१०) दान देने में चतुर उस राजा अश्वसेन के इच्छानुसार दान देने पर कोई भी याचक अपूर्ण अभिलाषा वाला नहीं था । (११) वहाँ के नागरिक आनन्द से पूर्ण थे । कोई भी उत्साहहीन नहीं था, न कोई आनन्द रहित था और न कोई दुःखी था । (१२) जन्मकल्याणकोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर दशाहिक महोत्सव सम्पन्न करके बारहवें दिन राजा ने अपनी जाति के लोगों को भोजन करवाया । (१३) एक बार शय्या के पास उस पार्श्वकुमार की माता ने महान्धकार में, एक सर्प को देखकर बालक का 'पार्श्व' नाम रखा । (१४) इसके बाद देवकुमार जो पार्श्वकुमार के समान ही अवस्था व रूपसौन्दर्यशाली थे, इन्द्र की आज्ञा पाकर पार्श्व की सेवा में स्थित रहे । (१५) इन्द्र के आदेशानुसार धात्री देवियाँ इस कुमार की सेवा में रहने लगीं और वे उसके स्नान, अलंकरण, दुग्धपान, संस्कार, खेलकूद कार्यों में प्रयत्नशील रहने लगीं । (१६) वह शिशु राजकुमार मणिमय प्रांगण में चलता हुआ मन्दहास करता था और शैशव-लीलाएं करता हुआ वह माता-पिता को प्रसन्नता से बढ़ाता था ।

स्मितलीला बभुश्चास्य बालेन्दोरिव चन्द्रिकाः ।
याभिर्मनःप्रमोदाम्भोनिधिः पित्रोरवर्धत ॥१७॥

श्रियः किं हास्यलीलेव कीर्तिवलेः किमङ्कुरः ।
मुखेन्दोश्चन्द्रिका वाऽस्य शिशोर्मुग्धस्मितं बभौ ॥१८॥

या जिनाभस्य वदनादभून्मनमनभारती ।
श्रोत्राञ्जलीभिस्तां पीत्वा पितरौ मुदमापतुः ॥१९॥

गतः स्वल्पपदेः सौधाङ्गणभूमिषु सञ्चरन् ।
आबद्धकुट्टिमास्वेष बभौ सुभगहुङ्कृतिः ॥२०॥

सरूपवेषैश्चिक्रीड समं सुरकुमारकैः ।
रत्नरेणुषु तन्वानः स पित्रोर्हृदि सम्मदम् ॥२१॥

कलाभिरिव बालेन्दुर्जगदाह्लादकृद्विभुः ।
विभूतिभिरनन्ताभिः परिष्वक्ताभिरानृधे ॥२२॥

शैशवादप्यपेतस्य कौमारं विभ्रतो वयः ।
वपुषा सह भूयांसो विभोर्ववृधिरे गुणाः ॥२३॥

तस्य दिव्यं वपुर्वाचो मधुराः स्मितमुज्ज्वलम् ।
आलोकनं सलावण्यं जहुश्चेतांसि जन्मिनाम् ॥२४॥

(१७) बालचन्द्रमा की चाँदनी की तरह इस कुमार की हास्यलीला प्रकाशित थी, जिन हास्य-लीलाओं से माता पिता का मन-प्रमोद का सागर प्रतिदिन बढ़ता रहता था । (१८) क्या श्रीदेवी की हास्यलीला है, क्या कीर्तिलता का अंकुर है या मुखचन्द्र की चन्द्रिका है ? —(ऐसी आशंकाएं देखने वालों के मन में जगाता) शिशु का मुग्ध हास्य मानो चमक रहा था । (१९) इस 'जिनशिशु' के मुख से जो तोतली (मन्मन) वाणी निकलती थी, उस वाणी का कर्णाञ्जली से पान कर (अर्थात् सुनकर) माता पिता अतीव प्रसन्न होते थे । (२०) राजप्रसाद के फर्श वाले आँगन में स्वल्पित पदों से चलता फिरता वह पार्श्वकुमार सुन्दर 'हुं' 'हुं' की ध्वनि से प्रांगण में अतीव शोभित होता था । (२१) अपने समान ही सुन्दरस्वरूप तथा वेषभूषा से युक्त देवकुमारों के साथ वह रत्नधूलि में मातापिता के हृदय में प्रसन्नता फैलाता हुआ, खेला करता था । (२२) कलाओं से युक्त बालचन्द्र की तरह संसार को आह्लादित करने वाला वह भगवान् अनन्त विभूतियों से अतीव आलिंगित होकर बढ़ता था । (२३) शैशवावस्था से भी आगे कुमारावस्था में प्रवेश करने वाले इस प्रभु के शरीर के साथ ही अनेक गुण बढ़ने लगे । (२४) उसका दिव्य शरीर, मधुरवाणी, उज्ज्वल हास और सौन्दर्यशाली अवलोकन, प्राणियों के चित्तों को आकृष्ट करते थे ।

तद्दुर्बलनादेव सकलेश्वर कला अपि ।
 नवेन्दोरिव कान्तिश्रीगुणा बृद्धिरेऽन्वहम् ॥२५॥
 त्रिज्ञानभास्कारो जन्मदिनादारभ्य विश्वहृक् ।
 पूर्वाभ्यस्ता इवाशेषा विद्यास्तरिमन् प्रकाशितः ॥२६॥
 अथाष्टवार्षिकः पार्श्वः कलाचार्यान्तिकं तदा ।
 पित्रा नीतः कलाः सर्वा व्याकरोद् भगवान् स्वयम् ॥२७॥
 चक्रे पार्श्वमुपाध्यायं पीठे विन्यस्य स स्वयम् ।
 कलाचार्यो विनेयोऽमूत् पृष्ठः सर्वं जगौ विभुः ॥२८॥
 सकलानां कलानां स पारदृष्ट्वाऽभवद्विभुः ।
 अशिक्षितोऽपि सन्नीतिक्रियाचारेषु कर्मठः ॥२९॥
 अनधीत्यैव सर्वेषु वाङ्मयेऽश्वस्य कौशलम् ।
 वाचस्पतिगिरां देवीमतिशय्य विभोरमूत् ॥३०॥
 स पुराणः कविः शारता द्वादशको विदांवरः ।
 निसर्गजा गुणा यस्य कोष्ठबुद्ध्यादयऽभन् ॥३१॥
 मनःप्रसादः सुतरां यय क्षायिकदर्शनात् ।
 शब्दब्रह्ममयी यस्य वश्रान्ता भारती मुखे ॥३२॥

(२५) जैसे चन्द्रमा के शरीर की वृद्धि होने पर चन्द्रमा की, कान्ति तथा श्री के अतिशय वाली सकल कलाएँ प्रतिदिन बढ़ती हैं वैसे उसके शरीर की वृद्धि होने पर उसकी, कान्ति और श्री के अतिशयवाली सकल कला विद्याएँ प्रतिदिन बढ़ती गईं। (२६) ज्ञानत्रय के सूर्य-रूप वह जन्मदिन से ही सबको देखता था और उसमें सब विद्याएँ आविर्भूत हो गई थीं—मानों उसने पहले उनका अभ्यास किया हो। (२७) आठ वर्ष की अवस्था वाला वह पार्श्व-कुमार अपने पिताजी के द्वारा कलाचार्य गुरु के पास ले जाया गया (किन्तु) उस प्रभु ने स्वयं ही सम्पूर्ण कलाओं को प्रगट कर दीं। (२८) उस कलाचार्य गुरु ने पार्श्वकुमार को आसन पर बिठा कर उपाध्याय बना दिया। कलाचार्य स्वयं उसका शिष्य हो गया और प्रभु से पूछने पर उसने (प्रभु ने) सारी बातें बता दीं। (२९) वह विभु पार्श्वकुमार सम्पूर्ण कलाओं में पारंगत था। पढ़ाया नहीं जाने पर भी वह सन्नीति, सत्कर्म व सदाचरणों में कुशल बन गया। (३०) बिना पढ़े हुए ही सभी वाङ्मय (शास्त्रों) में उस विभु की कुशलता देवगुरु बृहस्पति की वाग्देवी का भी अतिक्रमण करनेवाली हो गई। (३१) वह पुराणकवि था, मुद्यासक था, वक्ता था, और विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ था। उसके कोष्ठबुद्धि आदि गुण नैसर्गिक थे। (३२) (दर्शनमोहनीय कर्म केशय के परिणामस्वरूप उसमें) क्षायिक दर्शन प्रगट होने के कारण उसका मन अक्लिष्ट (प्रसन्न, कषायो से रहित) था और उसके मुख में शब्दब्रह्ममयी सर-स्वती ने वास किया था

सङ्क्रान्तमस्मिन् सकलं श्रुतं स्यात् प्रश्रयः श्रुतात् ।
 तत एव जगन्नीतिनैपुण्यं बबुतेतराम् ॥३३॥
 स्वपञ्चसप्तवह यष्टवर्षमानेऽन्तरे गते ।
 श्रीनेमेः पार्श्वनाथोऽयं तदन्तरुदपद्यत ॥३४॥
 शतवर्षप्रमाणायुर्न बहस्ततनृत्कृतिः ।
 कदाचिद्विदधे गोष्ठीं श्रीपार्श्वः सुरदारकैः ॥३५॥
 कव्यव्याकरणस्फरम लङ्कारोक्तियुक्तिभिः ।
 छन्दोगणस्फुरज्जातिप्रस्ताराद्यैः कदाचन ॥३६॥
 कदाचिद् वावदुकैः स वादगोष्ठीं समातनोत् ।
 गीतवादित्रनुत्यादिगोष्ठीमप्येकदाऽकरोत् ॥३७॥
 दाण्डीं मौष्ठीं पुनः क्रीडां कुर्वाणानपगन् सुगन् ।
 सान्त्वयन्नपरानेष कृतधावनवल्लगन्त ॥३८॥
 कदाचित् कलमुद्गीतं शृण्वानो देवगायनैः ।
 स्वीयं यशः स्फुरत्तामहारकुन्देन्दुसुन्दरम् ॥३९॥
 दीर्घिकासु जलक्रीडां चक्रे स सुरदारकैः ।
 कदाचन वनक्रीडां कृतकैः कल्पपादैः ॥४०॥

(३३) उस पार्श्वकुमार में सकल श्रुत प्रविष्ट था और उसमें श्रुतपे विनय और विनय से लौकिकन्यास का कौशल प्रगट हुआ था । (३४) श्रीनेमिनाथ भगवान् से तीरासीहजार सात सौ पचास (८३७५०) वर्षों का अन्तर व्यतीत होने पर ये पार्श्वनाथ उद्भूत हुए थे । (३५) सौ वर्ष की आयु वाले और नौ हथ ऊँचे यह श्रीपार्श्व कभी देवबालकों के साथ गोष्ठी करने लगे । (३६-३७) काव्य और व्याकरण से प्रचुर सालंकार उक्तियों वाली युक्तियों से तथा छन्दोगण से प्रचुर जाति, प्रस्तार आदि से वाद करने वाले देवबालों के साथ वे वादगोष्ठी करने थे, तथा कभी गीत, वाद्य, नृत्य आदि की गाष्ठियाँ भी करते थे । (३८) दाण्डी मौष्ठी आदि क्रीडा करते हुए अन्य देवों को यह पार्श्वकुमार अपने दीर्घ कूट अदि कार्य से सान्त्वना देते थे । (३९) किसी समय देवों के द्वारा सुमधुर गायन हुआ, अत्यन्त उज्ज्वल हार, कुन्द, पुष्प व चन्द्र के समान सुन्दर अपना यशोगान भी (पार्श्व-कुमार) सुनने लगे । (४०) देवबालकों के साथ कभी कभी वे बावडियों में जलक्रीडा करते थे तथा कदाचित् कृत्रिम कल्पवृक्षों के द्वारा वनक्रीडा का भी आनन्द लेते थे ।

इत्थं क्रीडाविनोदांश्च कुर्वाणो जगतांपतिः ।
सह देवकुमारैस्तैरासाञ्चक्रे शुभंयुभिः ॥४१॥
मध्ये सुरकुमाराणां ताराणामिव चन्द्रमाः ।
शुशुभे भगवान् पार्श्वो रममाणो यदृच्छया ॥४२॥
अथाऽसौ यौवनं प्रापागण्यलावण्यसुन्दरम् ।
स्मरलीलाकुलागारं युवतिनर्मकर्मणम् ॥४३॥
विभुर्बभासते सुतरामवाप्य तरुणं वयः ।
शशीव कमनीयोऽपि शारदीं प्राप्य पूर्णिमाम् ॥४४॥
तदिन्द्रनीलरत्नाभं मलस्वेदविवर्जितम् ।
वज्रसंहननं दिव्यसंस्थानं शुभ्रशोणितम् ॥४५॥
वपुरद्भुतरूपाढ्यं पद्मगन्धतिबन्धुरम् ।
अष्टोत्तरसहस्रोद्यलक्षणैर्लक्षितं बभौ ॥४६॥
तदप्रमेयवीर्यं च सर्वामयववर्जितम् ।
अप्राकृताकृतिधरं शरीरमभवत् प्रभोः ॥४७॥
विभोः किरीटशोभाढ्यं शितिकुञ्चितकुन्तलम् ।
शिरोऽञ्जनगिरेः कूटमिव रेजं मणीमयम् ॥४८॥

(४१) इस प्रकार जगत्पति क्रीडा द्वारा मनोरञ्जन करते हुए उन कल्याणकारी देवकुमारों के साथ स्थित थे । (४२) उन देवकुमारों के मध्य में, तारागणों के मध्य चन्द्रमा की भाँति यथेच्छ क्रीडा करते हुए भगवान् पार्श्वनाथ अतीव शोभित हो रहे थे । (४३) इसके पश्चात् उसने अगणित लावण्य से युक्त, कामक्रीडा के कुलगृहरूप और युवतिजनों के हास्यविनोद के लिए कर्मणरूप यौवन को प्राप्त किया । (४४) वह पार्श्वप्रभु तृणावस्था को प्राप्त कर इस प्रकार अतीव शोभित थे जैसे चन्द्रमा सुन्दर होने पर भी शरदकालीन पूर्णिमा को प्राप्त कर अधिक शोभा को प्राप्त होता है । (४५-४६) इन्द्रनीलरत्न के समान सुन्दर, मल एवं पसीने से रहित, वज्रसंहननवाला, दिव्य संस्थान वाला, शुभ्र शोणित वाला, पद्मगन्ध के समान सुन्दर, अद्भुत रूपलावण्यवाला वह शरीर एक हजार आठ लक्षणों से लक्षित शोभा दे रहा था । (४७) अतुलित पराक्रम वाला, सब प्रकार के रोगों से मुक्त, दिव्य आकृति वाला उस प्रभु का शरीर था । (४८) मुकुट की शोभा से सम्पन्न, काले कुञ्चित केशों वाला प्रभु पार्श्व का मस्तक मणिमय अञ्जनगिरि के शिखर की भाँति शोभा पाता था ।

मूर्ध्नि मन्दारमालाऽस्य शुशुमे सुरदौकिता ।
 तुषाराचलशृङ्गाग्रे पतन्तीव सुरापगा ॥४९॥
 ललाटपट्टमस्याऽभादर्धचन्द्रनिभं विभोः ।
 लक्ष्म्याः पट्टाभिषेकाय तस्पीठमिव कल्पितम् ॥५०॥
 भ्रुवौ विनीले रेजाते सुषमे सुन्दरे विभोः ।
 विन्यस्ते वागुरे नूनं स्मरैणस्येव बन्धने ॥५१॥
 नेत्रे विनीलतारेऽस्य सुन्दरे तरलायते ।
 प्रवातेन्दीवरे सद्द्वरेफे इव रराजतुः ॥५२॥
 कर्णावस्य विराजेते मणिकुण्डलमण्डितौ ।
 स्वप्रभाजितयोर्बद्धे सूर्येन्दवोरिव मण्डले ॥५३॥
 विभोर्वदनपद्मं तु सामोदश्वाससौरभम् ।
 नेत्रपद्माञ्चनव्याजाद्दधौ पद्माधिराजताम् ॥५४॥
 मुखश्रीः सस्मिता तस्य रफुरद्दन्तांशुदन्तुरा ।
 रक्तोत्पलदलन्यस्तहीरपङ्क्तत्तिवाऽऽबभौ ॥५५॥
 तस्य तुङ्गायता रेजे नासिका सुन्दराकृतिः ।
 लक्ष्येते यत्र वागूलक्ष्म्योः प्रवेशाय प्रणालिके ॥५६॥

(४९) देवताओं द्वारा प्रदत्त मन्दार पुष्पां को माला उसके मस्तक पर इस प्रकार शोभित होती थी मानों हिमाचल के शिखर क अग्र भाग पर गिरता हुई गंगा नदी हो । (५०) इस प्रभु का अर्धचन्द्र के समान ललाटपट्ट लक्ष्मीदेवी के पट्टाभिषेक क लिए मानो आसन कल्पित किया गया हो । (५१) उस प्रभु क घने नाल-वर्णवाले सुन्दर और सुषम दोनों भ्रुव (भौहें) ऐसे शोभित थे मानो वे कामदेवरूप हिरन का बाँधने (पकड़ने) के लिए फैलाई हुई दा जाल हों । (५२) काली कौकावाले उसके सुन्दर चंचल लम्बे दो नेत्र भ्रमयुक्त और पवन से कम्पायमान दो नीलकमल की तरह शोभित थे । (५३) मणिजटित कुण्डलों से अलंकृत उसके दो कान ऐसे शोभित थे मानो उन्होंने (दो कानों ने) सूर्य चन्द्र के दो गोलों को अपने तेज से जीत कर बाँध लिया हो । (५४) उस विभु पार्व-का श्वास से सुगन्धित प्रसन्न मुखकमल सुचारु नेत्रकमल के बहाने कानों के अधिराज पद को धारण करता था । (५५) प्रकाशमान दन्तों की किरणों से देदीप्यमान स्मितयुक्त उसकी मुखश्री लालकमल की पँखड़ों पर रखे गये हीरों की पँक्ति की भाँति सुशो-भित थी । (५६) सुन्दर आकृतिवाली, उन्नत और लम्बी उसकी नासिका बड़ी ही शोभायमान थी मानो मग्गनी और लक्ष्मी के प्रवेश के लिए दो नालियाँ हों ।

कम्बुग्रीवाऽस्य रुरुचे रोचिषा रुचिाकृतिः ।
 त्रैलोक्यश्रीजयेनेव याऽऽस्ते रेखात्रयाङ्किता ॥५७॥
 मुक्तामणिमयी कण्ठे हारयष्टिर्विमोर्ष्यभात् ।
 गुणिप्राग्रहःस्येयं गुणपङ्क्तिरिवोज्ज्वला ॥५८॥
 जगत्लक्ष्मीकृतावासावसावस्य रराजतुः ।
 अंसौ लक्ष्मी-सरस्वत्योर्धात्रा पुत्रीकृताविव ॥५९॥
 केयूभूषितौ तस्य बाहू धत्तः श्रियं परां ।
 फलनविव कल्पद्रू जगज्जनफलप्रदौ ॥६०॥
 करशाखा बभुस्तस्याऽऽयताः शोणनखाङ्किताः ।
 दशावतारचरितोद्योनिद्या दीपिका इव ॥६१॥
 नाभिलंबण्यसरसीसनाभिः शुशुभेतराम् ।
 मध्येकाग्रं सुगम्भीरा सावर्ता दीप्तिनिर्भरा ॥६२॥
 समेखलं च भूमर्तुः सांशुकं जघनं दधौ ।
 श्रियं गिरितिम्बरस्य शरदभ्रावृतस्य च ॥६३॥
 तदूरुद्वयमद्वैतश्रियाऽभ्राजत सुन्दरम् ।
 स्मर-रत्याश्च दम्पत्योः कीर्तिस्तम्भद्वयं नु तत् ॥६४॥

(५७) कान्तियुक्त, सुन्दर आकृति वाली, शंख जैसी उसकी ग्रीवा (गर्दन) शाभायमान थी और तीनों लोकों की श्री को पराजित करने के कारण से ही मानो उस पर (गर्दन पर) तीन रेखाएँ अंकित थीं । (५८) उस प्रभु के गले में मोतियों व मणियों की हारयष्टि गुणोजनों में उत्तमोत्तम ऐसे प्रभु के गुणों का भाँति उज्ज्वल थी । (५९) जगत्लक्ष्मी के आवास-स्थानरूप उसके दोनों कन्धे शोभित थे । इन दोनों कन्धों को विधाता ने मानो लक्ष्मी और सरस्वती के पुत्रतुल्य बनाया था । (६०) भुजवन्धों से शोभित उसके दोनों बाहु परम शोभा को धारण करते थे मानों सांसार के लोगों को पवित्र पुण्यफल देनेवाले फलयुक्त दो कल्पवृक्ष हों । (६१) उस महाप्रभु के हाथ की अतीव विस्तृत, लाल नाखुनों से अंकित अंगुलियाँ भगवान् के दशावतारचरित की द्योतक दीपिकाओं (दीपों) की तरह सुशोभित थीं । (६२) मध्यभाग में अत्यन्त गम्भीर, आवर्तों से युक्त और कान्ति के निर्झर वाली उनकी नाभि लावण्य की निर्झरनी के समान शोभति थी । (६३) उस पृथ्वीपते पार्व्व का मेखलायुक्त तथा बल्लयुक्त जघनस्थल शरदकालीन बादलों से घिरे हुए गिरि के नितम्ब की शोभा को धारण करता था । (६४) उसके दोनों ऊरु अवर्णनीय कान्ति से सुशोभित थे । वे दोनों (ऊरु) मानो कामदेव और रति दम्पति के कीर्ति-स्तम्भ थे ।

तज्जङ्घे जयलक्ष्म्यास्तु दोलास्तम्भाविवाधिकम् ।
 बभतुश्चरणौ तस्य स्थलाब्जे जिग्यतुः श्रिया ॥६५॥
 तद्वपुस्तच्च लावण्यं तद्रूपं तद्वयः शुभम् ।
 प्रभोः सर्वाङ्गसौन्दर्यम् सर्वोपम्यातिशाय्यभूत् ॥६६॥
 मानोन्मानप्रमाणैस्तदन्यूनाधिकमाबभौ ।
 प्रशस्तैर्लक्षणैर्व्यञ्जनानां नवशतैर्युतम् ॥६७॥
 दृष्ट्वा तदद्भुतं रूपमप्राकृतमपीशितुः ।
 जनानां नेत्रभृङ्गाली तत्रैवाऽरमतानिशम् ॥६८॥
 पितरावथ वीक्ष्यास्य तारुण्यारम्भमुच्चकैः ।
 चिन्तयामासतुः कन्या कोपयामोचिता भवेत् ॥६९॥
 काचित् सौभाग्यभाग्यानां शेवधिः पुण्यशालिनी ।
 सदृशाऽभिजनाऽस्य स्ताद्वधूर्द्धयौ पिता हृदि ॥७०॥
 अथान्यदा सभाऽऽसीनोऽश्वसेनः सह राजभिः ।
 आगाद् देशान्तराद् दूतः प्रतीहारनिवेदितः ॥७१॥
 आहूतोऽथ नृपेणाऽसौ प्राविशन्नृपमन्दिरम् ।
 सोपहारं नमश्चक्रे अश्वसेनं नृपुङ्गवम् ॥७२॥

(६५) उसकी दोनों जंघाएँ विजयलक्ष्मी के झूठे के खम्भे की भाँति थीं । उसके दोनों चरण (अपनी) कान्ति से स्थलकमल को जीत लेते थे । (६६) प्रभु का वह शरीर, वह सौंदर्य, वह रूप, वह शुभ अवस्था और वह सर्वांग सौंदर्य सब उपमानों से बढ़कर था । (६७) मान और उन्मान के प्रमाणों से अन्यूनाधिक तथा अंगोपाङ्ग के नौ सौ शुभ लक्षणों से युक्त वह शरीर शोभायमान था । (६८) उस प्रभु के अद्भुत दिव्य रूप को देखकर लोगों की नेत्रभ्रमरपंके रात-दिन वहीं पर रमण करने लगी । (६९) पार्श्वदेव की उन्नत तरुणावस्था को देखकर माता-पिता ने सोचा कि कौन कन्या इसके विवाह योग्य होगी ! (७०) कोई सौभाग्य रूप भाग्य की भण्डार, पुण्यशालिनी, वंशानुकूल ऐसी वधू इसकी हो ऐसा पिता ने मन में ध्यान किया (अर्थात् विचार किया) । (७१) एक बार राजा अश्वसेन अनेक राजाओं के साथ सभा में बैठे हुए थे । (तभी) देशान्तर से एक दूत आया जिसकी जानकारी प्रतिहारी ने राजा को दी । (७२) राजा ने दूत को बुलवाया और राजभवन में प्रवेश करते हुए उसने (उस दूत ने) उपहार सहित नृपश्रेष्ठ अश्वसेन को नमस्कार किया ।

राज्ञाऽयासनदानादिसन्मानेन पुरस्कृतः ।
संभाष्य मधुरोल्लापैः कुशलप्रश्नपूर्वकम् ॥७३॥
पृष्ठः प्रपन्नमनसा कस्मात् त्वमिह चागमः ? ।
स ऊचे श्रूयतां स्वामिन् ! यतोऽत्रागमनं मम ॥७४॥
आस्ते कुशस्थलामिह्ये पत्तने पृथिवीपतिः ।
नाम्ना प्रसेनजिद् राज्यं पालयामास नीतिवित् ॥७५॥
तस्य पालयतो राज्यमन्यदा यमनेशितुः ।
सन्देशहारकोऽत्रागादूचे नरपतेः पुरः ॥७६॥
सप्रमाणं श्रणुः स्वामिन् ! कालिन्दीतटनीवृताम् ।
मण्डलाधिपतिः स्वीयप्रतापोत्तापिताऽहितः ॥७७॥
राजा यमननामाऽस्ति भूपालप्रणतक्रमः ।
तेोचे मन्मुखेनेदं सावधानमनाः शृणु ॥७८॥
या रूास्य पृगाकोटिलावण्यतरुमञ्जरी ।
नाम्ना प्रभावतीत्यास्ते त्वन्मुता सा मदाज्ञया ॥७९॥
त्वयाऽऽशु दीयतां मद्यं स्वराज्यश्रेयसेऽन्यथा ।
सन्नद्धो भव युद्धे त्वं तेन मत्प्रभुणा द्रुतम् । ८०॥

(७३-७४) राजा ने भी उस दूत का आसन देकर सम्मान किया । मधुर सम्भाषण करके कुशल प्रश्नपूर्वक प्रसन्नचित्त हो राजा ने दूत से पूछा-तुम यहाँ कैसे आये हो ? दूत ने कहा-स्वामिन्, जहाँ से मैं आया हूँ, (उमके बारे में) सुनिये । (७५) कुशलस्थल नामक नगर में प्रसेनजित् नामक राजा है जो न्यायपूर्वक राज्य का पालन करता है । (७६-७८) एक बार राज्य का पालन करते हुए उस राजा प्रसेनजित् के सामने यमनदेश के स्वामी का सन्देशवाहक दूत वहाँ आया और बोला-हे स्वामिन् ! सुनिये ! कालिन्दी नदी के तटवर्ती देशों का मण्डलाधिपति, अपने प्रताप से शत्रुओं को उत्तापित करने वाला, अनेक राजाओं के द्वारा नमस्कृत यमन नामक राजा है । उसने मेरे मुख द्वारा जो कहलवाया है, वह सावधान होकर सुनिये । (७९-८०) यदि अपने राज्य का कल्याण चाहते हो तो परमरूप लावण्यवाली प्रभावती नाम की जो तुम्हारी कन्या है उसे मेरी आज्ञा से मुझे दे दो, अन्यथा शीघ्र ही स्वामी यमन के पाप युद्ध करने के लिए तैयार हो जाओ ।

इत्याकर्ण्य वचस्तस्य दूतस्य ज्वलितः क्रुधा ।
 संदष्टौष्ठपुटः सोऽभूद् भ्रूकुटीकुटिलाननः ॥८१॥
 प्रसेनजिदुवाचाऽथ त्वमवध्योऽसि भूमताम् ।
 नो चेद् वाक्यफलं तावद् ददाम्यथैव ते द्रुतम् ॥८२॥
 मम धीरस्य वीरस्य पुंगवः समरङ्गणे ।
 कथं स्थास्यति गन्ता वा यमनो यमशासनम् ॥८३॥
 श्रुत्वेति तद्वचो दृता गत्वोचे स्वप्रभुं प्रति ।
 अथ स्वसचिवैः सार्धं प्रसेनजिदमन्त्रयत् ॥८४॥
 ब्रूत भोः ! सचिवाः ! सोऽस्ति यमनो दुर्मदोद्भुरः ।
 तेन सन्धिर्विधीयेत विग्रहो वा तदुच्यताम् ॥८५॥
 अथाह वृद्धसचिवो राजनीतिविशारदः ।
 प्रभृणां तावता श्रेयो यावत् तेजोऽभिवर्धते ॥८६॥
 मदक्लिन्नकटैर्यावत् स्वयं नखविदीरितैः ।
 मातङ्गैर्वर्तनं तावन् मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रता ॥८७॥
 विहाय समरं नो चेन्मृत्युर्युक्तं पलायनम् ।
 अथ मृत्युर्ध्रुवस्तत् किं मुधा विधाप्यते यशः ॥८८॥

(८१) उस दूत के इस प्रकार के वचन को सुनकर जला हुआ वह राजा प्रसेनजित् अपने होठों को काटता हुआ कुटिल भौहों वाले मुखवाला हो गया । (८२) राजा प्रसेनजित् ने कहा—दूत ! तू अवध्य है । अन्यथा इस बात का फल शीघ्र ही मैं तुझे देता । (८३) मुझ धीर वीर (प्रसेनजित्) के सम्मुख रण रूी आंगन में वह यमन कैसे ठहर सकेगा अर्थात् शीघ्र ही यमराज्य को चला जायेगा । (८३) दूत ने प्रसेनजित् राजा के यह वचन सुनकर, यमनराजा को जाकर कह दिये । प्रसेनजित् ने अपने मन्त्रियों के साथ मंत्रणा प्रारम्भ कर दी । (८५) हे मन्त्रियों !, कहो, वह यमन बड़ा ही दुष्ट है, उसके साथ सन्धि की जाये या युद्ध किया जाये. स्पष्ट बोलो । (८६) तब वह सचिव जो राजनीति में पण्डित था बोलो—राजाओं का तभी तब कल्याण है, जब तब (उनका) पराक्रा बढ़ता है । (८७) मद से टरकते हुए गण्डस्थल वाले और आने नखों से चीरे हुए हाथियों से जब तक मृगराजसिंह अपनी आजीविका करता है तब तक ही उसकी मृगेन्द्रता है । (८८) युद्धभूमि छोड़ने से अगर (कभी) मृत्यु होती ही न हो तब तो (युद्धभूमि से) भाग जाना ब्रोक है । यदि मृत्यु निश्चित ही है तो फिर यश को बेकार क्यों नष्ट करते हो ? ।

गवाकृतीन् सुतान् गावो जनवन्त्यखिलाः परम् ।
पुङ्गवं कापि धौरेयं शृङ्गोल्लिखितभूनलम् ॥८९॥
जननी जनयेत् पुत्रमेकमेव हि वीरसूः ।
शूरं परःशता नार्यः शतसंख्यान् सुतानपि ॥९०॥

उक्तं च—

आह्वेषु च ये शूराः स्वाभ्यर्थत्यक्तजीविताः ।
भृत्यभक्ताः कृतज्ञाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥९१॥
यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।
अक्षयाल्लभते लोकान् यदि क्लैब्यं न गच्छति ॥९२॥

अपि च—

सत्यधर्मव्यंपेतेन न संदध्यात् कदाचन ।
संसन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिरादेति विक्रियाम् ॥९३॥
प्रणामादुपहाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु ।
स सुप्त इव वृक्षाग्रे पतितः प्रतिबुध्यते ॥९४॥
आत्मोदयेः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥९५॥

(८९) सभी गायें अपनी आकृति के समान ही पुत्रों को उत्पन्न करती हैं, लेकिन कोई विरला गाय ह सींगों से पृथ्वी को उचाटने वाले अग्रगण्य श्रेष्ठ वलीवर्द को उत्पन्न करती है । (९०) वीर को पैदा करने वाली माता एक ही शूरवीर पुत्र को पैदा करती है लेकिन सैकड़ों नारियाँ (साधारण नारियाँ) सैकड़ों (सामान्य) पुत्रों को भी पैदा करती हैं । (९१) कहा भी है—युद्ध में जो वीर अपने स्वामी के लिए प्राण त्याग देते हैं वे ही भक्तसेवक कृतज्ञ हैं और वे ही स्वर्गगामी होते हैं । (९२) जहाँ जहाँ युद्धस्थल में शत्रुओं से घिरा हुआ जो शूरवीर मारा जाता है, वह यदि अधीर (कायर) न हो तो अक्षयलोक में जाता है । (९३) और भी—सत्य और धर्म से रहित राजा (अथवा पुरुष) के साथ कभी भी संधि नहीं करनी चाहिए । अच्छी तरह से संधि किया हुआ भी वह दुष्टता के कारण पुनः विकार (क्रोध-द्वेष) को प्राप्त होता है । (९४) जो राजा प्रणाम के कारण या उपहार के कारण शत्रुओं में विश्वास कर बैठता है वह वृक्ष के अग्रभाग पर सोये हुए की भाँति गिरता हुआ ही नजर आता है । (९५) स्वयं की उन्नति (व) शत्रुओं की हानि—ये दो ही नीति और इतनी ही नीति है । इनका स्वीकार करके ही कृतकृत्य हुए राजालोग अपनी नीतिकुशलता को फैलाते हैं ।

अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः ।
 पराक्रमः परिभवे वैजात्यं सुरतेष्विव ॥९६॥
 यावज्जीवितकालोऽस्ति यावद् भाग्यानुकूलता ।
 तावत् प्रतापमुत्साहं न त्यजन्त्युदयार्थिनः ॥९७॥
 बुद्धिं शक्तिं तथोपायं जयं च गुणसंयुतम् ।
 तथा प्रकृतिभेदांश्च विज्ञाय ज्ञानवान् नृपः ॥९८॥
 दुर्मदानां विपक्षाणां वधायोद्योगमाचरेत् ।
 अलसो हि निरुद्योगो नरो ब्राम्ह्येत शत्रुभिः ॥९९॥
 स्वाभाविकी वैनयिकी द्विधा बुद्धिर्नृणां भवेत् ।
 आद्या भाग्योदयोद्भूता गुरार्विनयजाऽपरा ॥१००॥
 मन्त्रोत्साहप्रभुत्वोत्थाः शक्तयस्तिष्ठ ईरिताः ।
 मन्त्रशक्तनृपाणां सा मन्त्रिणा मन्त्रयेद् रहः ॥१०१॥
 मन्त्रः स स्यादषट्कर्णस्तृतीय देरगोचरः ।
 स च बुद्धिमता कार्यः स्त्री धूर्त शिशुभिर्न च । १०२॥
 उत्साहशक्त्यत्र स्यात् संग्रामादौ प्रगल्भता ।
 ऊजस्वल्त्वं शौर्यं च निर्भयत्वं पर भवे ॥१०३॥

(९६) अन्य समय पर क्षमा पुरुष का भूषण है जैसे अन्य समय पर लज्जा युवतीजन का भूषण है, (किन्तु) युद्ध में तो पुरुष का भूषण पराक्रम है जैसे सुरतक्रीड़ा में युवतीजन का भूषण धृष्टता है । (९७) जब तक यह जीवनकाल है और जब तक भाग्य की अनुकूलता है तब तक उन्नति की इच्छा रखने वाले राजालोग अपने प्रताप व उत्साह को नहीं छोड़ते हैं । (९८-९९) यथासंभव बुद्धि, शक्ति, उपाय, गुण, जय तथा प्रकृतिभेद को समझकर ज्ञानवान् राजा शत्रुभिः शत्रुओं के वध के लिए इन्हें व्यवहार में लायें । आलसी एवं निरुद्योगी व्यक्ति शत्रुओं द्वारा पीड़ित हो जाता है । (१००) मनुष्यों की बुद्धि दो प्रकार की होती है—स्वभाविकी एवं वैनयिकी पहली भाग्योदय से उत्पन्न होती है और दूसरी गुरु के विनय से उत्पन्न होती है । (१०१) राजनीति में प्रभुत्व, उत्साह व मन्त्र से जन्य तानशक्ति का ही कार्य है । राजाओं की मन्त्रशक्ति एकान्त में मन्त्रिण के साथ मन्त्रणा की जाय, यही है । (१०२) तृतीय आदि व्यक्ति को अगोचर और छः कानों का जिसमें प्रयोग न हुआ हो वैसी मन्त्रणा बुद्धिमान करें (किन्तु) स्त्री, धूर्त व बालक के साथ (वैसी मन्त्रणा) न करें । (१०३) संग्राम आदि में जहाँ प्रगल्भता, बलवत्ता, शौर्य और पराभव होने पर भी निर्भयता रहती है, वह उत्साहशक्ति है ।

प्रभुत्वशक्तिर्यत्र स्यादाधिक्यं दण्ड-कोशयोः ।

दण्डयानां दण्डतः कोशवृद्धिर्नीतिश्च जायते ॥१०४॥

स राजा यस्य कोशः स्याद् विना कोशं न राजता ।

नरस्य न नरो भृत्यः किन्तु कोशस्य भूपतेः ॥१०५॥

साम-दाने भेद-दण्डावित्युपायचतुष्टयी ।

तत्र साम प्रियैर्वाक्यैः सान्त्वनं कार्यकृन्मतम् ॥१०६॥

गजाश्वपुररत्नादिदानैः शत्रोर्विभज्य च ।

दायादमन्त्रिसुभटान् द्विषं हन्यादुपायवित् ॥१०७॥

उक्तं च—

लब्धस्य हि न युध्यन्ते दानमिन्नानुजविनः ।

लब्धोऽनुजीःकैरेव दानमिन्नैर्विभज्यते ॥१०८॥

भेदः स्यादुपजापो यद् बन्धूनां शत्रुसङ्गिनाम् ।

विभिन्नानां वशीकात् क्रियते शत्रुनिग्रहः ॥१०९॥

यद् उक्तम्—

दायादादपरो मन्त्रो न ह्यस्त्य कर्षणे द्विषाम् ।

तत्र उत्थापयेद् यत्नाद् दायादं तस्य त्रिद्विषः ॥११०॥

(१०४) जहाँ दण्ड (शिक्षा) और कोष का आधिक्य हो वह प्रभुत्वशक्ति है । शिक्षापात्र को शिक्षा देने से कोष की वृद्धि होती है और नीति का आविष्कार होता है । (१०५) जिस हा कोष सम्पन्न है वही राजा है, बिना कोष के कोई राजत्व नहीं । मनुष्य मनुष्य का सेवक नहीं अपितु मनुष्य भूपति के कोष का सेवक होता है । (१०६) राजनीति में साम दान, दण्ड, भेद—ये उपायचतुष्टय ही प्रमुख हैं । प्रिय वाक्यों से सान्त्वना देना ही, जो कार्य लाभक होता है, साम माना गया है । (१०७) हाथों, घोड़े, नगर (गाँव), रत्न आदि दान देकर शत्रु के दायाद को (युव राज, राजवंशी या राज्य के वारस को), मन्त्रियों को एवं सुभटों को फोड़कर शत्रुओं का नाश करें । (१०८) कहा भी है — दान द्वारा फोड़े हुए सेवक जिस (राजा) के पास से लाभ प्राप्त करते हैं उसके साथ लड़ते नहीं हैं (अपितु) वे फोड़े हुए सेवक उस (राजा) को विशेषतः भजते हैं । (१०९) शत्रु के सहायक बन्धुओं को विप्लव के लिए गुप्तरीति से प्रोत्साहित करना—यह भेद है । शत्रु से जो नाराज हो उन सबको अपने वश में कर लेने से शत्रु को दबाया जाता है । (११०) क्यों कि कहा गया है — शत्रुओं को आकृष्ट करने में दायाद (युवराज, राजवंशी या राज्य के वारस) से अन्य कोई मन्त्र नहीं है । अतः उस शत्रु के दायाद को प्रयत्नपूर्वक उठाना (अपनी ओर मिलाना) चाहिए ।

सन्धाय युवराजेन यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।
 अन्तःप्रकोपनं कार्यमभियोक्तुः स्थिरात्मनः ॥१११॥
 अन्नमोषै रिपोर्देशावस्कन्दप्लोषसूदनैः ।
 स्वसैन्यस्यावमर्देन दण्डः स्यादरिनिग्रहे ॥११२॥
 तदुक्तम्—
 नाशयेत् कर्षयेच्छत्रून् दुर्गाकण्टकमर्दनैः ।
 परदेशप्रदेशे च कुर्यादाटविकान् पुरान् ॥११३॥
 दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ।
 भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारान् परिखां तथा ॥११४॥
 स्यादिन्द्रियाणामर्थेषु यदि धर्माऽविरोधिनी ।
 प्रवृत्तिरन्तरङ्गारिनिग्रहस्तं जयं विदुः ॥११५॥
 यदुक्तम्—
 कामः क्रोधस्तथा मोहो हर्षो मानो मदस्तथा ।
 षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते जयी नरः ॥११६॥
 सन्धिश्च विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः ।
 षड्गुणा भूभुजामेत जश्चीप्रणवावहाः ॥११७॥
 घोरे प्रवृत्ते समरे नृपयोहतसैन्ययोः ।
 मैत्राभावस्तु सन्धिः स्यात् सावधिश्च गतावधिः ॥११८॥

(१११) युवराज या मुख्यमन्त्री के साथ सन्धि करके स्थिरबुद्धिवाले शत्रु के अन्दर प्रकोप पैदा करना चाहिए । (११२) अपने सैन्य द्वारा शत्रु के अन्न की चोरी तथा शत्रु के प्रदेश में हल्ला (शोर), आग और नाश करवा कर (शत्रु को) कुचलना-यह शत्रु को दबाने के लिए दण्डनाति है । (११३) कहा भी है —जहाँ तक एक भी शत्रु रहे वहाँ तक दुर्गों का नाश करके शत्रुओं का विनाश करना चाहिए, पतन करना चाहिए, और दुश्मन के प्रदेश में, जङ्गलों में नगरों की (छावियों का) रचना करनी चाहिए । (११४) शत्रु के घास, अनाज के भण्डार, जल व इन्धन को सदैव दूषित करें, तथा तालाब, परकाटे तथा नगर को खाइयों को भी ताड़फोड़ दे । (११५) यदि इन्द्रियों की अपने विषयों में धर्माविरोधी प्रवृत्ति होती है तब अन्तरङ्ग शत्रुओं का जो निग्रह होता है उसे विद्वान् लोग जय कहते हैं । (११६) कहा भी है :- काम, क्रोध, मोह, हर्ष, अभिमान व मद इस षट् वर्ग (ये छः अन्तःशत्रु है) को छोड़ दे । इनके छोड़ने पर पुरुष (यहाँ-राजा) विजयी होता है । (११७) विजयलक्ष्मी के प्रति प्रेम बढ़ाने वाले राजाओं के ये छः गुण हैं—सन्धि, विग्रह, यान (प्रस्थान), आसन, द्वैधीभाव और आश्रय (११८) भयंकर युद्ध के शुरू हो जाने पर मरी हुई सेना वाले दोनों राजाओं का मैत्रीभाव सन्धि है । यह सन्धि अवधिवाली या अवधिरहित होती है ।

अन्योन्यं विजिगीषुभिः विग्रहः क्रियते भटैः ।
 परस्परपघातेन गजाश्वरथपत्तिभिः ॥११९॥
 स विग्रहो भवेन्नेतुर्यानिं स्याद्यदरोन् प्रति ।
 स्वसैन्येनैव तद्यानं प्राहुर्नीतिविशारदाः ॥१२०॥
 स्ववृद्धौ शत्रुहानौ वा तुष्णीभास्तदासनम् ।
 अनन्यशरणस्यारेः संश्रयं त्वाश्रयं विदुः ॥१२१॥
 सन्धिविग्रहयोर्वृत्तिर्द्वैधीभावः प्रति द्विषम् ।
 स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलान्यपि ॥१२२॥
 सप्तप्रकृतयश्चैता राज्याङ्गानि प्रचक्षते ।
 राज्यस्थितेरिति प्रोक्ता भूमिजां वृद्धिहेतवः ॥१२३॥
 तेषु प्रधाना शक्तिः स्यादुपायबलवत्तरा ।
 लभ्यतेऽम्भो हि खननान्मथनादनलो भुवि ॥१२४॥
 निरुद्योगमनुत्साहमप्रज्ञमविमर्शिनम् ।
 अनुपायविदं भीरुं त्यजन्ति पुरुषं श्रियः ॥१२५॥
 निरुद्योगं नरपति मत्वा सान्तसेनिकाः ।
 महामात्राश्च पुत्राश्च तेषुपि तं जहति क्षणात् ॥१२६॥

(११९-१२०) एक दूसरे को जीतने की इच्छा रखनेवाले दो शत्रु राजा हाथी, अश्व, रथ व पैदल सेनाओं वाले वारपुरुषों द्वारा पारस्परिक हनन से विग्रह करते हैं। राजा का यह विग्रहगुण है। अपनी सेना के साथ ही दुश्मनों के प्रति जो प्रस्थान किया जाता है उसको नीतिविशारदों ने यानगुण कहा है। (१२१) अपनी उन्नति व शत्रुहानि में चुप रहना ही आसन नामक राजनाति का चतुर्थ गुण है। अनन्यशरण वाले अर्थात् जिसका अन्य कोई रक्षक नहीं है ऐसे शत्रु को भासरा देना ही आश्रय कहलाता है। (१२२-१२३) शत्रु के प्रति सन्धि-विग्रह की वृत्ति (एक आर सन्धि और दूसरा ओर लड़ाई को तैयारियाँ) द्वैधीभाव है। राजा, मन्त्र, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग व सेना ये सात प्रकृतियाँ राज्य के अंग कहलाती हैं। ये प्रकृतियाँ ही राज्य को स्थिरता के लिए हैं इन कारण उन्हें राजाओं के उन्नति के हेतु कहा गया है। (१२४) उनमें (अर्थात् बुद्धि, शक्ति, उपाय, गुण, जय और प्रकृति में) शक्ति प्रधान है। वह उपायों से बलवती होती है। जगत् में खोदने से जल तथा मन्थन करने से अग्नि प्राप्त की जाती है। (१२५) उद्यागहीन, उत्साहरहेत, अविचारशाल व उपाय को नहीं जानने वाले डरपोक पुरुष को राज्यश्री छोड़ देती है। (१२६) बोद्धा सैनिक भी निरुद्योगी समझकर छोड़ देते हैं, तथा महामात्र और पुत्र भी ऐसे राजा को तत्क्षण छोड़ देते हैं।

इत्येवं धीमत्स्वस्यास्य श्रुत्वा कालोचितं वचः ।
 ऊरीकृत्य तदाख्यातं युद्धे सज्जोऽभवन्नुपः ॥१२७॥
 दूतोऽहं प्रेषितः स्वामिनाह्वातुं त्वां यथौचिती ।
 स्यात् तथा क्रियतां शीघ्रकृत्ये स्वत्वविलम्ब्य यत् ॥१२८॥
 इति दूतोदितं श्रुत्वाऽश्वसेनः सह सैनिकैः ।
 प्रस्थानं कर्तुर्मात्रेभे तावत् पार्श्व इदं जगौ ॥१२९॥
 सुते सति मयि स्वामिन्न प्रस्थानं तवोचितम् ।
 रवेर्बालातपेनापि तमः किं न विहन्यते ? ॥१३०॥
 इत्युक्तवा संननाहोच्चैः श्रीपार्श्वः सबलः स्वयम् ।
 सैनिकैर्भूरिभिर्युक्तश्चक्रे प्रस्थानमङ्गलम् ॥१३१॥
 तावच्च कालयमनः सर्वौघेणाभ्यषेणयत् ।
 प्रसेनजिञ्चाभ्यमित्रं सहसैन्यस्तदाऽचलत् ॥१३२॥
 द्वावेव ध्वजिनीं स्वां स्वां विभज्यातिमदोद्धरौ ।
 रणभूमिमधिष्ठाय तस्थतुर्विप्रहार्थिगौ ॥१३३॥
 रणतूर्यमहाध्वानः सेनयोऽभयोरभूत् ।
 सुभटानां युयुत्सूनां वर्धयन् मृघसाहसम् ॥१३४॥

(१२७) इस प्रकार बुद्धि ही जिसका मित्र है ऐसे उस वृद्धसत्त्विक के समयोचित वचनों को सुनकर राजा (प्रसेनजित्) उसकी बात स्वीकार कर युद्ध के लिए सज्जित हुए । (१२८) हे स्वामिन् ! मैं दूत रूप में आप को बुलाने के लिए आया हूँ । आप उचित शीघ्रता करिये जिससे कार्य में विलम्ब न हो । (१२९-१३०) दूत की बात सुनकर महाराजा अश्वसेन सैनिकों के साथ ज्योंही प्रस्थान करने लगे तब ही पार्श्व कुमार ने यह कहा--हे स्वामिन् !, मुझ पुत्र के होते हुए आपका युद्धस्थल में प्रस्थान करना उचित नहीं है । सूर्य के बाल आतप (प्रातःकाल के, उदय होते सूर्य) द्वारा क्या अन्धकार नष्ट नहीं किया जाता ? (१३१) इस प्रकार उच्च स्वर से कहकर उन बलवान पार्श्वकुमार ने असंख्य सैनिकों के साथ युद्ध के लिए मंगल प्रस्थान किया । (१३२) उधर कालयमन ने भी समस्त समुदाय के साथ प्रस्थान किया तथा महाराज प्रसेनजित् भ सेना सहित शत्रु के प्रति खाना हुए । (१३३) दोनों मदोद्धत राजाओं ने अपनी अपनी सेनाओं को विभक्त कर, रणभूमि में पहुँचकर युद्ध की इच्छा से अपनी स्थित जमा दी । (१३४) दोनों सेनाओं में युयुत्सु सुभटों के युद्ध-साहस को बढ़ाती रणभेरियों की महान ध्वनि हुई ।

गजानां शृंहितैस्तत्र हयहेषारवैर्भृशम् ।
 रणातोधारवैः शब्दाडम्बरो व्यानशेऽम्बरम् ॥१३५॥
 निर्ययुः कृतसंरम्भाः सुमटा ये रणोद्भटाः ।
 धन्विनः कृतहुङ्काराः सेनयोरुभयोरपि ॥१३६॥
 अभ वानायुजाः पारसीक-काम्बोज-बाल्हिकाः ।
 हयाः प्रचेलश्चपला रणाब्धेरिव वोचयः ॥१३७॥
 लिलङ्घयिषवः स्वयैर्गतैरिव नमोऽङ्गणम् ।
 अपावृत्तादिभिर्हेषाघोषा वाहा विरेजिरे ॥१३८॥
 चक्रेणैकेन चक्री चेद्वयं चक्रद्वयीभृतः ।
 वदन्त इति चीत्कारै रथा जेतुमिवाभ्ययुः ॥१३९॥
 विपक्षोभमदामोदमाग्राय प्रतिघोद्धुराः ।
 सिन्धुरा निर्ययुर्योद्धुं जङ्गमा इव भूषराः ॥१४०॥
 धानुष्का रणनाट्यस्योपक्रमे सूत्रधारवत् ।
 निनदतूर्यनिःस्वानं रणरङ्गमभीविशन् ॥१४१॥
 रणरङ्गमनुप्राप्य धन्विभिः शितसायकाः ।
 बभुः प्रथमनिर्मुक्ताः कुसुमप्रकरा इव ॥१४२॥

(१३५) वहाँ हाथियों की चिंघाड़ और अश्वों की अतीव हिनहिनाहट से तथा युद्ध के आतोच आदि बाजों की ध्वनि के आडम्बर से अम्बर व्याप्त हो गया । (१३६) युद्ध में कुशल, आवेशवाले, धनुर्धारी, हुंकार करते वे वीर दोनों सेनाओं से निकल पड़े । (१३७) वहाँ युद्ध रूपी समुद्र की उत्ताल तरंगों की भाँति वानायुज, पारसीक, काम्बोज व बाल्हिक चञ्चल घोड़े चलने लगे । (१३८) अपनी चाल से मानों आकशमण्डल को भी लाँघने की इच्छा वाले वे हेषारव करते घोड़े अपनी उलट पुलट (उलटी-सीधी) चाल से सुशोभित हो रहे थे । (१३९) तुम एक चक्र से चक्री हो तो हम दो चक्रों को धारण करने वाले हैं- इस प्रकार जोर से चित्कार करते हुए रथ (दुश्मन को) जीतने के लिए आगे बढ़ने लगे । (१४०) शत्रु के हाथियों के मद की गंध को सूँघकर प्रतिस्पर्धी हाथी युद्ध करने के लिए गतिमान पर्वत की भाँति निकल पड़े । (१४१) रणस्थलरूप नाट्य के आरम्भ में सूत्रधार की भाँति इस राजा के धनुर्धारी योद्धा तुरही आदि की ध्वनि वाले रणाङ्गरूप रंगमंडप में प्रविष्ट हो गये । (१४२) रगरूप रंगभवन में प्रवेश करके धनुर्धारियों द्वारा सर्वप्रथम छोड़े हुए तीक्ष्ण बाण (रंगभवन में सूत्रधार के द्वारा) सबसे पहले बरसाये गये (इवेत) पुष्पों की भाँति शोभित हो रहे हैं ।

लघुकृत्यकरा बाणाः प्रगुणा दूरदर्शिनः ।

क्षिप्रोद्धोनाः खगाः पेतुः खगास्तीक्ष्णानना इव ॥१४३॥

कश्चित् परेरितान् बाणान् अर्धचन्द्रनिभैः शरैः ।

चिच्छेद सम्मुखायाताँल्लघुहस्तो धनुर्धरः ॥१४४॥

धन्विभिः कृतसन्धानाः शरासनमधिष्ठिताः ।

यानं प्राप्ताश्च मध्यस्था द्वैधीभावरताः शराः ॥१४५॥

विग्रहे निरताः शत्रुसंश्रया दूरदर्शिनः ।

षाड्गुण्यमिव नीतास्ते स्वक्रियासिद्धिमाप्नुवन् ॥युगमम् ॥१४६॥

केषाञ्चिद् दृढमुष्टीनां बाणाः पारङ्गमा इव ।

लक्ष्यन्ते लक्ष्यमुद्भिद्य गजाश्वरथसैनिकम् ॥१४७॥

नाराचधारासम्पातैर्भिन्ना अपि महारथाः ।

तथाप्यभ्यरि धावन्तश्चिरं युयुधिरे भृशम् ॥१४८॥

कर्णलग्ना गुणयुताः सपत्नाः शीघ्रगामिनः ।

दूता इव शरा रेजुः कृतार्थाः परदृढगताः ॥१४९॥

(१४३-१४४) शीघ्र कार्य करने वाले, दूर तक देखने वाले, ऋजु गति वाले, झड़प से उड़ने वाले, आकाश में गमन करने वाले और धारदार मुख वाले बाण शीघ्र कार्यकारी, दूरदर्शी, ऋजु गति वाले, झड़प से उड़ने वाले, आकाशगामी और तीक्ष्ण चोंच वाले पक्षियों की तरह गिरते थे । (१४५-१४६) धनुर्धारियों के द्वारा जिन्होंने (डोरी-ज्या के साथ) सन्धि की है; जिन्होंने अपने आसन (धनुष) पर स्थान जमाया है; जिन्होंने यान (गमन) प्राप्त किया है, जिन्होंने (रण के) मध्य में रहकर द्वैधीभाव प्राप्त किया है; जिन्होंने विग्रह में (शरीर) में प्रवेश किया है और जिन्होंने शत्रुओं का आश्रय-लिया है ऐसे दूरदर्शी बाण मानों षड्गुणवाले बन कर अपनी कार्यसिद्धि को पूर्ण कर रहे थे । युगमम् । (१४७) दृढ मुष्टी वाले किन्हीं बहादुरों के बाण, गज, अश्व, रथ, सैनिक आदि लक्ष्य को बेष कर मानो पारगामी हों ऐसे दिखाई देते थे । (१४८) बाणों की मूसलाधार वर्षा से भिन्नभिन्न महारथी, दुश्मनों के सम्मुख दौड़ते हुए, खूब जोर से बहुत समय तक युद्ध करने लगे । (१४९) कर्णलग्न (कानों तक खींचे हुए), गुणयुक्त (ज्या से सम्बद्ध), सपत्न (एक साथ गिरने वाले), शीघ्रगामी, कृतार्थ और परदृढगत (दुश्मन के हृदय में लगे हुए), बाण कर्णलग्न (कान में बात कहते हुए) गुणयुक्त, सपत्न, शीघ्रगामी, कृतार्थ और परदृढगत हूँ जैसे शोभित थे ।

क्षोणीशस्य प्रसेनस्य च परदलनाभ्युद्यतस्यापि चापा-
 न्निर्यातो बाणवारः समरभरमहाम्भोधिमन्थाचलस्य ।
 नो मध्ये दृश्यते वा दिशि विदिशि न च क्वापि किन्तु त्रणाङ्कः
 शत्रूणामेव हृत्सु स्फुटमचिरमसौ पापतिदूर्खवेधी ॥१५०॥
 अस्य क्षोणीशस्य खड्गः समन्ताद्
 द्वैधीभावं विद्विषामन्वयुङ्क्त ।
 मत्वा सर्वमिकतः स्वार्थसिद्धिं
 हित्वेवान्यं षड्गुणत्वं सुतीक्ष्णः ॥१५१॥
 मिथः प्रवृत्तं तुमुलमुभयोः सेनयोरथ ।
 शराशरि महाभीमं शस्त्राशस्त्रि गदागदि ॥१५२॥
 दृष्ट्वाशु कालयमनभटैः स्वं निर्जितं बलम् ।
 प्रसेनजित् स्वयं योद्धुमारंभे प्रतिघारुणः ॥१५३॥
 तस्य ज्वलन्तो निशिताः शरौघाः स्फूर्तिभीषणाः ।
 मूर्धसु विषतां पेतुर्वज्रपातायिता भ्रुवम् ॥१५४॥
 स्फुरद्भिर्निशितैः प्रासैः सायकैर्वेगवत्तरैः ।
 उल्काज्वालैरिवाकीर्णा दिशः प्रज्वलितान्तराः ॥१५५॥
 अस्य त्रिंशत्कालिन्दीवेणीमाप्य परासवः ।
 निमज्ज्य विद्विषः प्राप्ताः स्वर्गस्त्रीसुरतोत्सवम् ॥१५६॥

(१५०) समराङ्गरूप महासागर का मन्थन करने में पर्वतरूप और शत्रुओं को नष्ट करने के लिए उद्यत पृथ्वीपति महाराजा प्रसेनजित् के धनुष से निकले हुए बाण न मध्य में और न दिशा-विदिशा में दृष्टिगत होते थे किन्तु शत्रुओं के हृदयों में उनके (बाणों के) घाव स्पष्ट रूप से प्रकट होते थे । (१५१) इस राजा प्रसेनजित् का खड्ग स्वयं अपनी स्वार्थसिद्धि को ही समझकर षड्गुणत्व का मानों परित्याग करके शत्रुओं में विरोध उत्पन्न करता था । (१५२) दोनों सेनाओं का पारस्परिक भयंकर बाणों का बाणों से, शस्त्रों का शस्त्रों से, गदाओं का गदाओं से युद्ध द्युलू होने लगा । (१५३) कालयमन के योद्धाओं के द्वारा स्वयं की विजित सेना को देखकर महाराजा प्रसेनजित् स्वयं युद्ध के लिए तैयार हो गये । (१५४) उस राजा प्रसेनजित् के ज्वलायमान, तीक्ष्ण, स्फूर्ति से भयंकर बाण शत्रुओं के मस्तकों पर वज्रपात के समान गिरने लगे । (१५५) चमकते तीक्ष्ण और वेगशील फेंके गये बाणों से दिशाएँ ऐसी चमक उठीं मानों उल्का की ज्वालाओं से व्याप्त हों । (१५६) इस राजा के खड्गरूप कालिन्दी वेणी (यमुनानदी का प्रवाह) को प्राप्त कर मृत्यु को प्राप्त हुए शत्रु स्वर्ग की स्त्रियों के साथ सुरतक्रीडा का उत्सव प्राप्त करने लगे ।

चक्रैरस्य द्विषच्चक्रं क्षयमपादितं क्षणात् ।
 मार्तण्डकिरणैस्तीक्ष्णैर्हिमानीपटलं यथा ॥१५७॥
 यमनः स्वबलव्यूहप्रत्यूहं वीक्ष्य सक्रुधा ।
 ज्वाल ज्वालजटिलः प्रलयाग्निं वोच्छ्रितः ॥१५८॥
 धावति स्म हयारूढः सादिभिर्निजसैनिकैः ।
 यमनो यमवत् क्रुद्धः परानीकं व्यगाहत ॥१५९॥
 धनुर्ध्याघोषसंसक्तजयनिर्घोषमघणाः ।
 यमनस्य भटाः सवः सारेण भ्यषेणयन् ॥१६०॥
 ततः प्रहृत्तनिःस्वानगम्भीरध्वानभीषणः ।
 चलदाश्वीयकल्लोलः प्रवृत्तोऽयं रणार्णवः ॥१६१॥
 रणेऽसिधागसङ्घट्टनिष्ठूयाग्निकणानले ।
 अनेकशरसङ्घातसम्पातोल्कातिदारुणे ॥१६२॥
 अभिशस्त्रमघावजर्वन्तो गर्वदुर्वहाः ।
 प्राक् कशाघाततस्तीक्ष्णा न सहन्ते पराभवम् ॥युग्मम् ॥१६३॥
 चलदश्वखुरक्षुण्णरेणुधारान्धकारिते ।
 नासीत् स्वपरविज्ञानमत्र घोरे रणाङ्गणे ॥१६४॥

(१५७) इस राजा के चक्रों द्वारा शत्रुराजा का चक्र क्षण में ही इस प्रकार नष्ट कर दिया गया जिस प्रकार सूर्य को प्रचण्ड किरणों से बर्फ का समुदाय नष्ट हो जाये । (१५८) यमनराजा अपनी सेना के व्यूह में उपस्थित विघ्न को देखकर क्रोधित होकर ज्वालाओं से व्याप्त और ऊर्ध्वगामी शिखाओं वाली प्रलयकाल की अग्नि के समान मानों जलने लगा । (१५९) अपने अश्वारोही योद्धाओं के साथ स्वयं अश्वारोही होकर यमराज की भाँति क्रुद्ध राजा यमन दौड़ा और शत्रु की सेना में प्रवेश कर गया । (१६०) धनुष की ज्या की टड्कार से मिश्रित विजय की घोषणा से भीषण यमन के योद्धा सब प्रकार के बल से आक्रमण कर बैठे । (१६१) तदनन्तर पारस्परिक मारकाट की गंभीर ध्वनि से भीषण चञ्चल अश्वकल्लोल (तरंगों) वाला वह रणरूपी सागर शुरू हुआ । (१६२-१६३) तलवार की धार की रगड़ से छत्पन्न अग्निकणवाले और अनेक बाणों के गिरने से अतीव भयंकर लगने वाले उस रणाङ्गण में, चाबुक की चोट से तेज चलने वाले गर्विले घोड़े शत्रुकृत अपमान को सहन नहीं कर पाते थे । (१६४) दौड़ते घोड़े के खुरों से चूर्णित रजधारा से अन्धकारयुक्त उस भयंकर संग्राम में अपने पराये का ज्ञान नहीं होता था ।

वसासृग्मांसपङ्केऽस्मिन् रणाब्धौ मन्दरंहसः ।
रथकट्या महापत्ता इव चेरुश्चन्द्रध्वजाः ॥१६५॥

छिन्नैकपादोऽपि हयः स्वामिनं स्वं समुद्रहन् ।
जातामर्षोऽभशस्त्रं स प्रधावन् युयुधे विरम् ॥१६६॥

अथो यमनसैन्येन प्रसेनश्चार्कबिम्बवत् ।
प्रावृत्तः परवेषेण रेजे राजशिरोमणिः ॥१६७॥

गजानीकैर्गजा युद्धं दन्तादन्ति विधित्सवः ।
तड्विन्तः पयोवाहाः प्रावृषेण्या इवाऽऽबभुः ॥१६८॥

रणसरसि शराम्भःपूरिते स्वामिदत्त-
द्रविणमसृणतौलाभ्यक्तशीर्षाः सुयोधाः ।

प्रतिभटसुभटोद्यस्वङ्गघाताच्छकल्कैः
कृतसवनविधानाः शुद्धिमीयुः कृतार्थाः ॥१६९॥

हास्तिकं हास्तिकेनैव रथकट्या रथत्रजैः ।
सादिभिः सादिसंदोहो युयुधे सुचिरं मिथः ॥१७०॥

कौक्षेयकक्षतच्छिन्नः वीराणां मुण्डमण्डली ।
कमलार्चैव सा रेजे प्रमेनस्य जयश्रियः ॥१७१॥

(१६५) चर्ची, रक्त, मांस से कीचड़ बने इस रणसागर में मन्दवेगवाले रथ के समूह चंचल ध्वजाओं वाली नावों की तरह घूम रहे थे । (१६६) एक पैर से कटा हुआ भी घोड़ा अपने स्वामी को ले जाता हुआ क्रोधित हो कर शस्त्र के सामने दौड़ता हुआ लड़ने लगता था । (१६७) यमन के सैन्य से घिरा हुआ राजशिरोमणि प्रसेनजित् परिवेष से घिरे हुए राजशिरोमणि सूर्यबिम्ब के समान शोभित था । (१६८) हाथियों की सेना के साथ दन्ता-दन्ति युद्ध करते हाथी वर्षाकालीन विद्युत् युक्त बादलों की तरह मानों चमक रहे थे । (१६९) बाणरूप जल से परपूर्ण उस रणतड़ाग में अपने स्वामी के द्वारा प्रदत्त द्रव्यरूप चिक्कण तेल से मालिश किये मस्तक वाले योद्धा, पारस्परिक वीरों की खड्गघातरूप शुभ्र चूर्ण से यज्ञान्त स्नान की विधि से शुद्ध हो गये और कृतार्थ बने । (१७०) हाथी वाले सैनिक हाथीवालों के साथ, रथवान रथवालों के साथ तथा अश्वारोही अश्वारोहियों के साथ परस्पर बहुत काल तक युद्ध करते रहे । (१७१) तलवारों के प्रहार से छिन्न वीरयोद्धाओं की मुण्डमण्डली महाराजा प्रसेन की विजयलक्ष्मी की कमलपत्रा की भाँति शोभित होती थी ।

अथ हास्तिकसङ्घटनीलस्थूलघनाघनः ।
 शरासारक्षतोद्भूतरुधिराम्भःप्लुतक्षमः ॥१७२॥
 कृतबाह्यीक-काम्बोजाश्वीयमायूरताण्डवः ।
 स्फुरन्निस्त्रिंशच्चपलो निस्वानस्वानगर्जितः ॥१७३॥
 कठोरद्रुघणाघाताशनिनिर्घोषभीषणः ।
 चलत्पाण्डुपताकालीबलाकाव्याप्तपुष्करः ॥१७४॥
 धनुरिन्द्रधनुःशोभी सैन्ययोरुभयोस्तदा ।
 विस्फारसमरारम्भः पुपोष प्रावृषः श्रियम् ॥ कलापकम् ॥१७५॥
 निश्चितैर्विंशिसैर्भिन्नवपुषः परितो भटाः ।
 सेधानुकारतां भेजुः शस्त्रघातास्तचेतनाः ॥१७६॥
 ततस्तु कालयमनः क्रुद्धः काल इवापरः ।
 विलङ्घ्य सेनामरुणत् प्रसेनजितमेव सः ॥१७७॥
 युयुधे सम्मुखीभूय सोऽपि तेन रुषाऽरुणः ।
 ततः पार्श्वकुमारस्तु निजसैनिकसम्भृतः ॥१७८॥
 आगाञ्जयजयारावाकीर्णनिस्वाननिस्वनः ।
 महाकलकलस्तत्र प्रावर्त्तत महारणे ॥१७९॥

(१७२-१७५) हाथियों के झुण्ड के कारण काले काले बादलों वाला, बाणों के घाव में से निकलते रुधिर के कारण जलवर्षणक्षम, बाइलीक काम्बोज अश्वों के कारण मयूरताण्डव वाला, चमकती तलवारों के कारण त्रिजलीयुक्त, आवाज और कोलाहल के कारण बादलों की गर्जना वाला, कठोर द्रुघण (गदाओं) के आघात के कारण वज्र की आवाज से भयंकर, चञ्चल श्वेत पताकाओं के कारण बगुलियों से व्याप्त तालाबों वाला, धनुष के कारण इन्द्रधनु की शोभा-वाला, दोनों सैन्यों के युद्ध का विस्तृत आरम्भ वर्षा काल की शोभा को पुष्ट करता था । (१७६) चारों ओर से तेज बाणों से क्षत शरीर वाले योद्धा शस्त्रों की चोट से गतचेतना होते हुए लाल तरबूज के समान हो गये । (१७७) तदनन्तर द्वितीय यमराज की भाँति क्रोधित वह कालयमन सेना को उलंघ कर प्रसेनजित् को ही रोकने लगा । (१७८-१७९) सामने होकर वह भी क्रोधितमुख हो लड़ने लगा । तब अपने सैनिकों के साथ जय-जय की बड़ी पुकार करता पार्श्वकुमार आ पहुँचा । वहाँ रणभूमि में महाकोलाहल मच गया ।

१ सेध नामक एक तरबूज होता है जिसका रंग लाल होता है ।

यमनस्य मटास्तावत् कान्दिशीका हतौजसः ।
 बभूवुस्तपनोद्योते खद्योतद्योतनं कुतः ? ॥१८०॥
 श्रीमत्पार्श्वप्रतापोम्रतपनोद्योतविद्रुताः ।
 यमनाद्यास्तमांसीव पञ्चायांचकिरे द्रुतम् ॥१८१॥
 प्रसेनजिन्नुपाकै ये संनीयाऽस्थुर्मटाऽम्बुदाः ।
 व्यलीयन्त क्षणात् पार्श्वप्रसादपवनेरिताः ॥१८२॥
 प्रसेनजिच्च भगवत्प्रतापस्फूर्तिमद्भुताम् ।
 अवतीर्य गजान्मत्वा नत्वा पार्श्वपटाम्बुजम् ॥१८३॥
 पाद्यमर्धं च सम्पाद्य मणिपीठे निवेश्य तम् ।
 भास्तीभिर्गभाराभिः स स्तोतुमुपचक्रमे ॥१८४॥
 यन्नामाद्भुतदिव्यमन्त्रमहिमप्राग्भार नर्भासतो
 विघ्नव्यूहमहान्धकारपटली नश्यत्यवश्यं नृणाम् ।
 श्रीमत्पार्श्वजिनेश्वरः स्वयमसौ जागर्ति विश्वेश्वर—
 स्तस्मिन् सन्निहिते क्व वैरिडमः क्वेतिव्रजोपप्लवः ॥१८५॥
 त्वन्नामस्मृतिमात्रतोऽपि भगवन् ! दूरं व्रजन्त्यापदो
 बाधन्ते न च दुर्गदुर्गतिभवा बाधाः क्वचिज्जन्मिनाम् ।
 संसारव्यसनात्तिराशु विद्यं यातीति नात्यद्भुतं
 सौपर्ण्यपुरः सर्गसृपगणः किं वा समुत्सर्पति ? ॥१८६॥

(१८०) यमन के नष्टतेजवाले सैनिक कौन सी दिशा में भागना है यह भी नहीं सोच सके (और तितर-बितर हो गये) । सूर्य के उदय होने पर जुगनू का प्रकाश कैसे संभव है ? ।
 (१८१) शोभासम्पन्न पार्श्वकुमार के पराक्रमरूप उग्र सूर्य के प्रकाश से घबराये हुए यमन के सैनिक अन्धकार की भाँति शीघ्र ही भाग गये । (१८२) जो बादलरूपी योद्धा प्रसेनजित् राजारूप सूर्य को आच्छादित कर रहे थे वे क्षण भर में पार्श्वकुमार के अनुग्रहरूप वायु से तितर-बितर होकर नष्ट हो गये । (१८३-१८४) भगवान् पार्श्व के प्रताप के पराक्रम को अद्भुत मानकर प्रसेनजित् हाथी से उतरा, पार्श्व के चरणकमल को नमस्कार किया, चरणों की पूजा के लिये अर्घ्य संपादन किया, मणिमय आसन पर उनको बिठाया और गंभीर वाणी से स्तुति करने लगा । (१८५) जितके अद्भुत, दिव्य मन्त्रमहिमा के प्रभाव से सारे विघ्नसमूह का अन्धकार निश्चित रूप से नष्ट हो जाता है ऐसे श्रीमत्पार्श्वजिनेश्वर स्वयं विश्वेश्वर यहाँ विद्यमान हैं । उनके समीर गहने पर दुष्ट शत्रु का आक्रमण कहाँ से हो सकता है ? (१८६) हे भगवन् !, आपके नाम लेने मात्र से ही विपत्तियाँ दूर भाग जाती हैं । कठोर बाधाएँ भी जन्मधारियों को पीड़ित नहीं कर सकतीं । सांसारिक कष्ट शीघ्र ही विलय हो जाते हैं । इसमें कोई आश्चर्य नहीं । क्या गरुड़ के सम्मुख सर्पसमुदाय भा सकता है ? ।

अलानं विगणय्य गण्डविगलदानाम्बुपुरो गजः

प्रोदामश्चलकृणत् लत लः पांशूकरं व्याक्रिन् ।

भञ्जन्तं द्रुकभागतोऽपि सविधं नाक्रामति त्वत्पदा—

सक्तं भक्तमसौ कदापि भगवन्नऽऽघातुकोपि स्फुटम् ॥१८७॥

काटिकोटिविपाटनलम्ट

प्रखरताविलसन्नसरो हरिः

तव पदस्मृतिमात्रपरं नरं

न समुपैति रुषऽप्यरुगेक्षणः ॥१८८॥

वृत्तकृणामणिदोऽतर्हचिः फणी

गरलमेष महोऽबणमुद्गिरन् ।

प्रकुपितस्तव पादयुगाश्रितं

किमपि भीषयते न भयङ्करः ॥१८९॥

प्रलयवहिरिव ज्वलितोऽर्चिषा

समधिकेऽधमसृद्धिसमेधितः ।

तव पदस्मृतिशीतजलाप्लुतं

न च पराभवति ज्वलनः क्वचित् ॥१९०॥

द्रुघणधन्वशरासिपराहत—

द्विरदपत्तिभटाश्वचमूत्करे

समरमूर्धनि ते विजयश्रयं

भुवि लसन्त इह त्वदुपासकाः ॥१९१॥

(१८७) गण्डस्थल से झरते हुए दानवारि के पूराला, चञ्चलकर्णताल से चपल धूलि के कर्णों को विखेरता हुआ, अपने बन्धन को भी तोड़कर उन पेड़ को तोड़ता हुआ मस्तीवाला हाथी आकर भी आपके उपर आक्रमण नहीं करता किन्तु आपके पैर को छूता है । वह घातक होते हुए भी कभी आपका भक्त रहा होगा यह निश्चित है । (१८८) क्रोध से रक्तनेत्र, करोड़ों हाथियों के गण्डस्थल के विदारण में दक्ष, तेज नाखुनों वाला सिंह आपके स्मरण में लगे हुए मानव के पास नहीं आता । (१८९) अपने फणों में लगी हुई मणि से दीप्त कान्ति वाला, भयंकर जहरीला क्रोधित सर्प भी आपके चरण युगल में आश्रित व्यक्ति को डराने में समर्थ नहीं है । (१९०) प्रलयकालीन वह्नि की तरह अपनी ज्वालाओं से जलती हुई, अधिक इन्धन से अत्यन्त बर्दी हुई अग्नि भी आपके चरण के स्मरण रूप शीतल जल से आप्लावित व्यक्ति का पराभव कहीं पर भी नहीं कर सकती । (१९१) हे भगवन् ! द्रुघण, धनुष, बाण, खड्ग आदि से शत्रु के मारे हुए होथ, पदार्तसेना, योद्धा व अश्ववादि सेना वाले इस समराङ्गण में आपकी विजयश्री को देखकर आपके उपासक पृथ्वी पर अलंकृत हैं ।

प्रचलत्तुङ्गतरङ्गशिखाग्र—

प्रवहणा जलधावपि सार्थपाः ।

विघटिताखिलविघ्नभयाः प्रया—

न्त्यथ गृहं भवतः स्मृणाद् विभो ! ॥१९२॥

व्रण-जलोदर-शूल-भगन्दर-

क्षवथु भस्मक-जतिरुज दितः ।

तव पदस्मरणाद्भागजनो

भवति स हृतमेव निरामयः । १९३॥

विविधबन्धनबद्धतनुर्जनो

निःशकोटिनिघृष्टपद्वयः ।

भवति बन्धनमोक्षणदक्ष ! ते

स्मरणतश्च्युतानबन्धबन्धनः ॥१९४॥

माधवाणसिंहभोगिदहसाम्भोधिप्रचण्डाहवा—

तङ्कोद्दाममडाभयानि भविनां त्वन्नाममन्त्रस्मृतेः ।

त्वय्येवातिसमाप्तं कमनसां शाम्यन्त्यथ प्रत्युत्

प्रादुःषन्त्यथ मूरिभाग्यपुमगाः सद्भोगभाजः श्रियः ॥१९५॥

इति श्रीमत्परापरमेष्ठिपदारवेदमकरन्दसुन्दरसास्वादम्प्रीणितभव्यभव्ये पं०

श्रीपद्मेरुविनेय पं० श्रीपद्मसुन्दरविरचते श्रीपार्ष्वनाथमहाकाव्ये

श्रीपार्ष्ववर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ।

(१९२) हे प्रभो !, समुद्र में भी चञ्चल, उन्नत, तरंगों की शिखाओं के अग्रभाग में रहे नौकावाले सार्थवाह (व्यापारी) सम्पूर्ण विघ्नभयों को नष्ट करके स्मरण मात्र से ही सकुशल अपने घर लौट जाते हैं । (१९३) घाव, जलोदर, शूल, भगन्दर, खाँसी, वमन आदि रोगों से पीड़ित व्यक्ति आपके चरणकमल की स्मरणरूप औषधि के सेवन से शीघ्र ही रोगरहित अर्थात् स्वस्थ हो जाता है । (१९४) हे बन्धन को छुड़ाने में कुशल भगवान् !, अनेक प्रकार के बन्धनों में बँधा हुआ, जिनके दानों पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हों, ऐसा व्यक्ति आपके स्मरण मात्र से सम्पूर्ण बन्धन से रहित हो जाता है । (१९५) मदस्रर हाथी, सिंह, सर्प अग्नि, समुद्र, प्रचण्ड युद्ध के भयंकर आतंक ये सांसारिक लोगों के उरकट महाभय आपके नाम मात्र के स्मरण से शान्त हो जाते हैं । जो आप में ही भयन मन लगाते हैं उन ही व्यक्तियों को बहुत भाग्य से सुन्दर और अच्छे भोगवाली लक्ष्मी प्रकट होती है ।

इति श्रीमान् परमपरमेष्ठ के चरणकमल के मकरन्द के सुन्दर रस के स्वाद से

भव्य-नों को प्रसन्न करने वाला, पं० श्री पद्ममेरु के शिष्य पं०

श्री पद्मसुन्दर कवि द्वारा रचित श्रीपार्ष्वनाथमहाकाव्य में

‘श्री पार्ष्ववर्णन’ नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ।

पञ्चमः सर्गः

अथो नृपः पार्श्वकुमारमादरा—

न्निननाय गेहे विनयेन नीतिवित् ।

व्यधात् सपर्यां विविधामनन्यधी—

र्महत्सु चातिथ्यमिदं हि गौरवम् ॥१॥

स्थितः स सौधे वसुधाधिपार्पिते

सुधासितेऽथागुरुधूपवासिते ।

सुखेन कालं गमयाम्बभूव तत्—

कृतार्हणागौरवभाक्तपूजतः ॥२॥

प्रसेनराजस्तनया नयम्पृशोऽ—

प्यगण्यलावण्यसुधातरङ्गिणी ।

सुवर्णं च म्पेयसुमप्रभावती

बभूव नाम्ना वपुषा प्रभावती ॥३॥

सुरूपलावण्यवमाविभृतिभिः

प्रवर्द्धमाना किञ्च सैन्दवी कला ।

दिने दिने लब्धमहोदया बभौ

जगज्जनाह्लादावधायिनी कनी ॥४॥

ध्रुवं विधात्रा सुवि निर्मिता सुर—

स्त्रियां समुच्चित्य सुरूपसम्पदम् ।

तदन्यथा चेदनया सुराङ्गना—

तुला न काचिद् ददशे जगत्यपि ॥५॥

(१) अनन्तर नीतिवेत्ता राजा प्रसेनजित् पार्श्वकुमार को विनयपूर्वक धर ले आये और अनन्यचित्त होकर उनका पूजा-सत्कार किया । बड़े आदमियों का आतिथ्य ही गौरव है । (२) वे पार्श्वकुमार महाराजा के द्वारा अर्पित, चूने में श्वेत, अगुरु धूप से सुवासित भवन में रहने लगे तथा पूजा सत्कार से भक्तिपूर्वक सत्कृत होकर सुख से समय बिताने लगे । (३) नीतिविद् महाराजा प्रसेनजित् की लावण्यरूप सुधा की अगणित तरङ्गों से युक्त, चम्पा के पुष्प और सुवर्ण की कान्तिवाली, नाम से और शरीर से प्रभावती नामक कन्या थी । (४) वह रूप-लावण्य की कान्ति की समृद्धि से चान्द्री कला की भाँति बढ़ती हुई प्रतिदिन महोदय को प्राप्त करने वाली और संसार के लोगों को आह्लादित करने वाली कन्या शोभित हो रही थी । (५) निश्चित रूप से, विधात्रा ने पृथ्वी पर उस कन्या को देवाङ्गनाओं की रूपसम्पदा को चयन करके बनाया । यह (कथन) अन्यथा हो तो इसके (प्रभावती के) साथ देवाङ्गना की तुलना संसार में दृष्टिगत नहीं होती ।

सुपक्वबिम्बप्रतिबिम्बिताधरा
 कृशाङ्गयष्टिः पृथुपीवरस्तनी ।
 मनोभवेन त्रिजगज्जिगीषुणा
 ध्रुवं पताकेव निदर्शिता कनी ॥६॥
 स्वरेण निर्भर्त्सितमत्तक्रोकिञ्चा
 बभौ सुकण्ठी कलकण्ठनिस्वना ।
 ध्रुवं तदालापसुशिक्षिता जगुः
 कृशाश्विनो गीतिजरीतिजङ्कतिम् ॥७॥
 तदीयलाल्क्यविहारविभ्रम—
 द्रवार्रहावस्मितकेलिसौष्ठवम् ।
 विमृश्य तत्ताण्डवशास्त्रमुच्चकै—
 इचकार नूनं कतमोऽपि सत्कविः ॥८॥
 पदारविन्दे नखकेसरद्युती
 स्थलारविन्दश्रियमूहतुर्भृशम् ।
 विसारिमृद्भङ्गुलिसञ्छदेऽरुणे
 ध्रुवं तदीये जितपल्लवश्रिणी ॥९॥
 विजित्य तत् कोकनदं श्रिया स्वया—
 ऽरुणौ तदीयौ चरणौ नु जिग्यतुः ।
 विहारलीलाललितेन मन्थरां
 गतिं निजेनेव मरालयोषिताम् ॥१०॥

(६) पके हुए बिम्बफल के प्रतिबिम्बित अधर वाली, कृशागना, मोटे व विशाल स्तनवाली, त्रिलोक को जीतने की इच्छा वाले कामदेव के द्वारा मानों वह कन्या (अपने रथ की) पताका की भाँति बतलाई गई। (७) (अपनी) आवाज से मतवाली कोयल को भी मात करने वाली वह कञ्कण्ठी सुकण्ठी शोभित थी। निश्चय ही उसके आलाप से शिक्षित कृशाश्विन (नट लोग) गीतिजन्य रीति की झङ्कार को ध्वनित करते थे। (८) उस कन्या के लालित्य, गति, चेष्टा, भावपूर्ण हाव, स्मित और क्रीडा के सौष्ठव को सोचकर किसी सत्कवि ने उत्तम ताण्डवशास्त्र की मानों रचना की हो। (९) नखरूपी केसर की कान्तिवाले, लम्बी मृदु अङ्गुलिरूप पङ्कडियों वाले और पल्लव की शोभा को पराजित करने वाले उसके अरुणिमायुक्त दोनों चरणकमल स्थलकमल की शोभा को धारण करते थे। (१०) उसके दोनों लाल चरण अपनी कान्ति से रक्तकमल को जीत कर अपनी भ्रमपङ्किला की सुन्दरता से हंसों की पत्नियों की मन्थर चाल को भी जीत लेते थे।

क्रमौ यदीयौ किल मञ्जुसिञ्जितैः
 स्वनूपुरोत्थैरिव जेतुमुद्यतौ ।
 सुगन्धलब्धालिकुलस्वनाकुलं
 प्रवालशोणं स्थलपङ्कजद्वयम् ॥११॥
 सदैव यानासनसङ्गतौ गतौ
 निगूढगुल्फाविति सन्धिसंहतौ ।
 स्फुटं तदंहीकृतपाष्णिंसङ्ग्रहौ
 सविग्रहौ तामरसैर्जिगीषुताम् ॥१२॥
 तदीयजङ्घद्वयदीप्तिनिर्जिता
 वनं गता सा करली तपस्यति ।
 चिराय वातातपशीतकर्षणै--
 रधः शिरा नूतमरूण्डितव्रता ॥१३॥
 अनन्यसाधारणदीप्तिसुन्दरौ
 परस्परेणोपमितौ रराजतुः ।
 ध्रुवं तदूरु विजितेन्द्रवारण--
 प्रचण्डशुण्डायतदण्डविभ्रमौ ॥१४॥
 कटिस्तदीया किल दुर्गभूमिहा--
 सुमेखलाशालपरिष्कृता कृता ।
 मनोभवेन प्रभुणा स्वसंश्रया
 जगज्जनोपचक्रवकारिणा ध्रुवम् ॥१५॥

(११) उस कन्या के पदक्रम अपने नूपुर से उठी हुई सुन्दर ध्वनि से, सुगन्ध से आकृष्ट अमरकुल की भावाज से पूरित और मूँगे के समान लाल दो स्थलकमल को जीतने के लिए उद्यत थे । (१२) यान (चलना) और आसन (बैठना) से युक्त, नहीं दिखाई देते हों ऐसे घुटनों वाले, समुचित सन्धिवन्धवाले, पुष्ट एड़ी वाले, सुन्दर आकृति वाले उसके दोनों पैर यान और आसन रूपी उपायों वाले, अगोचर गुल्फ वाले, सन्धि से ऐक्य वाले, पाष्णि द्वारा सुक्षासम्पन्न और युद्ध करते कमलों को जीतने की इच्छा करते थे । (१३) उसकी दोनों जाँघों की कान्ति से निर्जित वह करलीवृक्ष जंगल में चिरकाल से वायु, धूप, शीत आदि कष्ट से अखण्डितव्रत होकर मानों नीचे सिर किये हुए तप कर रहा है । (१४) अस्यन्त अजाधारण दीप्ति से सुन्दर, परस्पर एक दूसरे की उपमा वाली उसकी दोनों जाँघों ने निश्चितरूप से ऐरावत हाथी को दण्ड के समान लम्बी प्रचण्ड शुण्डा की विभ्रमगति को परास्त किया था । (१५) सुन्दर कन्दोरे के हीरो से अलंकृत तथा योनि के आश्रयस्थानरूप उसकी कमर खाई और कोट से परिष्कृत तथा आकाश को धारण करने वाली (गगनचुम्बी), जगत् के लोगों को सताने वाले कामदेव प्रभु द्वारा बनाई गई (मानो) दुर्गभूमि है ।

तनुः कृशाङ्ग्याः स्मरचापसञ्जिनी
मधुव्रतव्रतमयी स्म भाष्यते ।

बिनीलरोमालिरियं नु मेखला-

मणेरिवाचिचः किमु वा विजम्भते ॥१६॥

तदीयमध्यं नतनाभिसुन्दरं

बभार भूर्षां सबलित्रयं पराम् ।

प्रकल्पितसोपानमिदं विनिर्ममे

स्वमञ्जनायेव सुतीर्थमात्मभूः ॥१७॥

स्तनाविवास्याः परिणाहिमण्डली

सुवर्णकुम्भौ रतियौवनश्रियौ ।

सुचुचुकाच्छादनपद्ममुद्रितौ

विरेजतुर्निस्तलपीवराविमौ ॥१८॥

विसारितारधुतिहारहारिणौ

स्तनौ नु तस्याः सुषमामवापतुः ।

सुरापगातीरयुगाश्रितस्य तौ

रथाङ्गयुग्मस्य तु कुङ्कुमार्चितौ ॥१९॥

बभार शोभामधिकम्बरं श्रिता

विसाग्निहारावदिरुज्ज्वला छविः ।

सुमेरुशृङ्गाग्रपतत्सुरापगा-

प्रवाहपूरस्य मनोहरश्रुवः ॥२०॥

(१६) अत्यन्त श्याम रोमावली वाली उसकी देहयष्टि कामदेव के घनुष की भ्रमरों वाली डोरी (ज्या) जैसी दिखाई देती थी। अथवा तो वह मेखला के मणि की ज्योति की तरह शोभित थी। (१७) झुकी हुई नाभि से सुन्दर, तीन लकीरों से युक्त उसका मध्य भाग परमशोभा को धारण करता था। मानों कामदेव ने अपने स्नान करने के लिये सीढ़ियों से युक्त सुन्दरतीर्थ का निर्माण किया हो। (१८) विस्तृत मण्डलाकार (गोलाकार), सुवर्णघट के समान, रति और यौवन की शोभा वाले उसके दोनों स्तन सुन्दर चुचुकल्प आच्छादन वाले बन्द कमल के समान गोल और स्थूल शोभित थे। (१९) विस्तृत उज्ज्वल कान्तिवाले हार से मनोहर, कुंकुम से अञ्जित उसके वे दोनों स्तन देवन्दी गङ्गा के दोनों तट पर स्थित चकवा-चकवो के जोड़े के सौन्दर्य को प्राप्त थे। (२०) मनोहर भ्रुकुटी वाली उस कन्या की विस्तृत हारपङ्क्ति जो बड़ी ही उज्ज्वल थी तथा ग्रीवा का आश्रय ले रही थी वह सुमेरु पर्वत की चोटी के अग्रभाग से गिरती हुई देवन्दी गङ्गा के अजस्र प्रवाह स्रोत की सुन्दर शोभा को धारण करती थी।

जगत्त्रयश्रीविजयस्य सूचिका
 बभौ त्रिरेखा किल कण्ठकन्दली ।
 इयं मृगाक्ष्या गुणिना परिष्कृता
 सुवृत्तहारेण गुणानुकारिणा ॥२१॥
 सुकोमलाङ्गचा मृदुबाहुवल्लरी—
 द्वयं बभौ लोहितपाणिपल्लवम् ।
 नखांशुपुष्पस्तवकं प्रभास्वराऽ—
 ज्जदाऽऽलवालद्युतिवारिसङ्गतम् ॥२२॥
 तदंसदेशौ दरनिम्नतां गतौ
 सुराद्रिकूटात्तटपार्श्वथाः श्रियम् ।
 बलादिवाऽऽजहूरात्तसङ्गरो
 निजश्रिया भरिर्सतहंसपक्षती ॥२३॥
 मुखं सुमुख्याः स्मितकौमुदीसितं
 जहास राकातुहिनांशुमण्डलम् ।
 कटाक्षपातव्यतिषङ्गचातुरी—
 धुरीणमयन्तजडात्मकं नु तत् ॥२४॥
 विहाय चन्द्रं जडमङ्गुपाङ्गलं
 सरोरुहं पङ्ककलङ्कदूषितम् ।
 उवास लक्ष्मीरकलङ्कमुच्चकै—
 गिति प्रसन्नैरेव तदीयमाननम् ॥२५॥

(२१) तीन रेखा वाली इस मृगाक्षी कन्या की कण्ठ कन्दली लोकत्रय के विजय की सूचक ऐसी गुण (डोरी) का अनुकरण करनेवाले और गुणयुक्त (डोरी में पिरोये हुए) गोलाकार हार से अतिशय शोभायमान थी । (२२) उस अत्यन्त कोमल अङ्गवाली कन्या की चमकीले अङ्गरूप आलवाल के द्युतिरूप वारि से युक्त, नखांशुरूप पुष्पगुच्छवाली, कुंकुमवर्ण वाले कररूप (रक्त) पल्लव वाली दो कोमल बाहुरूप लताएँ शोभायमान थी । (२३) युद्ध का जिन्होंने आश्रय लिया है ऐसे उस कन्या के कुछ छुके हुए कन्धे मेरुसर्वत के शिखर के तटस्थित दो पार्श्वों की (बाजुओं की) शोभा को हठात् हरण करते थे और अपने सौन्दर्य से हंस के दो पक्षों को तिरस्कृत करते थे । (२४) चारुवदनी का हँसता हुआ वह मुख स्मितरूपी कौमुदी से धवल, कटाक्षों के द्वारा (एक दिल को दूसरे दिल से) जोड़ने की श्रेष्ठ चातुरीवाला और मुग्ध कर देने वाला, कौमुदी स्मित से धवल, फलक (=कट) के साथ पासाओं के पात का मेल कराने की श्रेष्ठ चातुरीवाला और शीतल स्वभाववाला चन्द्र तो नहीं ? (२५) शीतल और कलङ्क से दूषित चन्द्र को छोड़कर तथा कादव के दोष से दूषित कमल को छोड़कर लक्ष्मी “उसका मुख अत्यन्त निष्कलङ्क है” ऐसा समझकर मानों उसमें निवास करती थी ।

रदच्छदोऽस्याः स्मितदीप्तिभासुरो
 यदि प्रवालः प्रतिबद्धहीरकः ।
 तदोपमीयेत विजित्य निर्वृतः
 सुपक्वबिम्बं किल बिम्बतां गतम् ॥२६॥
 अहो सुकण्ठ्याः कलकण्ठनिस्वनो
 जिगाय नूनं परिवादिनीक्वणम् ।
 कपोलयुग्मं कचबिम्बचुम्बितं
 शङ्खाङ्कबिम्बं नु कलङ्कसङ्करम् ॥२७॥
 प्रयस्य नासाग्रमभि स्थितं मुखं
 तदीयनिःश्वासमनल्पसौभम् ।
 स्फुटं समाघ्रातुमिवोर्ध्वकन्धरं
 मृगेक्षणयाः शुकतुण्डसञ्छवि ॥२८॥
 सरोरुहे खञ्जनसञ्जने यदा
 सहाञ्जने तन्नयने तदा तुलाम् ।
 नितान्तरुर्णान्तगतागताञ्चिते
 परस्पररपर्धितयेव बभ्रतुः ॥२९॥
 श्रुती किल स्यन्दनयुग्ममेतयोः
 विनिर्मितं यौवनकामयोः कृते ।
 ध्रुवं तदीये वपुषि प्ररुर्पतो-
 विहारचाराय विधातु ररुणा ॥३०॥

(२६) मन्द मुस्कान के प्रकाश से प्रकाशित उसका अधरोष्ठ हीरे से जड़े हुए मूँगे की तरह शोभित था और उपमानरूप सुपक्व बिम्बफल को जीत कर आया हो ऐसा लगता था । (२७) अहो !, उस सुकण्ठवाली की मधुर कण्ठध्वनि निश्चितरूप से वीणा के शब्द को जीतने वाली थी । बालों को लटों (जुल्फों) से चुम्बित उसके दोनों गाल कलङ्कयुक्त चन्द्रबिम्ब के समान लगते थे । (२८) प्रयास करके मुख के सामने रहा हुआ, उसका अत्यन्त सुगन्धवाला निश्वास सूँघने के लिए उत्कण्ठित हो ऐसा, मृगाक्षी की नासिका का अग्रभाग तोते की चोंच की शोभा को धारण करता था । (२९) कान के अत्यन्त अन्त तक आते-जाते उसके अञ्जनयुक्त दो नयन (कमलपुष्पवर्तुल के) व्यास के अत्यन्त अन्त तक आवागमन करते दो खञ्जनपक्षियों से युक्त दो कमलों के साथ स्पर्धा करते हुए शोभित थे । (३०) उसके शरीर में फैठ रहे यौवन और काम इन दो के विहार करने के लिए ही सचमुच विधातारूप शिल्पी ने दो कान के रूप में दो रथ बनाये हों ऐसा मान्य होता है ।

श्रुतिश्रितेऽस्या मणिहेमकुण्डले
प्रभासमाने मुखमण्डलश्रिया ।
रथाङ्गरूपे इव मान्मथानसो
विलेसतुर्लास्यमुपागते ध्रुवम् ॥३१॥

स्मराभिषेकाय ललाटपट्टिका
विनिर्मिता विश्वसृजेव गन्दिका ।
स्फुटं तदीया शितिचूर्णकुन्तल-
प्रकीर्णकव्यञ्जितराजलक्षणा ॥३२॥

भ्रुवौ तदीये किल मुख्यकामुर्कं
स्मरस्य पुष्पास्त्रमिहौपचारिकम् ।
मुस्त्राम्बुजेऽस्या भ्रमरभ्रमायितं
घनाञ्जनाभैर्भ्रमरालकैरलम् ॥३३॥

इयं सुकेश्याः कचपाशमञ्जरी
विधुंतुदस्य प्रतिमामुपेयुषी ।
मुखेन्दुबिम्बप्रसनैकलिप्सया
तमोञ्जनस्निग्धविभा विभाव्यते ॥३४॥

समप्रसर्गाद्भुतरूपसम्पदां
दिदृक्षयैकत्र विधिव्यधादिव ।
जगत्त्रयीयौवतमौलिमालिका-
मशेषसौन्दर्यपरिष्कृतां नु ताम् ॥३५॥

(३१) कानों पर आभ्रित, मुखमण्डल के तेज से प्रकाशमान, उसके स्वर्णमणिमय दो कुण्डल कामदेव के दो चक्र की भाँति मृदुगति को प्राप्त होकर सचमुच शोभित थे । (३२) इवैतचूर्ण से और बिखरे हुए कुन्तलों से स्फुटरूप से प्रगट राजलक्षणों वाला उसका विशाल ललाट कामदेव के अभिषेक के लिए विश्वकर्ता ने मानों गन्दिका का निर्माण किया हो, ऐसा दिखाई देता था । (३३) उसकी दोनों भौहों कामदेव का मुख्य धनुष थीं । पुष्पास्त्र तो केवल औपचारिक रूप में था । उसके मुखकमल में भौहों की गाढ़ अञ्जन के सदृश अलकावलि भ्रमर के भ्रम को पैदा करती थी । (३४) इस शोभनकेशों वाली कन्या की केशपाशमंजरी राहु की आकृति को धारण करती हुई मुखरूपचन्द्रबिम्ब को ग्रसित करने की एकमात्र इच्छा से काले अञ्जन की स्निग्ध कान्ति के समान लगती थी । (३५) विधाता ने सम्पूर्ण सृष्टि की अद्भुत रूपसम्पत्ति को एक ही जगह देखने की इच्छा से उसे त्रिलोकी के युवतिसमुदाय में श्रेष्ठ और सम्पूर्ण सौन्दर्यशालिनी बनाया ।

अथान्यदा यौवनरामणीयकं
वपुर्दधानां ददशे प्रभावतीम् ।
पिता तद्ब्राह्मकृते कृतादरो
विभोः स पाद्वस्य पुरो व्यजिज्ञपत् ॥३६॥
भवादृशां यद्यपि मन्दरागिणी
भवाङ्गभोगेषु मतिः प्रवर्तते ।
तथापि धर्मो गृहमेधिनामयं
विधीयते दापरिग्रहस्थितिः ॥३७॥
भवान् स्वयंभूर्भगवांस्तदोद्भवे
निमित्तमात्रं जनको यतोऽभवत् ।
उदेध्यतश्चण्डकरस्य हि स्वत-
स्तदुद्भवे हेतुरिवोदयाचलः ॥३८॥
भवद्विधैराचरिते हि संपथे
महाजनोऽयत्र तथा प्रवर्तताम् ।
क्रमो हि लोके महतां प्रदर्शितो-
ऽनुवर्तते प्राकृतलोक एष तम् ॥३९॥
प्रसीद विश्वेश्वर ! मद्विधे जने
वचस्त्वमङ्गीकुरु मे न्योचितम् ।
प्रभावतीमेव भवान् मदङ्गजां
निजं कलत्रं विदधाव्नुग्रहात् ॥४०॥

(३६) एक दिन उसके पिता ने प्रभावती को युवावस्था से सुन्दर शरीर धारण करती हुई देखा । अतः उसके विवाह के लिए पिता ने आदरपूर्वक प्रभुपादर्वकुमार के सम्मुख निवेदन किया । (३७) हे प्रभो !, यद्यपि सांसारिक भोगों में आपकी बुद्धि मन्दराग वाली है तो भी गृहस्थों का यह धर्म है कि विवाहसंस्कार की स्थिति का विधान किया जाये । (३८) हे भगवन् !, आर स्वयंभू हैं । आपके जन्म के समय आपके पिता केवल निमित्तमात्र थे जैसे उदय पत्ते वाले प्रचण्डसूर्य के (उदय के प्रति) उदयाचल पर्वत केवल निमित्तमात्र है । (३९) आप जैवों के द्वारा सन्मार्ग का आचरण करने पर बड़े लोग भी वैसा ही करें, क्योंकि यह क्रम रहा है कि महान् लोगों के द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अन्य लोग अनुवर्तन करते ही हैं । (४०) हे विश्वेश्वर !, मुझ जैसे व्यक्ति पर प्रसन्न होइये । मेरे न्यायोचित वचन को स्वीकार कर आप मेरी पुत्री प्रभावती को कृपा करके अपनी पत्नीरूप में ग्रहण कीजिए ।

भवांश्चिदानन्दमयो भवेऽपि सम्
 न लिप्यते पातकपङ्कसङ्करैः ।
 स्वधातुभेदात् कनकं हि निर्गतं
 पुनर्न तस्मिन् सविधेऽनुषङ्ग्यते ॥४१॥
 भवान् विरक्तोऽपि भवप्रसङ्गतो
 ममोपरोधेन करग्रहोऽधुना ।
 विधीयतां साधुजनानुषङ्गता
 कृतार्थयत्यन्यजनं हि केवलम् ॥४२॥
 उदीर्य विज्ञप्तिमिमां महीपतिः
 स्वतो व्यरंसीदथ सस्मितं जिनः ।
 तथेति तद्वाक्यमुदारचेष्टितः
 प्रतीच्छति स्म स्वनियोगयोगवित् ॥४३॥
 इत्थं निशम्य भगवद्वचनं महीयः
 प्रीतः परां मुदमसौ मनसाऽऽदधानः ।
 लग्नं करग्रहमहाय विमृश्य शुद्धं
 कन्यां निजां स विततार वराय तस्मै ॥४४॥
 सौख्यं तथा स बुभुजे भगवानसक्तः
 सोऽन्येष्वुरिद्धमधिसौधमधिष्ठितश्च ।
 सान्तःपुरः पुरमुदीक्ष्य गवाक्षाजालैः
 पुष्पोपहारसहितान् मनुजानपश्यत् ॥४५॥

(४१) हे प्रभो !, आप संसार में रहते हुए भी चिदानन्द स्वरूप हैं तथा सांसारिक पापपङ्क के सम्पर्क से लिप्त नहीं होते हैं। (जैसे) अपने साथ मिली हुई अन्य धातुओं से अलग हुआ स्वर्ण दुबारा समीप में रही उन धातुओं में मिल नहीं जाता। (४२) सांसारिक प्रसंग से विरक्त होते हुए भी मेरे आग्रह से अब आप पाणिग्रहण संस्कार कर लें क्योंकि सज्जनों का सामीप्य निश्चितरूप से अन्य व्यक्तियों को कृतार्थ कर देता है। (४३) राजा प्रसेनजित् अपनी यह विज्ञप्ति निवेदन कर चुप हो गये। इसके पश्चात् अपने लग्न की नियति को देखने वाले और उदारचेष्टा वाले उन्होंने उनके (राजा के) वाक्य को (प्रस्ताव को) 'अच्छा' ऐसा कहकर स्वीकार कर लिया। (४४) इस प्रकार जिनप्रभु के महनीय वचन सुनकर वह राजा प्रसेन खुश हुआ और मन में अतीव प्रसन्न हुआ। पाणिग्रहण के उत्सव के लिए शुद्ध लग्न (मुहूर्त) का शीघ्र ही निश्चय करके उसने अपनी कन्या उस उत्तम वर को अर्पित कर दी। (४५) उस पार्वर्कुमारप्रभु ने आसक्ति रहित होकर उस कन्या के साथ सुख भोगा। एक दिन प्रकाशित भवन पर स्थित उसने गोख की जाती से अन्तःपुर सहित नगर के उपर नजर डाली तो देखा कि मनुष्यलोग पुष्पोपहारयुक्त थे।

निर्गच्छतो बहिरिमानथ विस्मितोऽसौ

पप्रच्छ कञ्चिदपि सस्मितमाह स स्म ।

पञ्चाग्निसाधनपरं कमठं तपस्वि-

वर्यं व्रजत्यहह ! पौरजनोऽद्य नन्तुम् ॥४६॥

इत्थं निशम्य भगवान् सवयोभिरुच्चै-

- गोष्ठीं सविस्मितसुभाषितलब्धवर्णैः ।

कुर्वन् वनेषु विचचार विहारचारी

श्यामायमानतरुराजिषु राजमानः ॥४७॥

क्रीडन् वनेष्वथ तदाश्रममेष वीक्षां-

चक्रे तपस्विनिवहैः कुशदारुहस्तैः ।

आकीर्णमेकमथ तापसवर्गमुद्दयं

पञ्चाग्निसाधनपरं च निरीक्ष्य तस्थौ ॥४८॥

यावच्च कौतुकवशाद् भगवाननत्वा

तस्थावनादरपरः पुरतस्तमीशः ।

दृष्ट्वा तमप्रणतमेष चुकोप बाहं

नातद्विदां तपसि चापि भवेत् तितिक्षा ॥४९॥

चित्ते व्यचिन्तयदथो स तपस्विवर्यः

पूज्योऽहमत्र यदि वा तपसाऽस्मि वृद्धः ।

पार्श्वेऽस्तु मामवगणय्य पुरः स्थितो यत्

तत्प्राज्यराज्यपदवीमदविभ्रमत्वम् ॥५०॥

(४६) बाहर निकलते हुए इन लोगों को देखकर विस्मयान्वित होकर उसने (पार्श्व ने) किसी से पूछा तब उसने हँसकर कहा—अरे आज सारे नगरनिवासी पञ्चाग्नि साधना में तत्पर कमठ तपस्विश्रेष्ठ को प्रणाम करने के लिए जा रहे हैं ।

(४७) ऐसा सुनकर अपनी उमरवाले, आश्चर्यवकित मधुर वाणीवाले और कीर्तिप्राप्त मित्रों के साथ जोरशोर से चर्चा करते करते श्याम दिखाई देती वृक्षपंकितियों में शोभायमान भगवान् वनों में पैदल निकल पड़े । (४८) वनों में खेलते खेलते उन्होंने कुश और काष्ठ हाथ में लिए हुए तपस्वियों से भरपूर उग्र आश्रम को देखा और तापसों के एक मुखिया को पञ्चाग्नि साधना में तल्लीन देखकर वे खड़े रह गये । (४९) यकायक भगवान् पार्श्व कौतुकलवशा बिना प्रणाम किये अनादर के साथ उसके सामने खड़े हो गये । उसे बिना नमस्कार किये हुए देखकर महामुनि कमठ को बहुत क्रोध आया । अज्ञानियों की तपस्या में सहनशीलता नहीं होती है । (५०) अपने मन में उस तपस्विश्रेष्ठ ने सोचा कि मैं यहाँ इस आश्रम में पूजनीय हूँ तथा मैं तपोवृद्ध हूँ । पार्श्व मेरी अवगणना करके मेरे सामने खड़ा हुआ है अतः यह तो राज्यपदवी के अभिमान से जन्य उसका अविवेक है ।

विध्यात्तमग्निमथ वीक्ष्य तपस्विवर्यो
 दारुण्युपक्षिपति यावदसौ कुठारम् ।
 तावत् कृपार्द्रमनसा प्रभुणा निषिद्धो—
 ऽप्यभ्युद्यतः स लघु तद् विददार दारु ॥५१॥
 तस्माद् भुजङ्गभुजगीयुगलं कुठार—
 छेदेन विह्वलक्षरं निरगाद् विषण्णम् ।
 तस्मै नमस्कृतिमदात् करुणार्द्रचेताः
 पौगस्तदाशु कमठाद् विमुखत्वमापुः ॥५२॥
 तत्राश्वसेननृपसूनुरनूनसम्पत्
 प्रोचे क एष भवतामिह धर्ममार्गः ।
 यद्धर्मसाधनविधावपि निर्दयत्वं
 प्राग्णा समुद्रतरणं खलु तत् समग्रम् ॥५३॥
 किं तत् तपो यदिह भूतकृपाविहीनं
 कारुण्यमेव तपसः किल मूलमाहुः ।
 तद्धीनमेव सकलं खलु धर्मकृत्यं
 स्याद् दुर्भगाभरणतुल्यमनल्पकृच्छ्रम् ॥५४॥
 श्रुत्वेति तद्वचनमाह मुनिर्न वेत्सि
 पञ्चाग्निसाधनमिहास्ति तपोऽतिकृच्छ्रम् ।
 तच्चैकपादधरणेन तथोर्ध्वबाहु—
 स्थित्या स्वयंच्युतदलाघनिलाशनेन ॥५५॥

(५१) उस तपस्विश्रेष्ठ ने ज्योंही बुझ गयी अग्नि को देखकर कुठार (कुल्हाड़ी) को लकड़ी पर फेंका, त्योंही कृपालु प्रभु ने मना किया, फिर भी उसने तत्पर होकर शीघ्र ही लकड़ी को चीर दिया । (५२) कुठारछेद से उस काष्ठ खण्ड में से दुःखी सर्प-सर्पिणी का जोड़ा निकला । करुणाचित्त वाले प्रभु ने उसे नमस्कार महामन्त्र दिया और उन सभी नगरनिवासियों ने कमठमुनि से मुँह फेर लिया । (५३) वहाँ अश्वसेन महाराजा के महान सम्पत्तिवाले पुत्र पार्श्व ने कहा आपका यह कैसा धर्ममार्ग है कि धर्माचरण कार्य में भी निर्दयता का व्यवहार करते हो ? यह समग्र (धर्मविधि) पत्थर पर बैठकर समुद्र पार करने के समान है । (५४) प्राणियों पर दया रहित यह तप क्या तप है ? कम्पा ही तपस्या का मूल है ऐसा लोग कहते हैं । करुणाहीन सम्पूर्ण धर्मकार्य दुर्भगा (विधवा) स्त्री के द्वारा आभूषण धारण करने के समान अतीव निरर्थक है । (५५-५७) उसका वचन सुनकर मुनि बोला — तुम अतीव कष्टकारक पञ्चाग्नि साधन तपस्या को क्या नहीं जानते हो ?

मासोपवासकरणादिभिरेव घोरं

युष्मादृशां न च कुमार ! तदस्ति गम्यम् ।

श्रुत्वा पुनः स तमुवाच विदांबरेण्यः

कार्या मया न नितरामबमातना ते ॥५६॥

मीमांस्यते खलु यथातथमेव तत्त्वं

भाव्यं बुधैस्तु नयवर्त्मविचारणैः ।

नैवान्तरेण जिनदर्शनमन्यतोऽपि

पश्यामि धर्मनिकषस्य तथोपपत्तिम् ॥५७॥

मिथ्यात्वमव्रतकषायचतुष्कयोगै-

र्भवारिवहन्यनिलमूरुहजङ्गमेषु ।

योगैर्मनोवचनकायकृतैस्त्रिधापि

यत् तापसा अपि चरीकृति तेषु हिंसाम् ॥५८॥

तत् सर्वकृत्यमिह बन्ध्यमुशन्ति तज्ज्ञा

विज्ञानशून्यहृदयस्य तपस्यतोऽपि ।

युष्मादृशस्य जलमन्थनतो घृच्छो-

र्यद्वा तुषावहननादपि तण्डुलेच्छोः ॥५९॥

अज्ञानकष्टमिह ते प्रतिभामते मे

नामुत्रकं किमपि मोक्षकृते फलं स्यात् ।

पङ्काविलस्य किमु पङ्कजलेन शुद्धि-

र्यद्वा कदापि सुरयैव सुराविलस्य ॥६०॥

इस तप में एक पैर पर खड़े होकर भुजा ऊपर की ओर उठाकर रहना होता है और अपने आप गिरे हुए पत्तों आदि के तथा वायु के भक्षण से या महीनों तक उपवास करने आदि के द्वारा यह तप घोर है, तुम्हारे जैसे के लिए यह तप अगम्य है। यह बात सुनकर वह विद्वान् पार्श्वकुमार उस कमठमुनि से कहने लगा—मुझे तुम्हारा अपमान नहीं करना चाहिए। तुम स्वयं समय पाकर वास्तविकता पर विचार करोगे। नयमार्ग से विचारणा करने में चतुर बुद्धिमान लोग विचारणीय तत्त्व की यथार्थरूप से मीमांसा करते हैं। बिना जिनदर्शन धर्म की कसौटी का होना मुझे असंभव प्रतीत होता है। (५८) मिथ्यात्व, अव्रत और चार कषायों से युक्त तीन प्रकार की कायिक-वाचिक-मानसिक प्रवृत्ति से तापस लोग पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रस जीवों के प्रति हिंसा करते ही रहते हैं। (५९) तपस्या करने पर भी जो विज्ञानशून्य हृदयवाला है, जो जल के मन्थन से घोंपाने की इच्छा रखता है और जो भुस्से के कूटने से चावल पाने की इच्छा रखता है ऐसे तुम्हारे जैसे आदमी का वह सब कृत्य यहाँ निष्फल है ऐसा विद्वान् कहते हैं। (६०) तुम्हारा कार्य अज्ञान के कारण (केवल) कष्टरूप है ऐसा मुझे लगता है। परलोक में भी इसका कोई फल मोक्ष के लिए नहीं है। कीचड़ में सने हुए की क्या कीचड़ के जल से शुद्धि होती है? अथवा क्या सुरा से लिप्त की सुरा से शुद्धि होती है! आपके सिद्धान्त में भी कहा है:-

तथा चोक्तं भवन्मते—

“यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।
 भूतहत्यां तथैवैतां न यज्ञैर्माण्डुमहति ॥६१॥
 कीटक् स्रिद्विना तोयं कीटगिन्दुं विना निशा ।
 कीटग् वर्षा विना मेघः कीटग् धर्मो दयां विना ॥६२॥
 कृपानदीमहातीरे सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः ।
 तस्यां शोषमुपेतायां कियन्नन्दन्ति ते पुनः ॥६३॥
 सर्वे वेदा न तत् कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ! ।
 सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च यत् कुर्यात् प्राणिनां दया ॥६४॥
 एकतः काञ्चनं मेरुं बहुरत्नां वसुन्धराम् ।
 एकस्य जीवितं दद्याद् न च तुल्यं युधिष्ठिर ! ॥६५॥
 सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च सर्वे यज्ञाश्च भारत ! ।
 भूताभयप्रदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्” ॥६६॥

इत्यादि भवन्मतेोक्तभगवद्ब्रचनप्रामाण्यात् ।

पार्ष्वेन तत्र विजितः स निजोपपत्त्या

तूष्णीक एव मुनिरास कृतावहेल ।

भूयोऽवदत् सुकुपितोऽथ तपस्विराडा—

कारी स्वयंकृतफलं द्रुतमेव लब्ध्वा ॥६७॥

(६१) जैसे कीचड़ से युक्त पानी को कीचड़ से शुद्ध करना असंभव है, जैसे सुरा से लिप्त व्यक्ति को सुरा से शुद्ध करना असंभव है, उसी प्रकार इस प्राणीहिंसा को यज्ञ से शुद्ध करना असंभव है । (६२) सरिता के बिना पानी कैसा, चन्द्रमा के बिना रात्रि कैसी, वर्षा के बिना मेघ कैसा, उसी प्रकार दया के बिना धर्म कैसा ? (६३) दयारूपी नदी के महातट पर धर्म-रूपी घास के अंकुर होते हैं । उनके सूख जाने पर फिर वे कैसे विकसित होंगे ? (६४) प्राणियों के प्रति की जाने वाली दया जो कार्य करती है वह कार्य समस्त वेद (भी) नहीं कर सकते, समस्त यज्ञ (भी) नहीं कर सकते, तथा समस्त तीर्थस्थानों में किए गये स्नान (भी) नहीं कर सकते हैं । (६५) हे युधिष्ठिर । एक ओर सुवर्ण का मेरुपर्वत और बहुरत्ना पृथ्वी का दान किया जाय और दूसरी ओर एक प्राणी को जीवनदान दिया जाये, तब भी पहला दान दूसरे के बराबर नहीं होगा । (६६) हे भारत ! सभी तीर्थों में किये गये स्नान और सभी यज्ञ प्राणियों के अभयदान की सोलहवीं कला के भी तुल्य नहीं हैं । इस प्रकार आपके मत में जो है, वह यथार्थ है, कारण कि भगवद्ब्रचन उणमें प्रमाण है । (६७) पार्ष्व ने वहाँ अपनी युक्ति के द्वारा उसे जीत लिया । वह मुनि अवहेलना (अपमान) सहित चुप हो गया । पुनः वह तपस्विराज शीघ्र ही अपने कार्य का फल प्राप्त करके क्रोधित होकर बारबार बोला ।

इत्थं क्रुधा ज्वलितमानस एष पापः
 प्राग्बद्धवैरकलुषः कमठस्वरूपः ।
 मृत्वा कुट्टगृभवनवासिषु मेघमाली—
 त्यासीत् सुराधम इतोऽप्यवमाननार्तः ॥६८॥
 तन्नागदम्पतियुगं जिनलब्धवेधं
 मृत्वा बभूव धरणः स च नागराजः ।
 नागी तदप्रमहिषीति महानुभाव—
 संसर्गजं फलमुदेति न चाल्पभृति ॥६९॥
 पार्श्वः स्वसैन्यसहितो निजगेहमागात्
 सोऽथान्यदा वनविहारविनोदहेतोः ।
 तत्रोपकाशि मधुमासि च नन्दनस्थ—
 सौधे स नेमिचरितं लिखितं विलोक्य ॥७०॥
 धन्यो व्यचिन्तयदहो ! भगवानरिष्ट—
 नेमिः कुमार इह यो जगृहे सुदीक्षाम् ।
 तन्निष्क्राम्यहमपीति विमृश्य दानं
 साम्बत्सरं स विततार विरक्तचेताः ॥७१॥
 मत्वा तत्त्वं नित्यमात्मस्वरूपं
 भोगानङ्गदभङ्गवद् भङ्गुरांश्च ।
 दीक्षाकालं वीक्ष्य शुद्धावधिस्व—
 ज्ञानेनेत्थं भावयामास भावम् ॥७२॥

(६८) इस प्रकार क्रोध से जले हुए मन वाले उस पापी पूर्ववद्ध वैर से कलुषित कमठ की आत्मा यहाँ से भी दुःखी होकर मरकर मिथ्यादृष्टि भवनवासी देवों में मेघमाली नामक अधमदेव हुई। (६९) जिनदेव से ज्ञान प्राप्त करके वह नागदम्पतियुगल मरकर नागराज धरणेन्द्र बना और सर्पिणो उसकी पटरानी बनी क्योंकि बड़े आदमियों के संसर्ग का फल अल्प ऐश्वर्य वाला नहीं होता है। (७०) पार्श्वकुमार अपनी सेना सहित अपने घर आ गये। दूसरे दिन वनविहार के मनोरंजन हेतु काशी के समीप चैत्रमास में नन्दनवन के भवन में आये हुए उसने, वहाँ लिखे हुए नेमिचरित को देखा। (७१) उसे देख कर उसने सोचा—धन्य हैं वे अरिष्ट नेमिकुमार जिन्होंने सुन्दर दीक्षा ग्रहण की। मैं भी दीक्षा लूँ ऐसा विचार कर उन्होंने विरक्तचित्त होकर साम्बत्सरिक दान किया। (७२—७३) नित्यआत्मस्वरूप तत्त्व को समझ कर, सांसारिक भोग को क्षणभंगुर जानकर, अपने शुद्ध अवधिज्ञान से

क्वाहं पूर्वं वारणात्माऽथ सम्प्र—

त्यासं साक्षाद् बिस्वविश्वैकपूज्यः ।

श्रेयानस्मान्मोक्षमार्गाभियोगः

संसारित्वं केवलं बन्धहेतुः ॥७३॥

भ्राम्यत्येष भ्रान्तिमूढो दुरात्मा

गत्यादीनां मार्गिणानां विवर्तैः ।

ज्ञानी तस्मान्नापि संसारपङ्के

लिप्येतासौ कर्मभावाद विरक्तः ॥७४॥

स्त्रीभोगादौ भेषजे तत्परः स्या—

देष प्राणी तीव्रकामज्वरार्तः ।

नायं भोगः किन्तु रोगोपचारो

नीरोगः किं भेषजं क्वापि कुर्यात् ॥७५॥

निर्द्वन्द्वं सौख्यमेवाहुराप्ताः

सद्वन्द्वानां रागिणां तत्कुतस्थम् ।

तृष्णामोहायासकृच्चान्यनिध्नं

सौख्यं किं स्यादापदां भाजनं यत् ? ॥७६॥

सौख्यं स्त्रीणामङ्गसङ्गाद्यदि स्यात्

तादृग् बाढं तत् तिरश्चामपीह ।

यद् वा निम्बोरभूतकीटोऽतिमिष्टं

मन्येतासौ रागवांस्तद्रसं वा ॥७७॥

दीक्षाकाल जानकर वे इस प्रकार से भाव करने लगे—कहाँ मैं पहले हाथीरूप था, (और) इस समय सम्पूर्ण विश्व का पूज्य हूँ। इसलिए मोक्षमार्ग का अनुसरण ही कल्याणकर है तथा सांसारिकता ही बन्धन का हेतु है। (७४) भ्रान्ति से मूढ़ यह दुरात्मा गति आदि मार्गणा स्थानों के विवर्तों से संसरण कर रही है। अतः ज्ञानी पुरुष कर्मभाव से विरक्त होकर संसार रूपी कीचड़ में लिप्त नहीं होते हैं। (७५) यह प्राणो तीव्र-कामज्वर से पीड़ित होकर स्त्री भोगादि औषधि में तत्पर रहता है। यह भोग नहीं है, किन्तु रोगों का उच्चार है। क्या स्वस्थ व्यक्ति कभी भी औषधि का प्रयोग करता है ? (७६) तृष्णा, मोह और आयास का जनक, अन्य के अधीन और आपत्तियों का स्थान जो है उसे क्या सुख कहा जा सकता है ? (७७) स्त्रियों के अंगसम्पर्क से ही यदि सुख का अनुभव हो तो वह पशुओं को भी होता है। अथवा नीम के वृक्ष में पैदा हुआ कीड़ा उसके रस का रागी होने के कारण (रस को) अति मीठा ही मान लेता है।

सर्वे भोगास्तावदापातरम्याः

पर्यन्ते ते स्वान्तसन्तापमूलम् ।

तद्दानाय ज्ञानिनां द्राग् यतन्ते

भोगान् रोगानेव मत्वाऽऽसतत्त्वाः ॥७८॥

मभ्येतासौ सौख्यमायासमात्रं

भोगोद्भूतं इवा दशन्नस्थि यद्वत् ।

अज्ञानात्माऽसंविदानः स्वनिघ्नं

ब्रह्माद्वैतं संविदानन्दसान्द्रम् ॥७९॥

स्पर्शाद्वस्ती भक्ष्यलौल्याऽऽज्ञात्मा

गन्धाद् भृङ्गो दृष्टिलौल्यात् पतङ्गः ।

गीतासङ्गाऽजीवनाशं कुरङ्गो

नश्यत्येतान् धिक् ततो भोगसङ्गान् ॥८०॥

कर्मोद्भूतं यत् सुखं यञ्च दुःखं

सर्वं दुःखं तद्विदुर्दुःखहेतोः ।

यद्वा भोज्यं स्वाद्वपि स्याद् विषाक्तं

पर्यन्ते तत् प्राणविघ्नाय सर्वम् ॥८१॥

तस्माद् ब्रह्मात्मव्यक्तलिङ्गं

ज्ञानान् तज्योतिरुद्योतमानम् ।

नित्यानन्दं चिदगुणोऽनभमाणं

स्वात्मारामं शर्मधाम प्रपद्ये ॥८२॥

(७८) जिन्होंने तत्त्व समझ लिया है और जो जानी हैं वे भोगों को रोग ही मानकर उन्हें नष्ट करने के लिए शीघ्र प्रयत्न करते हैं । (७९) जैसे दृष्टी को काटता हुआ कुत्ता तज्जन्य परिश्रम को सुख समझता है, वैसे जो आदमी भोगजन्य केवल परिश्रम को ही सुख समझता है वह अज्ञानी है और वह स्वतन्त्र तथा ज्ञानानन्दमय ब्रह्माद्वैत को नहीं जानता । (८०) स्पर्श से हाथी, भक्ष्य की लोखपता से मछली, गन्ध से भौंरा, दृष्टि को लालसा से पतङ्गा, गीत सुनने से हिरण—ये सभी नष्ट हो जाते हैं । अतः भोगासक्ति को धिक्कार है । (८१) कर्मों से उत्पन्न चाहे सुख हो या दुःख हो, वह सब दुःख ही है, क्योंकि वह सब दुःखोत्पादक है । अथवा स्वादु वस्तु जो भक्षणयोग्य परन्तु विषाक्त है, अन्त में वह प्राणघात के लिए ही होती है । (भोजन स्वादिष्ट होने पर भी अगर विषमिश्रित हो तब वह अन्त में प्राणघात करेगा ही) । (८२) अतः अव्यक्तलिङ्ग, ज्ञान की अनन्त ज्योति से प्रकाशमान, नित्यानन्द, आत्मगुणों के पूर्ण प्राकट्य वाले, कल्याण के धाम और ब्रह्माद्वैतरूप अपनी आत्मा के सुख को ही मैं प्राप्त करे ।

इत्थं साक्षाज्ज्ञानवैराग्यनिष्ठः
 सर्वासङ्गात् त्यक्तरङ्गो जिनेन्द्रः ।
 तावद् देवैरेष सारस्वताद्यैः
 स्वर्गायातैः संस्तुतः स्तोत्रवृन्दैः ॥८३॥

पूर्वं मुक्त्वा पुष्पवृष्टिं सुरास्ते
 सद्गन्धाद्दयां पारिजातद्रुमोत्थां ।
 वर्द्धस्वेष ! त्वं जयेत्य दिगीर्भिः
 पार्ष्वं स्तोतुं ते समारेभिरेऽथ ॥८४॥

घातारं त्वामामनन्ति प्रबुद्धा
 जेतारं त्वां सर्वकर्मद्विषां वा ।
 प्राग्नेतारं धर्मतीर्थस्य देव !
 ज्ञातारं वा विश्वविश्वार्थवृत्तेः ॥८५॥

उद्धर्ता त्वं मोहपङ्काज्जनानां
 निर्मग्नानां धर्मस्तावलम्बैः ।
 बन्धुः साक्षादत्र निष्कारणस्त्वं
 त्रैधं साक्षान्मोक्षमार्गं विवक्षुः ॥८६॥

साक्षाद् बुद्धस्त्वं स्वयंबुद्धरूपः
 स्वामिन् ! वेद्यं वेदिताऽसि त्वमेव ।
 ध्येयो ध्याता ध्यानमाद्यः स्वयम्भू-
 बोध्योऽस्माभिरत्तन्नियोगो निमित्तम् ॥८७॥

(८३) इस प्रकार साक्षात् ज्ञान और वैराग्य में निष्ठा वाले, सभी प्रकार की आसक्ति को छोड़ने से रागमुक्त जिनेन्द्र की स्वर्ग से आये सारस्वतादि देवताओं ने सुन्दर स्तोत्रों से स्तुति की। (८४) सबसे पहले उन देवों ने सुगन्धित पारिजात वृक्षों की पुष्पवृष्टि की। 'हे भगवन् !, आपकी जय हो, आपकी उन्नति हो,' इत्यादि वचनों से पार्ष्व की स्तुति करना प्रारम्भ किया। (८५) हे देव !, ज्ञानी लोग आपको विश्व का पालक समझते हैं, आपको ही सभी कर्मरूपी शत्रुओं का विजेता मानते हैं, आपको ही धर्मतीर्थ का प्रथम नेता जानते हैं और आपको ही विश्व के सभी पदार्थों का ज्ञाता जानते हैं। (८६) आप ही धर्मरूपी हाथ की सहायता देकर मोहरूपी कीचड़ में डूबे हुए लोगों को इस कीचड़ से बाहर निकालते हैं। यहाँ आप (लोगों के) निष्कारण मुख्यरूप से बान्धव हैं। आपने ही मुख्यरूप से त्रिविध (अर्थात् सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्रिक रूप) मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया है। (८७) स्वयं बुद्धरूप हैं। हे स्वामिन् !, ज्ञेय भी आप हैं और ज्ञाता भी आप ही हैं। आप ही ध्येय हैं, ध्यता हैं और ध्यान भी आप ही हैं। आद्य स्वयंभू भी आप ही हैं। आप हमारे तो केवल निमित्त से, नियति से ही हैं।

तस्माद् विश्वस्योपकाराय घातः !
 प्रौढिं घत्तां धर्मतीर्थप्रवृत्तौ ।
 त्वामासेव्य प्रीयतां भव्यलोकः
 पर्जन्यं वा चातकः प्रावृषेण्यम् ॥८८॥
 स्तुत्वैवं ते स्वर्ग्ययुर्देवदेवं
 तावच्चान्ये नाकिनः शक्रमुख्याः ।
 नानावेषाः स्वादवातीतरंस्ते
 तस्थुः काशीं सर्वतः सन्निरुध्य ॥८९॥
 सर्वे सम्भूयाऽभिषिच्य प्रभुं ते
 मूषावेषैर्भूषयांचक्रुरुच्चैः ।
 दिव्यैर्मात्वैर्भूषणैरेष गन्धैः
 रेजेऽम्भोदः शक्रचापांशुभिर्वा ॥९०॥
 दध्वान दुन्दुभिरवो जयशब्दमिश्रः
 प्रोत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादसान्द्रः ।
 नृत्यं व्यधुः सलयमप्सरसो जगुश्च
 शुभ्रं यशो जिनपतेः सुरगायनास्ते ॥९१॥
 आपृच्छ्य बन्धुजनमेष समारुरोह
 वैरङ्गिकोऽथ विशदां शबिकां विशालाम् ।
 पार्श्वः कृताष्टमतपाः स च पौषकृष्णै—
 कादश्यहन्यवनिपैस्त्रिंशतीप्रमाणैः ॥९२॥

(८८) हे चाता !, आप संसार के उपकार के लिए धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति में प्रौढ़ता को धारण करें। आपकी सेवा करके यह भव्यलोक प्रसन्न हो, जैसे चातक (पपीहा) वर्षा के बादल को देखकर प्रसन्न होता है। (८९) इस प्रकार वे देवों के देव जिनकी स्तुति करके स्वर्ग को चले गए। (उसके पश्चात्) तुरन्त ही इन्द्र आदि अन्य देवता लोग नाना वेश धारण किए हुए आकाश से उतरे और सब तरफ से काशीपुरी को देखकर खड़े हो गये। (९०) सभी ने एकत्रित होकर प्रभु का अभिषेक करके दिव्यमालाओं, आभूषणों और सुगन्धित द्रव्यों से प्रभु को सजाया। वह प्रभु इन्द्रधनुष की कान्ति से शोभित बादल की तरह विराजमान थे। (९१) मृदङ्ग की मंगल और ऊँची ध्वनि से गंभीर और जयघोष से मिश्रित दुन्दुभी की आवाज होने लगी। लयपूर्वक अप्सराओं ने नृत्य करना प्रारंभ किया। दिव्यगायक जिनपति पार्श्वकुमार के स्वच्छ यश का गुणगान करने लगे। (९२-९३) उसके पश्चात् अष्टमतपवाले विरक्त पार्श्व बन्धुजनों की अनुज्ञा लेकर शुभ्र एवं विशाल शबिका में चढ़े। पौष माह के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन पूर्वाह्न में उद्यानगत आश्रमपद में,

पूर्वाणह आश्रमपदे विपिने त्वशोक—

मूले स पार्श्वभगवान् व्रतमाददानः ।

केशानल्लुञ्चदभिनम्य स सर्वसिद्धान्

संत्यज्य सङ्गमखिलं त्रिविधं त्रिधेति ॥९३॥

सावधादखिलाद् विरम्य जगृहे सामायिकं संयमं

तद्भेदान् व्रतगुप्तिचारुसमितिस्फारान् विरागः प्रभुः ।

प्रत्यैच्छन्नमघवा सुरत्नपटलीपात्रेण तन्मूर्द्धजान्

सानन्दं त्रिदशास्तु दुग्धजलधावादाय तांश्चक्षिपुः ॥९४॥

तं जातरूपधरमीशमुदप्रदीप्तिं

नानासुरासुरगणाच्चितसुन्दराङ्गम् ।

दृष्ट्वा सहस्रनयनः किल नाप तृप्तिं

नेत्रैः सहस्रगणितैरपि सप्रमोदः ॥९५॥

तं जिनेन्द्रमथ वासवादय—

स्तुप्तुवुः प्रमदतुष्टमानसाः ।

भारतीभिरभितः सनातनं

सूक्तियुक्तविशदाथवृत्तिभिः ॥९६॥

स्वं विमुस्त्रिभुवनैकभूषण—

स्त्वं जगज्जनसमूहपावनः ।

त्वामनन्तगुणमीश ! यत् स्तुम—

स्तद्धि भक्तिमुखरत्वमेव नः ॥९७॥

अशोक वृक्ष के नीचे, तीनसौ राजाओं के साथ उन्होंने व्रत ग्रहण किया । तीनप्रकार के अखिल सैंग को त्रिधा त्यागकर सर्वसिद्धों को नमस्कार करके उन्होंने केश का लुञ्चन किया । (९४) सभी दोषों से विरक्त होकर विरागी प्रभु ने सामायिकरूपसंयम और उसके व्रत, गुप्ति, समिति ऐसे अनेक भेदों को ग्रहण किया । इन्द्र ने उन केशों को सुन्दर रत्नपात्र में स्थापित किया तथा आनन्दपूर्वक देवताओं ने उसे क्षीरसागर में विसर्जित कर दिया । (९५) स्वर्ण के रूप को धारण करने वाले, अत्यन्त तेजस्वी, अनेक देव तथा अमुरों के द्वारा जिनके शोभन अंगों का पूजन किया गया है ऐसे उस पार्श्व को देखकर, प्रसन्न इन्द्र को अपने हजार नेत्रों से भी तृप्ति नहीं हुई । (९६) उस सनातन जिनेन्द्र भगवान् की इन्द्रादि देवताओं ने प्रसन्नमन होकर शोभन उक्तिओं, युक्तिओं और विशद अर्थवाली रीतिओं से पूर्ण वाणी द्वारा स्तुति की । (९७) हे प्रभो!, आप व्यापक हैं, त्रिलोकी के अनुपम भूषण हैं, सांसारिक लोगों को पवित्र करने वाले हैं । अनन्तगुणवाले आपकी हे प्रभु ! हम जो स्तुति करते हैं वह तो मात्र आपके प्रति भक्ति के कारण हमारी वाचालता ही है

यन्निरस्तजगदुग्रसंश्वरं
विश्वविश्वजनतैकपावनम् ।
गाङ्गवारिसवनं पुनातु वा
त्वद्भ्रतग्रहणमथ नः प्रभो ! ॥९८॥

राज्यसम्पदमिमां चलाचला—
माकलय्य भगवान् भवानिति ।
आजवंजवजकृच्छहानये
प्रत्यपद्यत विशुद्धसंयमम् ॥९९॥

स्नेहरागनिगडं विभिद्य यत्
त्वं मदान्धगजवद् वनं गतः ।

सावरोधजनकादिबन्धुता
नावरोधनकरी तवाभवत् ॥१००॥

जीवितं किल शतहृदाचलं
स्वप्नभोग इव भोगसङ्गमः ।

सम्पदो जलतद्गुह्यभङ्गुरा
इत्यवेत्य शिवमार्गमासदः ॥१०१॥

यद्विहाय नृपतारमामिमां
रज्यते स्म भगवांस्तपःश्रिया ।

काङ्क्षसे यदिह मुक्तिवल्गुमां
धीतरागपदवी कुतस्त्वयि ! ॥१०२॥

(९८) हे प्रभो !, आपका यह व्रतग्रहण आज हमें गंगाजल के स्नान के समान पवित्र करे । यह व्रतग्रहण संसार के सभी उत्ताप को दूर करने वाला तथा सम्पूर्ण विश्व को पवित्र करने वाला है । (९९) राज्य की यह सम्पत्ति चलाचल है ऐसा सोचकर आपने शीघ्र ही कष्ट की हानि के लिए विशुद्ध संयम को स्वीकार किया है । (१००) मदान्ध हाथी की तरह आप स्नेह और राग की बँजीर को तोड़कर वन में गए । पिता आदि की अवरोधकारी समाई (संबंध) आपके लिये अवरोधक न हुई । (१०१) आपने जीवन को बिजली के समान चंचल, सांसारिक भोगों स्वप्नभोग के समान (मिथ्या), सम्पत्ति को जल-तरंगों के समान क्षणभंगुर समझकर आप ने मोक्ष को अपनाया है । (१०२) इस राज्यलक्ष्मी को छोड़कर आपने जो तपःभी से अनुगम किया तथा यहाँ मुक्तिप्रिया की जो इच्छा की, तो फिर आपमें धीतरागता कैसे मानी जाये ?

स्वं परं च सकलं विविच्य तद्
 वस्तु वास्तवमनन्तधर्मकम् ।
 स्वात्मवस्तुनि यदासजस्तरां
 तत् तवाऽस्ति समदर्शिता कुतः ! ॥१०३॥

शर्म यच्च परनिघ्नमत्यज—
 स्तत् स्वनिघ्नमभिकाङ्क्षसे भृशम् ।
 स्वां विहाय सकलां नृपश्रियं
 तावकी विरतिरद्भुता विभो ! ॥१०४॥

मेजिरे किल पुरा सुरासुरा—
 स्त्वं तथैव भुवनेश साम्प्रतम् ।
 काममेव चकमे व्रतश्रियं
 तत् तपोभ्युपगमस्तवाऽदभुतः ॥१०५॥

मादृशैः सुचरितं भवादृशां
 विश्वविश्वप ! न चारिं गोचरम् ।
 तत् त्वमेव वचसामगोचर—
 स्त्वां शरण्यशरणं श्रिया वयम् ॥१०६॥

(१०३) स्व और पर सकल वस्तु वास्तव में अनन्त धर्मों वाली होती है ऐसा विवेक से निश्चय करने के बाद भी अपनी आत्मारूप वस्तु में आप जो विशेषतः आसक्त हो गये हैं, तो फिर आपकी समदर्शिता कहाँ ? (१०४) अपनी सम्पूर्ण राज्यलक्ष्मी को छोड़कर पराधीन सुख को आपने छोड़ दिया और स्वाधीन सुख की आप उत्कट इच्छा करते हो । हे प्रभो !, आपकी यह विरक्ति बड़ी ही अद्भुत है । (१०५) हे भुवनेश !, देवताओं और असुरों ने जो पहले आपकी सेवा की थी, उसी प्रकार अब भी सेवा करते हैं, और अन्नपन्न व्रतश्री की अत्यन्त इच्छा करते हैं । इसलिए आपके तप का स्वीकार अद्भुत है । (१०६) हे सम्पूर्ण विश्व का पालन करने वाले प्रभो !, मुझ जैवों के द्वारा आप जैवों का सुन्दर चरित नहीं जाना जा सकता । आप वाणी से अगोचर हैं । शरणागत की रक्षा करने वाले आपके हम शरण में आये हैं ।

स्तुत्वैवं त्रिदशाधिपास्त्रिजगतामीशं व्रतश्रीभृतं

जग्मुः स्वालयमेव बन्धुजनता प्रापाथ शोकार्दिता ।

निःसङ्गो भगवान् वनेषु विहरन्नास्ते मनःपर्यव -

श्रीसंश्लेषससम्भदः स यमिनां धुर्यः परं निवृत्तः ॥१०७॥

इति श्रीमत्परापरपरमेष्ठिपदारविन्दमकरन्दसुन्दररसास्वादसम्प्रीणित-

भव्यभव्ये पं० श्रीमेरुविनेयपं० श्रीपद्मसुन्दरविरचिते श्रीपार्श्व-

नाथमहाकाव्ये श्रीपार्श्वनिष्क्रमणं नाम पञ्चमः सर्गः ॥

१०७) इस प्रकार देवतालोग व्रतश्री को धारण करने वाले जगत्स्वामी की स्तुति करके अपने स्थान को चले गये । बन्धुजन शोक से पीड़ित होकर अपने घर गये । भगवान् जिनदेव वनों में निःसङ्ग विहार करते हुए मनःपर्यवज्ञानश्री के आश्लेष से खुश हुए । संयमीजनों में अग्रगण्य ऐसे वे (पार्श्व) धरम शान्ति में स्थिति रहे ।

इति श्रीमान्परापरमेष्ठी के चरणकमल के मकरन्द के सुन्दर रस के स्वाद से भव्यजनों को प्रसन्न करने वाले, पं० श्रीपद्ममेरु के शिष्य पं० श्रीपद्मसुन्दर कवि द्वारा रचित श्रीपार्श्वनाथमहाकाव्य में "श्रीपार्श्वनिष्क्रमण" नामक पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

षष्ठः सर्गः

अथाष्टमतपःप्रान्ते श्रीपार्श्वो भगवान् स्वयम् ।
 विश्वाणा-वेषणे बुद्धिं चक्रे कायस्थितोऽल्लुकः ॥१॥
 यतिमार्गप्रदर्शित्वं स्वतनुस्थितिकागिता ।
 सुखेन मुक्तियानं स्यादित्यर्थं मुनिभोजनम् ॥२॥
 न कृशीकुरुते कायं मुनिर्नोपचिनोति वा ।
 किन्तु संयमवृद्ध्यर्थं प्रयतेत ननु स्थितौ ॥३॥
 कर्मणां निर्जरार्थायोपवासादेरुपक्रमः । —
 तनुस्थित्यर्थमाहारो यतीना सूत्रसूचितः ॥४॥
 रसासक्तिमतन्वानो यात्रायै संयमस्य तु ।
 गृहणन्निर्दोषमाहारं मुनिः स्यान्निर्जरालयः ॥५॥
 इति निश्चित्य भगवान् पार्श्वः संयमवद्भ्राने ।
 कृतोद्योगश्चचालायं पुरं कूपकटं प्रति ॥६॥
 युगमात्रस्फुरद्दृष्टीर्यामार्गं विशोधयन् ।
 स प्रतस्थेऽस्त्रलां पृथ्वीं पादन्यासैः पवित्रयन् ॥७॥
 क्रमेण विहरन् मध्येनगरं स समासदत् ।
 तदा सोऽकण्ठितो लोकः श्रीपार्श्वस्य निदृक्षया ॥८॥

१ इसके पश्चात् अष्टमतप के अन्त में कायस्थिति के इच्छुक भगवान् पार्श्व ने स्वयं भोजन बूढ़ने का विचार किया । (२) 'विवेकपूर्ण भोजन लेना जिसका एक अंग है ऐसे यतिमार्ग को दिखलाने के लिए, अपने शरीर को टिकाये रखने के लिए और सुखपूर्वक (अर्थात् बिना दुर्ध्यान) मुक्तिमार्ग में गति हो सके इसलिए मुनि को भोजन लेना होता है । (३) मुनि न तो शरीर को कृश करे न ही पुष्ट करे, किन्तु संयम को बढ़ाने के लिए ही अपने शरीर को टिकाये रखने का प्रयत्न करे । (४) कर्मों की निर्जरा के लिए उपवास आदि का प्रारंभ होता है । शरीर की स्थिति के लिए मुनियों के आहार का सूत्रों में सूचन किया गया है । (५) रत्न में लोलुपता नहीं करने वाला, केवल संयमयात्रा के निर्वाह के लिए दोषरहित भोजन करने वाला मुनि कर्मनिर्जरा का स्थान है ।' (६) ऐसा निश्चय करके भगवान् पार्श्व ने अपने संयम को वृद्धि में प्रयत्न करते हुए कूपकट नामक नगर के प्रति प्रस्थान किया । (७) चार हाथ मात्र तक फैलती दृष्टि से (बहुत सूक्ष्मता के साथ) चलने के रास्ते को (कीट पतंग आदि की हिंसा न हो इसलिए) बराबर देखकर उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने चरणन्यास से पवित्र करते हुए प्रस्थान किया । (८-९) क्रम से विचरते हुए नगर के मध्य वे पहुँचे तब वहाँ के लोग उरकण्ठित होकर श्रीपार्श्व को देखने

इतोऽमुतश्च धावन्तो लोकाः कलकलाकुलाः ।
समुज्जितान्यकर्तव्याः प्रणेमुस्तं कृतादराः ॥१॥
स एष भगवान् पार्श्वः साक्षाज्जङ्गमभूधरः ।
यद्दृष्ट्या फलिते नेत्रे यच्छ्रुत्या सफले श्रुती ॥१०॥
यश्चित्तितोऽपि चित्तेन जन्मिनां कर्मसंक्षयम् ।
कुरुते स्मरणान्नाम्नो यस्य पूतो भवेज्जनः ॥११॥
सोऽयं घनाञ्जनश्यामस्त्यक्तङ्गः सनातनः ।
निष्कामो विचरत्येष दिष्ट्या दृश्यः स एव नः ॥१२॥
एवमुत्पिञ्जलः लोकाः पार्श्वदर्शनलालसाः ।
अहंपूर्विकया जग्मुर्विदधाना मिथःकथाम् ॥१३॥
स्नानं घयन्तं काऽपि स्त्री त्यक्त्वाऽधावत् स्तनंघयम् ।
प्रसाधितैकपादाऽगात् काचिद् गलदलकका ॥१४॥
खलु भुवतेति काऽप्याह पश्यन्ती भगवन्मुखम् ।
काऽपि मञ्जनसामग्रीमवमस्य गतान्तिकम् ॥१५॥
केऽपि पूजां वितन्वन्तः पौराः कौतुकिनः परे ।
गतानुगतिकाश्चान्ये पार्श्वे द्रष्टुमुपागमन् ॥१६॥

की इच्छा से, इधर-उधर दौड़ते हुए, शोरगुल मचाते हुए, अपने अन्य कार्यों को छोड़ते हुए, आदरपूर्वक उस पार्श्व को प्रणाम करने लगे। (१०) 'वह भगवान् पार्श्व साक्षात् चलते-फिरते पर्वत हैं (अर्थात् जङ्गम होने पर भी अचल हैं), इसके कारण ही उन्हें देखने से दोनों नेत्र सफल हो गये तथा उन्हें सुनने से दोनों कान भी तृप्त हो गये। (११) मन से उनका चिन्तन करने पर वे जन्मधारियों के कर्म का क्षय कर देते हैं; उनके नामस्मरण मात्र से मनुष्य पवित्रात्मा हो जाता है। (१२) गाढ़ काचल के समान काले, आसक्ति से रहित, सनातन, निष्काम ऐसे वे (पार्श्व) विचरण कर रहे हैं। हमारा सौभाग्य है कि उनका ही दर्शन हमें सुरुभ हुआ।' (१३) इस प्रकार सोचते हड़बड़ाहट के साथ पार्श्व के दर्शनों के इच्छुक व्यक्ति 'मैं पहला हूँ, मैं पहला हूँ, ऐसे वचन बोलते हुए और आपस में चर्चा करते हुए गये। (१४) कोई महिला अपने स्तनपान करते हुए बच्चे को ही छोड़कर दौड़ी। कोई एक ही पैर में महंवर लगाये हुए दौड़ने लगी और कोई गलते हुए अलते वाली स्त्री दौड़ रही थी। (१५) किसी स्त्री ने भगवान् के मुख को देखकर 'तृप्त हो गई' ऐसा कहा। कोई महिला स्नान सामग्री को भी पटककर (पार्श्व के) पास पहुँची। (१६) कोई नागरिक पूजा करते हुए, कुछ दूसरे कौतुहलवश और अन्य दूसरे देखादेखा पार्श्व को देखने पहुँचे।

मत्तेभली त्रया पार्ष्वमापतन्तं महेश्वरः ।
 धन्याह्वय उषागत्य तत्क्रमो प्रणनाम सः ॥१७॥
 त्रिः परीत्य प्रभुं नत्वा पञ्चाङ्गप्रणतिक्रमैः ।
 सन्तुष्टोऽसौ प्रमोदातिरेकात् पुलकिताङ्गकः ॥१८॥
 स श्रद्धादिगुणोपेतो महापुण्यसमन्वितः ।
 निर्दोषं प्रासुकाहारं ददौ भगवते मुदा ॥१९॥
 तद्गोहे रत्नवृष्टिस्तु पपात गगनाङ्गणात् ।
 महादानफलश्रेणी सद्यः प्रादुरभूदिव ॥२०॥
 दिवोऽपतत् प्रसूनानां वृष्टिः सद्गन्धबन्धुरा ।
 महापुण्यलतायाः किं प्रत्यप्रा सुमनस्ततिः ? ॥२१॥
 आमन्द्रमानका नेदुर्नादापूरितदिग्मुखाः ।
 अवावा पुष्परजसा मन्दं शीतो मरुद ववौ ॥२२॥
 अहो! पात्रम् अहो! दानम् अहो! दातेति स्वाङ्गणे ।
 प्रमोदमेदुरस्वान्तैर्देवैरुज्जगिरे गिरः ॥२३॥
 धन्यमन्यस्तदा धन्यः स्वं कृतार्थममन्यत ।
 यत् पार्ष्वः स्वपदन्यासैः पुनान्मदगृहाङ्गणम् ॥२४॥
 वनं जगाम भगवान् विधाय स्वतनुस्थितिम् ।
 धन्योऽपि तमनुवज्य कियद्दूरं न्यवीवृतत् ॥२५॥

(१७) मस्त हाथी की लीला से आते हुए पार्ष्व को देखकर धन्य नामक महेश्वर ने समीप जाकर पार्ष्व के चरणों में प्रणाम किया । (१८) तीन परिक्रमा करके, पञ्चाङ्गप्रणति से प्रभु को नमस्कार करके वह धन्य प्रसन्नता के भार से अतीव पुलकित गात्र वाला होकर सन्तुष्ट हुआ । (१९) श्रद्धादि गुणों से युक्त, महापुण्यों वाले उस राजा ने शुद्ध, निर्दोष आहार भगवान् को प्रसन्नता से दिया । (२०) उसके घर में आकाशमण्डल से रत्नों की वर्षा हुई मानों महादान के फलों की सन्तति तत्काल प्रकट हुई हो । (२१) पुष्पों की सुगन्धित वृष्टि स्वर्ग से होने लगी । महापुण्यलता की क्या वह ताजी पुष्पवर्षा थी ? (२२) दिशाओं के प्रान्तभाग को मुखरित करने वाली हुन्दुभियाँ बजने लगीं, पुष्प के परागों की बहाने वाला शीतल मन्द पवन बजने लगा । (२३) 'अहा ! योग्यपात्र, अहा ! दान, अहा ! दाता, इस प्रकार से आकाशप्रांगण में प्रमोदनिर्भर मन वाले देवता जोर से वाणी कहने लगे । (२४) धन्य ने अपने को कृतार्थ व धन्य-धन्य समझा कि पार्ष्व ने अपने चरणकमलों से मेरे घर के आँगन को पवित्र किया । (२५) अपनी शरीरस्थिति करके (भोजन कार्य करके) पार्ष्व भगवान् वन को चले गये । वह धन्य भी थोड़ी दूर तक उनका अनुसरण करके लौट आया ।

विधाय पारणां भेजे तपोवनमथो जिनः ।
 तपोयोगं समाधाय कायमुत्सृज्य तस्थिवान् ॥२६॥
 प्रलम्बितभुजद्वन्द्वः प्रसन्नवदनाम्बुजः ।
 दिध्यासुर्विशदध्यानं स तस्थावचलाचलः ॥२७॥
 अज्ञानध्वान्तविध्वंसकल्पा तद्देहमन्दिरे ।
 सन्मार्गोद्योतिका सद्यो दिद्युते बोधदीपिका ॥२८॥
 विज्ञाय हेयोपादेयं गुणदोषान्तरं जिनः ।
 विहाय सकलान् दोषानासजत् गुणेष्वलम् ॥२९॥
 सर्वसावद्यविरतिं चक्रे सत्यव्रते दृढः ।
 अस्तेयनिरतो ब्रह्मचर्यवान्निष्परिग्रहः ॥३०॥
 विकालाशनवर्जी स भावयन् व्रतभावनाः ।
 व्रते व्रते च प्रत्येकं पञ्च पञ्च प्रपञ्चिताः ॥३१॥
 मनोगुप्तीर्येषणादाननिक्षेपविधानयुक् ।
 दृष्टान्नपानाद्यादानमहिंसाव्रतभावनाः ॥३२॥
 लोभहास्यभयक्रोधप्रत्याख्यानानेन भाषणम् ।
 निरवद्यवाचा जरूपो द्वितीयव्रतभावनाः ॥३३॥

(२६) जिन भगवान् पारणा करके तपोवन में पहुँचे । (उसके पश्चात्) तपोयोग करके कायोत्सर्ग से स्थित हो गये । (२७) दोनों भुजाएँ लम्बी किये हुए, प्रसन्न मुखकमल वाले विशद ध्यान करने की इच्छावाले वे अचलगिरि की तरह स्थिर रहे । (२८) उनके देहरूपी मन्दिर में अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाली, सन्मार्ग की प्रकाशिका ज्ञानदीपिका शीघ्र ही चमकने लगी । (२९) परित्याज्य व प्राप्तव्य वस्तु के गुणदोष का विभेद जानकर सम्पूर्ण दोषों का प्ररित्याग कर जिनदेव गुणों में ही आसक्त हुए । (३०) सत्यव्रत में दृढ, अचौर्य में रत, ब्रह्मचर्यसम्पन्न और परिग्रहरहित वे सब दोषों से विरत हुए । (३१) वे शाम का भोजन नहीं करते थे (अर्थात् दिन में एक बार ही आहार लेते थे) । (शास्त्र में) विस्तार से जिनका निरूपण किया है उन प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं का वे चिंतन करते थे । (३२) मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकित भोजनपानादि का ग्रहण ये (पाँच) अहिंसाव्रत की भावनाएँ हैं । (३३) लोभप्रत्याख्यान से भाषण, हास्यप्रत्याख्यान से भाषण, भयप्रत्याख्यान से भाषण, क्रोधप्रत्याख्यान से भाषण तथा निर्दोष वाणी से भाषण ये (पाँच) द्वितीय व्रत (सत्य) की भावनाएँ हैं ।

उचितप्रमिताभीक्ष्ण्यसधर्मावग्रहग्रहः ।
 अनुज्ञातान्नपानाशी तृतीयव्रतभावनाः ॥३४॥
 स्त्रीणामालोकसंसर्गान् कथाप्राग्रतसंस्मृतीः ।
 वर्जयेद् वृष्यमाहारं चतुर्थव्रतभावनाः ॥३५॥
 बाह्यान्तर्गतसङ्गेषु चिदचिन्मिश्रवस्तुषु ।
 इन्द्रियार्थेष्वनासक्तिः पञ्चमव्रतभावनाः ॥३६॥
 धैर्यवत्त्वं क्षमावत्त्वं ध्यानस्यानन्यवृत्तिता ।
 परीषहजयश्चैता व्रतेषूत्तरभावनाः ॥३७॥
 अष्टमातृपदाढ्यानि सहितान्युत्तरैर्गुणैः ।
 निःशल्यानि व्रतान्येवं भावयन् शुभभावनः ॥३८॥
 ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यात्मकं च यत् ।
 पञ्चधा चरणं साक्षाद् भगवानाचरत्तराम् ॥३९॥
 धर्मं दशतर्यं सानुप्रेक्षं समितिगुप्तिभिः ।
 युक्तं परीषहजयैः सम्यक् चारित्रमाचरत् ॥४०॥

(३४) उचितस्थानग्रहण, प्रमितस्थानग्रहण, बार बार (अनुज्ञा लेकर) स्थानग्रहण, साधर्मिक के पास से स्थान का ग्रहण और अनुज्ञात अन्न-पान का आहार, ये (पाँच) तृतीयव्रत (अचौर्य) की भावनाएँ हैं । (३५) स्त्रीदर्शन का वर्जन, स्त्रीसंसर्ग का त्याग, स्त्रीकथा का वर्जन, पूर्वानुभूत रतिविलास के स्मरण का त्याग और कामवर्धक आहार का वर्जन ये (पाँच) चतुर्थव्रत (ब्रह्मचर्य) की भावनाएँ हैं । (३६) बाह्येन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय का आकर्षण करने वाले, इन्द्रियग्राह्य सच्चित्त (सजीव) अचित्त (निर्जीव) और सचित्ताचित्त विषयों में (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द में) अनासक्ति ये (पाँच) पंचम व्रत (अपरिग्रह) की भावनाएँ हैं । (३७) धैर्यवत्ता, क्षमाशीलता, ध्यान की अनन्यवृत्तिता, और परिषह की विजय - ये (चार) व्रतों की उत्तर भावनाएँ हैं । (३८) अष्टप्रवचनमाता से (तीन गुप्ति और पाँच समितियों से) आढ्य, उत्तर गुणों से युक्त और शल्यों से (दंभ, भोगालसा, असत्यासक्ति से) रहित (पाँच मूल) व्रतों की (अहिंसा आदि की) भावना शुभभावनावाले वे करते थे । (३९) ज्ञानात्मक, दर्शनात्मक, चारित्रात्मक, तपस्यात्मक, और वीर्यात्मक जो पाँच प्रकार के आचार हैं; उनका साक्षात् आचरण भगवान् करते थे । (४०) (अनित्यानुचितन, अशरणानुचितन, संसारानुचितन, एकत्वानुचितन, अन्यत्वानुचितन, अंशुच्यनुचितन, आस्त्रवानुचितन, संवरानुचितन, निर्जरानुचितन, लोकानुचितन, बोधिदुर्लभत्वानुचितन और धर्मस्वाख्यातत्वानुचितन, ये बारह) अनुप्रेक्षा से, (पाँच) समितिसे और (तीन) गुप्ति से युक्त दशप्रकार के धर्म का (क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आर्किचन्य और ब्रह्मचर्य का) वे आचरण करते थे, तथा परीषहजय से युक्त सम्यक् चारित्र का वे आचरण करते थे ।

एवं तपस्यतस्तस्य विभ्रतोऽसङ्गरङ्गताम् ।
 कियान् कालो व्यतीयायाऽन्यदाऽसौ तापसाश्रमम् ॥४१॥
 आगाद् दिवाकरश्चास्तमगान्न्यग्रोधशाखिनः ।
 बुध्ने तत्रोपकूपं स रात्रौ प्रतिमया स्थितः ॥४२॥
 स दध्यौ ब्रह्म चिद्रूपमनन्तज्योतिरात्मसात् ।
 तमःपारे स्थितं धाम नित्यमानन्दसुन्दरम् ॥४३॥
 यदाप्य भिद्यते ग्रन्थिश्छिद्यन्तेऽखिलसंशयाः ।
 क्षयेऽप्येक्ष्यमद्वैतं तद्धाम शरणं श्रितः ॥४४॥
 इतः स कमठात्मा तु मेघमाल्यसुराधमः ।
 दृष्ट्वा स्वावधिना वैरं सस्मार स्मयपूरितः ॥४५॥
 कृताः क्रोधोद्धुरैणेत्य वेताला वृश्चिका द्विपाः ।
 शार्दूलास्तैः शुभध्यानान्नाचालीदचलाचलः ॥४६॥
 ततो विचक्रे गगने घनाघनविकुर्वणाम् ।
 एनं निमज्जयामीति निश्चित्यासौ सुराधमः ॥४७॥
 प्रादुरासन्नभोभागे वज्रनिर्घोषभीषणाः ।
 धाराधरास्तडित्वन्तः कालरात्रैः सहोदराः ॥४८॥

(४१-४२) इस प्रकार तप करते हुए, अनासक्ति को धारण करते हुए उनका कुछ समय व्यतीत हुआ। एक दिन वे तापसाश्रम में आये। उस समय सूर्यास्त हुआ था। वहाँ बड़ के मूल में कुण्ड के पास रात्रि में वे प्रतिमाध्यान में स्थित हो गये। (४३-४४) चिद्रूप, अनन्तज्योतिरूप, अन्धकार से परे स्थित, नित्यानन्द से सुन्दर और आत्मस्वरूप ब्रह्म का उन्होंने ध्यान किया, जिस ब्रह्म की प्राप्ति होते ही (राग, द्वेष आदि की) सब ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं और सब संशय छिन्न हो जाते हैं। क्षय में भी जो अक्षय है ऐसे अद्वैत धाम की उन्होंने शरण ली। (४५) इधर वह कमठात्मा, मेघशाली नामक दुष्ट राक्षस, गर्व से भरा हुआ अपने अवधिज्ञान से पूर्व वैर को स्मरण करने लगा। (४६) (उसने) क्रोधावेश में आकर वेताला, बिच्छू, हाथी, सिंह, आदि बनाये लेकिन पर्वत जैसे अचल वे (जिनभगवान् पार्ष्व) उनके द्वारा (बिच्छू आदि द्वारा) शुभ ध्यान से चलित नहीं हुए। (४७) तदनन्तर इस पार्ष्व को डुबो दूँगा - ऐसा निश्चय करके उस अधम असुर ने आकाश में कृत्रिम घने मेघ को उत्पन्न किया। (४८) आकाश में वज्र के निर्घोष की तरह भयंकर बिजली युक्त मेघ कालरात्रि के सगे भाई की तरह प्रकट हुए।

कादम्बिनी तदा श्यामाञ्जनभृधरसन्निभा ।
 व्यानशो विद्युदत्युग्रज्वालाप्रज्वलिताम्बरा ॥४९॥
 नालक्ष्यत तदा रात्रिर्न दिवा न दिवाकरः ।
 बभूव धारासम्पातैः वृष्टिर्मुशलमांसलैः ॥५०॥
 गर्जितैः स्फूर्जिथुध्वानैः ब्रह्माण्डं स्फोटयन्निव ।
 भापर्यंस्तडिदुल्लासैर्वर्षति स्म घनाघनः ॥५१॥
 आसप्तरात्रादासारैर्ज्ञानामारुतभीषणैः ।
 जलाप्लुता मही कृन्स्ना व्यभादेकार्णवा तदा ॥५२॥
 आनासाम्रात् पयःपूरः श्रीपार्श्वस्याऽऽगमद् यदा ।
 धरणेन्द्रोऽवधेर्ज्ञात्वा तदाऽऽगात् कम्पितासनः ॥५३॥
 प्रभोः शिरसि नागेन्द्रः स्वफणामण्डपं व्यधात् ।
 तन्महिष्यग्रतस्तौर्यत्रिकं विदधती बभौ ॥५४॥
 वर्षन्तमवधेर्ज्ञात्वा नागेन्द्रो मेघमालिनम् ।
 क्रुद्धः साक्षेपमित्यूचे भूयादजननिस्तव ॥५५॥
 आः पाप ! स्वामिनो वारिधारा हारायतेतराम् ।
 तवैव दुस्तरं वारि भववारिनिधेरभूत् ॥५६॥

(४९) श्याम अञ्जन पर्वत के सदृश मेघमाला बिजली की उग्र ज्वालाओं से आकाश को जलाती हुई फैल गई । (५०) उस समय न रात्रि का पता लगता था, न दिन का और न सूर्य का । मूसल जैसी पुष्ट धाराओं से वर्षा होने लगी । (५१) बादलों की गड़गड़ाहट की आवाजों की गर्जनाओं से मानो ब्रह्माण्ड को फोड़ता हुआ और बिजली की चमक से उसको प्रज्वलित करता हुआ घनघोर मेघ धरस रहा था । (५२) सात रात लगातार मूसलाधार वर्षा होने से तथा भीषण झंझावात से भयंकर बनी सम्पूर्ण पृथ्वी जल से पूर्ण एक समुद्र की तरह हो गई । (५३) जब जल का पूर (प्रवाह) पार्श्व की नासिका के अग्रभाग तक आ गया तब कम्पित आसनवाला धरणेन्द्र अवधिज्ञान द्वारा जानकर (वहाँ) आया । (५४) नागेन्द्र (धरणेन्द्र) ने प्रभु पार्श्व के मस्तक पर अपनी फणाओं का मण्डप बना दिया । उस धरणेन्द्र की पत्नी प्रभु के आगे वाद्य गान और नृत्य करती हुई शोभित हुई । (५५) अवधिज्ञान से मेघमाली को वृष्टि करता देखकर नागेन्द्र ने क्रुद्ध होकर भाक्षेपपूर्वक कहा—‘लानत हो तुम पर । (५६) अरे पापी ! स्वामी के लिए यह जलधारा हार बन गई (गले तक पहुँच गई) और तुम्हारे लिए (यही जलधारा) संसारसागर का दुस्तर जल बन गयी है ।’

श्रुत्वेति भीतभीतोऽसौ शरण्यशरणं श्रितः ।
 नत्वा श्रीपार्श्वमाह स्म क्षमस्व मम विप्रियम् ॥५७॥
 प्रभोः शिरस्यहिच्छत्रं शिवापुर्यां दधौ अहम् ।
 अहिच्छत्रेति लोके सा तदारभ्य निगद्यते ॥५८॥
 सुरा निजाश्रयं जग्मुः भगवानप्रमत्तताम् ।
 प्रासस्यशीत्या दिवसैरतिक्रान्तैर्महामनाः ॥५९॥
 भगवानप्रमत्तस्तु प्राप्यानन्तगुणां तदा ।
 विशुद्धिमुद्धरां विभ्रत् क्षपकश्रेणिमासदत् ॥६०॥
 आद्यं शुक्लांशमध्यास्य विभ्राणो ध्यानशुद्धिताम् ।
 मोहस्य प्रकृतीः सर्वाः क्षपयामास स क्रमात् ॥६१॥
 करणत्रयमासाद्य शुद्धयोऽस्य पृथग्विधाः ।
 यथाप्रवृत्तिकरणे शुद्धयः स्युः प्रतिक्षणम् ॥६२॥
 पुरः पुरो वर्द्धमानाः सर्वा आचरमक्षणम् ।
 अपूर्वकरणे तास्तु स्युरपूर्वा प्रतिक्षणम् ॥६३॥
 करणे त्वनिवृत्ताह्वे शुद्धयः स्युः समा मिथः ।
 निष्पन्नयोगी याः प्राप्य स्वानन्दान्न निवर्तते ॥६४॥

(५७) यह सुनकर भयभीत हुआ मेघमाली शरण्य की शरण में आया । श्रीपार्श्व को प्रणाम कर कहने लगा - 'मेरा यह दुष्कृत क्षमा करिये' । (५८) स्वामी के सिर पर शिवापुरी में मैंने अहिच्छत्र (फण) धारण किया अतः वह नगरी उस दिन से अहिच्छत्रा के नाम से कही जाने लगी । (५९) देव अपने स्थान को गये और उदार मनवाले भगवान् तैरासी (८३) दिन बीत जाने पर अप्रमत्तता को प्राप्त हुए । (६०) अप्रमत्त भगवान् पार्श्व अनन्तगुणशालिनी उत्कृष्ट विशुद्धि को धारण करते हुए क्षपकश्रेणि को प्राप्त हुए । (६१-६२-६३) प्रथम शुक्लध्यान का आश्रय करके ध्यानशुद्धि को धारण करते हुए पार्श्व ने मोह की सभी प्रकृतियों को करणत्रय (यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण) के द्वारा क्रमशः नष्ट कर दिया । करणत्रय से सम्पन्न उनकी शुद्धियाँ भिन्न भिन्न प्रकार की थी । यथाप्रवृत्तिकरण में प्रतिक्षण शुद्धियाँ होती रहती हैं और आगे आगे अन्तिम क्षण तक वे सब बढ़ती रहती हैं । अपूर्वकरण में वे शुद्धियाँ प्रतिक्षण अपूर्व होती हैं । (६४) अनिवृत्तिकरण नाम के करण में शुद्धियाँ आपस में समान मात्रा में होती हैं, जिनको प्राप्त कर निष्पन्न-योगी निजानन्द से च्युत नहीं होते ।

विशुद्धिभिर्वर्धमानः क्रमात् क्षीणकषायताम् ।
 प्राप्याऽधुनाद्रजोऽशेषं स्नातकत्वं प्रपन्नवान् ॥६५॥
 समस्तज्ञानदृग्वीर्यादिविघ्नान् घातिसंज्ञकान् ।
 शुक्लांशेन द्वितीयेन चिच्छेद समयेऽन्तिमे ॥६६॥
 घनघातिविघातेन विश्वदृश्या जगन्प्रभुः ।
 श्रीपार्श्वः केवलं लेभे जगदुद्योतकारणम् ॥६७॥
 दीक्षावने त्वशोकाधः पूर्वाह्ने राधया युते ।
 चैत्रकृष्णचतुर्थ्येहि पार्श्वोऽभूत् केवली तदा ॥६८॥
 अनन्तज्ञानदृग्वीर्यचारित्राप्यथ दर्शनम् ।
 दानलाभौ च भोगोपभोगावानन्त्यमागताः ॥६९॥
 नवकेवललब्धीस्तु भेजे स भगवांस्तदा ।
 असुरस्तूपशान्तोऽभूत् ततः सम्यक्त्वमाददे ॥७०॥
 अथ जिनपतिरुद्यत्केवलज्ञानभास्वद—
 द्युतिभिरखिलविश्वं द्योतयामास विष्वक् ।
 असुरसुरनरेन्द्राः प्राणम भक्तितनन्नाः
 तमथ वियति चासीद् दुन्दुभेर्मन्द्रनादः ॥७१॥

(६५) इस प्रकार उक्त विशुद्धियों से बढ़ते हुए क्रमशः क्षीण कषायता को प्राप्त कर निःशेष (मोऽनीय) फर्मरज को झाड़ कर वे स्नातकत्व को प्राप्त हुए । (६६) समस्त ज्ञान-दर्शनवीर्य आदि के प्रतिबन्धक घाति नामक विघ्नों को उन्होंने द्वितीय शुक्लध्यान (ध्यान प्रकार) से अन्तिम समय में खण्डित कर दिया । (६७) विश्वदृष्टा श्रीपार्श्व ने गाड़ घातिकर्म के विघात से संसार को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया । (६८) तब दीक्षावन में अशोकवृक्ष के नीचे, पूर्वाह्न में, अनुराधानक्षत्रयुक्त चैत्रकृष्ण चतुर्थी के दिन पार्श्व प्रभु केवलज्ञानी हो गये । (६९) अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य व अनन्त-चारित्र (प्रकट हुए) । लाभ, भोग, उपभोग सभी अनन्त हो गये । (७०) यह होते ही नूतन केवलज्ञानरूप लब्धि उन प्रभु को प्राप्त हुई, असुर उपशान्त हुआ और (परिणामस्वरूप) सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ । (७१) इसके पश्चात् जिनदेव प्रभु ने उदित हाँ रही केवलज्ञान की देदीप्यमान दीप्ति से सम्पूर्ण विश्व को चारों ओर से प्रकाशित कर दिया । असुर, देव तथा मानवों ने भक्तियुक्त होकर उन्हें प्रणाम किया और आकाश में मन्द्रगम्भीर दुन्दुभिनाद होने लगा ।

तदनुगगनभागादाशु सन्तानकादि—

द्रुमसुरभिसुमानां वृष्टिरुच्चैः पपात ।

कृतजयनिनदास्तेऽवातरन् देवसङ्घा

अहमहमिकया तं भक्तिभारात् प्रणमुः ॥७२॥

व्यरमयदथ तापं स्वर्नदीवाहगाहा—

दत्तिशिशिरतरोऽसौ मातरिश्वा विसारी ।

विकचकमलखण्डं कम्पयंल्लीनभृङ्गं

पथि सुरमिथुनानामेप्यतां मन्दमावात् ॥७३॥

व्यरजयदथ कृत्स्नं भूमिभागं समन्तात्

सुरकृतजलवृष्टिर्या पतन्ती नभस्तः ।

अवृजिनजिनधर्माऽऽस्थानविन्यासहेतुं

नवजललवसेकध्वस्तविश्वैकतापा ॥७४॥

विविधमणिगणैस्ते बद्धभूमौ सुरौघा

रजतकनकरत्नैस्त्रीन् सुशालान् विशालान् ।

विदधुरथ चतुर्भिर्गोपुरैः शोभमानान्

उपवनतरुराजीवापिकाभोजरग्यान् ॥७५॥

तेषां मध्यगतं हेममाणिक्यरचितं ज्वलत् ।

सिंहासनं तदासीनः श्रीपार्श्वौ भगवान् बभौ ॥७६॥

(७२) उसके पश्चात् आकाश से संतानक आदि वृक्षों के सुगन्धित पुष्पों की बहुत सी वर्षा हुई । जयजयकार करते हुए देवसमुदाय उतरने लगे । 'मैं पहला, मैं पहला' कहकर भक्तिनम्र होकर वे पार्श्वप्रभु को नमस्कार करने लगे । (७३) गंगानदी में स्नान करने से अतीव शीतल, चारों ओर फैलने वाले वायु ने सन्ताप को दूर कर दिया । लीन भ्रमरों वाले विकसित कमलों को कम्पित करता हुआ वायु मार्ग में जानेवाले सुरमिथुनों के लिए धीरे धीरे बहने लगा । (७४) निष्पाप जिनधर्म ठीक से अपना आसन जमा सके इसलिए नवीन जलबिन्दुओं के सिंचन से विश्व के ताप को नष्ट करने में अद्वितीय, देवों के द्वारा की गई, आकाश से गिरती जलवृष्टि ने चारों ओरसे समस्त पृथ्वी को धूलिरहित कर दिया । (७५) उन देवताओं ने उस बद्धभूमि पर विविध मणिओं से तथा रजत स्वर्ण और रत्नों से विशाल कोट बनाये जो चार गोपुर द्वारों से शोभित थे तथा उपवन, वनराजी, बाबड़ी तथा कमलों से सुन्दर लगते थे । (७६) उनके मध्य में स्वर्ण तथा मणि रचित देदीप्यमान सिंहासन था, उस पर बैठे हुए श्रीपार्श्वभगवान् शोभित थे ।

शक्राद्याः परिचेरुस्तं भगवन्तं महेज्यया ।
कौसुमैः पटलैर्व्यौम प्रोर्णवानास्ततालिभिः ॥७७॥

विष्वक् समस्तमास्थानं वृष्टिः सौमनसी तता ।
विसृष्टा सुरवावाहैर्भाम्यद्भृङ्गकुलाकुला ॥७८॥

यस्य पुरस्ताच्चलदलहस्तै—

नृत्यमकार्षीदिव किमशोकः ।

भृङ्गनिनादैः कृतकलगीतः

पृथुतरशाखाभुजवलनैः स्वैः ॥७९॥

त्रैलोक्यस्य श्रियमिव जित्वाऽशेषां
त्रैलोक्येशत्वमथ जिनस्याऽऽचरुये ।

स्वच्छं छत्रं त्रितयमदस्तद्युक्तं
श्रीमान् पार्श्वस्त्रिभुवनचूडारत्नम् ॥८०॥

चामरालिरिन्दुपादगौरा

दक्षयक्षशस्तहस्तधूता ।

पार्श्वदेवपार्श्वयोः पतन्ती

स्वर्नदीव निर्झरैर्विरेजे ॥८१॥

(७७) जिनमें भ्रमर व्याप्त हैं ऐसे पुष्प के समूहों से आकाश को आच्छादित करते हुए इन्द्रादि देव भगवान् की महती पूजा से सेवा करते थे । (७८) सम्पूर्ण बैठक के चारों ओर पुष्पों की वृष्टि फैल गई । देवसमुदायों के द्वारा छोड़ी गई वह पुष्पवष्टि चञ्चल भ्रमरों के समुदाय को आकुल करने वाली थी । (७९) लम्बी शाखाओं रूप अपनी भुजाओं की विविध भङ्गीयों को धारण कर, भ्रमरों के गुञ्जन रूप मधुर गीत गाते हुए अशोकवृक्ष ने अपने चंचल पत्रों रूप हस्तों से उनके (पार्श्व के) सम्मुख मानो नृत्य किया । (८०) उदित शुभ्र द्युतिशाला छत्रत्रय मानों सूचित करता है कि जिनेश्वर ने तीनों लोकों का आधिपत्य प्राप्त किया है और ऐसे श्रीसम्पन्न पार्श्व त्रिभुवन की चूडामणि बन गये हैं । (८१) चन्द्र किरणों के समान गौर चामरों की पंक्ति जो दक्ष यक्षों के प्रशस्त हाथों से पार्श्वप्रभु के दोनों ओर हिलाई जा रही थी, वह पार्श्वदेव के दोनों ओर झरनों से युक्त गिरती हुई गंगानदी के समान शोभित हो रही थी ।

दिवि दुन्दुभयः सुरपाणविकै-

निहताः सुतरां घनकोणगणैः ।

न्यगदन्निव ते ध्वनिभिर्भविकान्

श्रयतौनमिमं स्वहिताय जनाः ॥८२॥

यत्र विभुर्निजपादपदानि

न्यस्यति स स्म सुरासुरसङ्घाः ।

हेममयाम्बुरुहाणि नितान्तं

तत्र नवानि रुचा रचयन्ति ॥८३॥

देवं प्राचीमुखं तं समसृष्टिमहीसंस्थितं सभ्यलोकाः

प्रादक्षिण्येन तस्थुर्मुनिसुरललनार्यास्त्रिकं च क्रमेण ।

ज्योतिर्वन्येशदेवीभवनजरमणीभावनव्यन्तरौघा

ज्योतिष्काः स्वर्गनाथाः समनुजवनिता द्वादश स्युः समध्याः ॥८४॥

जिनपतिवदनाब्जान्निर्जगामाऽथ दिव्य-

ध्वनिरचलगुहान्तः प्रश्रुतिध्वानमन्द्रः ।

प्रस्रमरतर एकोऽनेकतां प्राप सोऽपि

स्फुटमिव तरुभेदात् पात्रभेदात् जलौघः ॥८५॥

(८२) स्वर्ग में देवता रूप पाणविकों द्वारा घनकोणों से बजाई हुई दुन्दुभियाँ अतीव ध्वनि कर रही थीं । अपनी ध्वनि से भव्यजनों को मानों यह कह रही थीं कि हे लोगों ! अपने कस्याण के लिए इन पार्वनाथ की शरण ले लो । (८३) जहाँ प्रभु पार्श्वनाथ अपने चरणकमल रखते थे वहाँ सुर और असुर समुदाय कान्ति से नये नये सुवर्णमय कमलों को बना दिया करते थे । (८४) पूर्ण दिशा की ओर मुख किये हुए समवसरण भूमि में स्थित प्रभु की क्रम से मुनि, देवांगनाथे और आर्य लोग प्रदक्षिणा करके खड़े रहे । ज्योतिष्कदेवियाँ, व्यन्तरदेवियाँ, भवनपति देवों की देवियाँ, भवनपति देव, व्यन्तरदेव, ज्योतिष्कदेव और मानुषी स्त्रियों के साथ बारह प्रकार के वैमानिकदेव सभा में उपस्थित हुए । (८५) पर्वतीय गुफा के अन्तःस्थल से निकली हुई ध्वनि के समान धीर-गंभीर दिव्य ध्वनि जिनदेव के मुखकमल से निकली । वह फैली हुई एक ध्वनि अनेकता को प्राप्त हुई जिस प्रकार जल का समूह स्पष्ट रीति से तरुभेद एवं पात्रभेद से अनेकता (या विशेषता) का प्राप्त होता है ।

भो भव्याः श्रुयतामेष तत्त्वनिर्णयविस्तरः ।
 यो भवाब्धिपतञ्जन्तुजातहस्तावलम्बनम् ॥८६॥
 जीवाजीवौ द्विधा तत्त्वं जीवो द्वेषा विनिश्चितः ।
 मुक्तो भवस्थो विज्ञेयो भवस्थस्तु द्विधा भवेत् ॥८७॥
 भव्यश्चाभव्य इत्येवं जीवश्चैतन्यलक्षणः ।
 अनादिनिधनो ज्ञाता द्रष्टा तनुमितिर्गुणी ॥८८॥
 कर्ता भोक्ता विशुद्धोऽयं लोकालोकप्रकाशकः ।
 मुक्तः स्यादूर्ध्वगमनस्वभावोऽयं सनातनः ॥८९॥
 पूर्वप्रयोगतोऽसङ्गत्वाद् वा बन्धविभेदनात् ।
 गतेश्च परिणामात् स्यादूर्ध्वगामित्वमात्मनः ॥९०॥
 उपसंहारविस्तारपरिणामः प्रदीपवत् ।
 तस्येमे मार्गणोपाया मृग्याः संसारिणस्सदा ॥९१॥
 गतिरिन्द्रियकायौ च योगा वेदाः कषायकाः ।
 ज्ञानसंयमदृश्या भव्यसम्यक्त्वसंज्ञिनः ॥९२॥
 आहारकश्चैषु मृग्यो मार्गणास्थानकेष्वसौ ।
 स नामस्थापनाद्रव्यभावतो न्यस्यते बुधैः ॥९३॥

(८६) हे भव्यजीवों !, यह तत्त्वनिर्णय का विस्तार सुनो, जो भवसागर में पड़े हुए जन्तुओं (प्राणिभों) के लिए हाथ में आया आलम्बन है । (८७-८९) तत्त्व दो हैं—जीव एवं अजीव । जीव दो प्रकार का निश्चित है— मुक्त व भवस्थ (संसारी) । संसारी जीव पुनः दो प्रकार का है—भव्य और अभव्य । जीव का लक्षण चैतन्य है । जीव अनादि-निधन, ज्ञाता, द्रष्टा, शरीरपरिमाण, गुणी, कर्ता, व भोक्ता है । जो जीव विशुद्ध है (वीतराग है) वह लोक और अलोक दोनों को जानता है । जीव का सनातन स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का है । (अतः मुक्त होते ही जीव ऊर्ध्वगमन करता है) । (९०) उसकी ऊर्ध्वगति में पूर्वप्रयोग, असङ्गता, बन्धच्छेद और गतिपरिणाम कारण हैं । (९१-९३) जीव प्रदीप की तरह संकोच-विकासशील है । संसारी जीव का विचार गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, आहारकत्व आदि दृष्टियों से (मार्गणास्थानों से) किया जाना चाहिए । जीव का विचार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों से भी विद्वानों द्वारा कया जाता है ।

जीवादीनां पदार्थानां प्रमाणाभ्यां नयैरपि ।

भवेदधिगमो यद्वा निर्देशादाधिपत्यतः ॥९४॥

स्यात् साधनादधिष्ठानात् स्थितेरथ विधानतः ।

सतसंख्याक्षेत्रसंस्पर्शकालभावान्तरैरपि ॥९५॥

भागोनाल्पबहुत्वेन तेषामधिगमो भवेत् ।

जीवस्य तूपशमिक्रः क्षायिको मिश्रनामकः ॥९६॥

स्वभाव उदयोत्थश्च भावः स्यात् पारिणामिकः ।

इत्यादिभिर्गुणैर्जीवो लक्ष्यते तस्य तु द्विधा ॥९७॥

उपयोगो भवेद् ज्ञानदर्शनद्वयभेदतः ।

ज्ञानमष्टतयं च स्याद् दर्शनं तु चतुष्टयम् ॥९८॥

भेदग्रहत्वात् साकारं ज्ञानं सामान्यमात्रतः ।

प्रतिभासादनाकारं दर्शनं तद् विदुर्बुधाः ॥९९॥

क्षेत्रज्ञः पुरुषः सोऽयं पुमानात्मा सनातनः ।

जीवः प्राणी स्वयंभूश्च ब्रह्म सिद्धो निरञ्जनः ॥१००॥

द्रव्यार्थिकनयान्नित्यः पर्यायार्थनयादयम् ।

अनित्यः स्यादुभाभ्यां तु नित्यानित्यात्मकं जगत् ॥१०१॥

(९४-९६अव) जीव आदि तत्त्वों का ज्ञान प्रमाण और नय से होता है । इन जीव आदि तत्त्वों का विचार निर्देश, आधिपत्य, साधन, अधिष्ठान, स्थिति और विधान इन दृष्टियों से भी होता है । इन जीवादि तत्त्वों का ज्ञान और विचार सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, भाव, अन्तर और अल्पबहुत्व इन दृष्टियों से भी होता है । (९६कड-९८) जीव के (पाँच) भाव हैं - औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक । इन सब गुणों से जीव जाना जाता है । जीव का उपयोग दो प्रकार का है-ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । ज्ञान के आठ प्रकार हैं तथा दर्शन के चार प्रकार हैं । (९९) विशेष को ग्रहण करने के कारण ज्ञान को साकार कहा गया है और सामान्यमात्र को ग्रहण करने के कारण दर्शन को विद्वानों ने अनाकार समझा है । (१००) वह क्षेत्रज्ञ है, पुरुष है, पुमान् है, सनातन आत्मा है, जीव है, प्राणी है, स्वयंभू है, ब्रह्म है और निरञ्जनसिद्ध है । (१०१) द्रव्यार्थिक नय से जीव नित्य है; पर्यायार्थिक नय से जीव अनित्य है; और दोनों नय से जीव और जगत् नित्यानित्य है ।

द्रव्यतः शाश्वतो जीवः पर्यायास्तस्य भङ्गुराः ।

षड्द्रव्यात्मकपर्यायैरस्योत्पत्तिविपत्तयः ॥१०२॥

अभूत्वा भाव उत्पादो भूत्वा चाभवनं व्ययः ।

तादवस्थं पुनर्ध्रौव्यमेवं जीवादयस्त्रिधा ॥१०३॥

एवंस्वरूपमात्मनं दुर्दृशो ज्ञातुमक्षमाः ।

विवदन्ते स्वपक्षेषु बद्धकक्षाः परस्परम् ॥१०४॥

एके प्राहुरनित्योऽयं नास्त्यात्मेत्यपरे विदुः ।

अकर्तृत्यपरे प्राहुरभोक्ता निर्गुणः परे ॥१०५॥

आत्मास्त्येव परं मोक्षो नास्तीत्यन्ये हि मन्वते ।

अस्ति मोक्षः परं तस्योपायो नास्तीति केचन ॥१०६॥

इत्थं हि दुर्न्यान् कक्षीकृत्य भ्रान्ताः कुदृष्टयः ।

हित्वा तान् शुद्धदृक् तत्त्वमनेकान्तात्मकं श्रयेत् ॥१०७॥

भवो मोक्षश्चेत्यवस्थाद्वैतमस्यात्मनो भवेत् ।

भवस्तु चतुरङ्गे स्यात् संसारे परिवर्तनम् ॥१०८॥

(१०२) द्रव्यदृष्टि से जीव शाश्वत है । जीव के पर्याय विनाशी हैं । छः द्रव्यों की पर्यायों के द्वारा जीव में उत्पत्ति और नाश होता है । (१०३) जो पहले न हो, उसका होना—यही उत्पाद है । होने के पश्चात् न होना—यह नाश है । और वैसे का वैसा रहना—यही ध्रौव्य है । जीवादि सभी द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों से युक्त है । (१०४—१०७) आत्मा का इस प्रकार का स्वरूप मिथ्या दृष्टि रखने वाले लोग जान नहीं पाते । इसीलिए वे अपने ही पक्ष को पकड़ कर आपस में विवाद करते हैं । मिथ्यादृष्टि वालों का एक वर्ग (बौद्ध) आत्मा को अनित्य मानता है, दूसरा (चार्वाक) आत्मा के अस्तित्व का इन्कार करता है, तीसरा (सांख्य-वेदान्त) आत्मा को अकर्ता, अभोक्ता और निर्गुण मानता है, चौथा आत्मा को मानते हुए भी मोक्ष नहीं मानता है, पाँचवाँ मोक्ष मानते हुए भी मोक्ष का उपाय नहीं है—ऐसा मानता है । इसी प्रकार दुर्नयों का आश्रय करके ये मिथ्यादृष्टि लोग भ्रान्ति में पड़े हुए हैं । इन दुर्नयों को छोड़कर जो सम्यक्दृष्टि हैं उनको अनेकान्तात्मक शुद्ध तत्त्व का स्वीकार करना चाहिए । (१०८) भव और मोक्ष—ये दो आत्मा की अवस्थाएँ हैं । भव का अर्थ है चार गति (देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक) वाले संसार में गति-आगति (आना-जाना, परिवर्तन, जन्म-मरण) ।

बन्धहेतोरभावात् स्यान्निर्जराकरणादपि ।
 यः कृत्स्नकर्मनिर्माक्षो मोक्षोऽनन्तसुखात्मकः ॥१०९॥
 तस्योपायस्त्रिधा सम्यग्ज्ञानदृष्टलक्षणः ।
 जीवाजीवौ पुण्यपापाश्रवसंवरनिर्जराः ॥११०॥
 बन्धमोक्षौ नवैते स्युः पदार्थाः सत्यतामिता ।
 भव्योऽभव्यस्तथा मुक्तस्त्रिधा जीवनिरूपणा ॥१११॥
 अजीवः पञ्चधा धर्माधर्मकालखपुद्गलाः ।
 गत्युपग्रहकृद्धर्मो मत्स्यानां सलिलं यथा ॥११२॥
 अधर्माः स्थित्यवष्टम्भः तरुच्छाया नृणामिव ।
 अवगाहप्रदं व्योमाऽमूर्तं यद् व्यापि निष्क्रियम् ॥११३॥
 वर्तनालक्षणः कालः सा तु स्वपरसंश्रयैः ।
 पर्यायैर्नावजीर्णत्वकरणं वर्तना मता ॥११४॥
 स मुख्यो व्यवहारात्मा द्वेषा कालः प्रकीर्तितः ।
 मुख्योऽसंख्यैः प्रदेशैः स्वैश्चितो मणिगणैरिव ॥११५॥

(१०९) बन्ध के हेतुओं का अभाव होने के कारण कर्मों से अत्यन्त मुक्ति होती है । निर्जरा से भी कर्म से अत्यन्त मुक्ति होती है । यही मोक्ष है । मोक्ष अनन्त सुखात्मक है । (११०-१११) मोक्ष का उपाय सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, और सम्यक् चारित्र्य ये तीनों मिलकर हैं । जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष-ये नौ तत्त्व हैं । जीव के तीन भेद हैं—भव्य, अभव्य व मुक्त । (११२-११३) अजीव पाँच प्रकार का है—धर्म, अधर्म, काल, आकाश व पुद्गल । धर्म गति का सहायक कारण है । उदाहरणतः जैसे जल मत्स्य की गति में सहायक होता है वैसे धर्म (जीव और पुद्गल की) गति में सहायक होता है । अधर्म स्थिति का सहायक कारण है । मुसाफर की स्थिति में जिस प्रकार तरु की छाया सहायक होती है उसी प्रकार (जीव और पुद्गल की स्थिति में) अधर्म सहायक है । आकाश द्रव्यों को रहने की जगह देता है । वह अमूर्त है, व्यापक है, निष्क्रिय है । (११४) काल का लक्षण वर्तना है । स्वाश्रित पर्यायों के द्वारा या पराश्रित पर्यायों के द्वारा नवत्व-जीर्णत्व करना ही वर्तना मानी गई है । (११५) काल दो प्रकार का कहा गया है—व्यवहारकाल व मुख्यकाल । जो मुख्यकाल है वह अपने असंख्यप्रदेशों का मणियों के डेर के समान ढेर है ।

प्रदेशप्रचयाऽभावादस्य नैवास्तिकायता ।
 समयावलिकाद्यात्मा व्यवहारात्मकः स च ॥११६॥
 अन्ये पञ्चास्तिकायाः स्युर्धर्माधर्मौ नभस्तथा ।
 काल एते त्वमूर्ताः स्युर्मूर्तद्रव्यं तु पुद्गलः ॥११७॥
 वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणाः पुद्गला मताः ।
 अमूर्ताः स्कन्धदेशप्रदेशभेदात् त्रिधा मताः ॥११८॥
 मूर्तद्रव्यं चतुर्धा स्यात् स्कन्धदेशप्रदेशतः ।
 परमाणुस्त्वप्रदेशः स्कन्धादेर्मूलकारणम् ॥११९॥
 द्व्यणुकादिमहास्कन्धरूपः स्कन्धः पृथग्विधः ।
 धर्मछायातमोज्योत्स्नामेघवर्णादिभेदभाक् ॥१२०॥
 कार्यानुमेयास्त्वणवो द्विस्पर्शाः परिमण्डलाः ।
 वर्णो गन्धो रसश्चैकस्तेषु नित्या भवन्ति ते ॥१२१॥
 अनित्याः पर्ययैरेव सूक्ष्मसूक्ष्मो भवेद्व्यणुः ।
 सूक्ष्मास्तु कार्मणस्कन्धाः सूक्ष्मस्थूलाः पुनर्मताः ॥१२२॥
 शब्दगन्धरसस्पर्शाः स्थूलसूक्ष्माः पुनर्मताः ।
 छायाज्योत्स्नाऽऽतपाद्याश्च स्थूलद्रव्यं जलादि च ॥१२३॥

(११६) कालद्रव्य में प्रदेशप्रचय का अभाव है। इसीलिए काल अस्तिकाय नहीं है। व्यवहारात्मककाल समय, आवलिका आदि रूप है। (११७) (काल के सिवाय) अन्य पाँच द्रव्य पञ्चास्तिकाय कहे जाते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अमूर्त द्रव्य हैं। पुद्गल मूर्तद्रव्य है। (११८-११९) पुद्गल के लक्षण हैं—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श। अमूर्त द्रव्यों के तीन भेद होते हैं—स्कन्ध, देश व प्रदेश। मूर्त द्रव्य के चार भेद हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और अप्रदेश (परमाणु) परमाणु, स्कन्ध आदि का मूलकारण है। (१२०) द्व्यणुक से लेकर महास्कन्ध तक अनेकों प्रकार के स्कन्ध होते हैं—जैसे धर्म, छाया, तमस्, ज्योत्स्ना, मेघ, वर्ण आदि। (१२१-१२२अब) अणु अपने कार्य से अनुमेय है। परमाणु में दो स्पर्श, परिमण्डल, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस सदा होते हैं। पर्यायों के द्वारा परमाणु अनित्य होते हैं। (१२२कड-१२४अब) परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म होता है। कार्मण स्कन्ध सूक्ष्म होते हैं। शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श सूक्ष्मस्थूल होते हैं। छाया, ज्योत्स्ना, आतप आदि स्थूलसूक्ष्म होते हैं। जल आदि स्थूल द्रव्य होते हैं। पृथ्वी आदि स्थूल-स्थूल होते हैं। ये सब स्कन्ध के भेद हैं।

स्थूलस्थूलं पृथिव्यादि स्कन्धभेदा इमे स्मृताः ।
 शुभायुर्नामगोत्राणि सद्ब्रह्मं पुण्यमुच्यते ॥१२४॥
 द्विचत्वारिंशता भेदैः विस्तरेण निवेदितम् ।
 पुण्यादन्यत् पुनः पापं तद् द्रव्यशीतिविधं स्मृतम् ॥१२५॥
 कायवाङ्मनसां योगैः कषायैरिन्द्रियाऽब्रतैः ।
 पञ्चविंशतिमात्राभिः क्रियाभिः स्यादिहाश्रवः ॥१२६॥
 शुभाश्रवस्तु पुण्यस्य पापस्य त्वशुभाश्रवः ।
 आश्रवाणां तु सर्वेषां निरोधः संवरो मतः ॥१२७॥
 स द्विधा द्रव्यभावाभ्यां भवहेतुक्रियोज्जनम् ।
 स भावसंवरः कर्मपुद्गलादानविच्छिदा ॥१२८॥
 स्याद् द्रव्यसंवरः सोऽपि धर्मैः समितिगुप्तिभिः ।
 अनुप्रेक्षासचारित्रपरीषहजयैर्युतः ॥१२९॥
 तपसा निर्जरा द्वेषा तपः स्याद् बाह्यमान्तरम् ।
 बाह्यं तपः षड्विधं स्यात् तथैवाऽऽभ्यन्तरं मतम् ॥१३०॥
 सविपाकाऽविपाका सा स्यादुपायात् स्वतोऽपि वा ।
 मिथ्यात्वं सकषायाश्च योगा अविरतिस्तथा ॥१३१॥
 प्रमादश्चेत्यमी बन्धहेतवः स्युरिहाङ्गिनाम् ।
 प्रकृतिश्च स्थितिरनुभागः प्रदेश इत्यमी ॥१३२॥

(१२४कड-१२५) शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्र, सातावेदनीय—ये चार प्रकार के कर्म पुण्य कहलाते हैं। इनके सब मिलकर ब्यालीस (४२) भेद कहे गये हैं। पुण्य से विरुद्ध पाप हैं। पाप के बरासी (८२) भेद हैं। (१२६) मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से, (चार) कषायों से, (पाँच) इन्द्रियों से, (पाँच) अब्रतों से और पञ्चीस क्रियाओं से आस्रव होता है। (१२७) शुभ आस्रव पुण्य का कारण है, अशुभ आस्रव पाप का। सब प्रकार के आस्रवों का निरोध संवर कहा जाता है। (१२८-१२९) संवर के दो प्रकार हैं—द्रव्यसंवर और भावसंवर। संसार के हेतु रूप क्रिया का त्याग भावसंवर है। कर्म पुद्गल के आने को रोक देना यह द्रव्यसंवर है। संवर के उपाय धर्म, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, चारित्र्य और परीषहजय है। (१३०) तप से निर्जरा होती है। तप दो प्रकार का है—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य तप के छः भेद हैं। वैसे ही आन्तर तप के भी छः भेद हैं। (१३१-१३२) निर्जरा दो प्रकार की होती है—विपाकसहित और विपाकरहित। निर्जरा उपाय से भी होती है, स्वतः भी होती है। मिथ्यात्व, कषाय, योग, अविरति और प्रमाद संसारी के बन्ध के हेतु हैं। बन्ध के ये चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध।

बन्धमेदा मोहरागद्वेषस्पन्दादिसम्भवाः ।
 अणूनां स्निग्धरूक्षत्वात् परिणामात् यथात्मनः ॥१३३॥
 निःशेषकर्मनिर्मोक्षो मोक्षः स प्रागुदीरितः ।
 आलोकान्तादूर्ध्वगाः स्युः सिद्धा मोक्षपदस्थिताः ॥१३४॥
 ते पञ्चदशधा साध्याः नृगतित्रसभव्यजैः ।
 पञ्चेन्द्रिययथाख्यातक्षायिकत्वभवैर्गुणैः ॥१३५॥
 अनाहारकसंज्ञित्वकेवलज्ञानदृग्भवैः ।
 मार्गणास्थानकैरेतैर्न शेषैस्ते यथायथम् ॥१३६॥
 सत्पदाद्यनुयोगैस्तु साध्या नवभिरन्वहम् ।
 न तेषां पुनरावृत्तिः संसृतौ क्वापि संसृतिः ॥१३७॥
 नात्मशून्या भवेत् तावत् सिद्धाः संसारिणां पुनः ।
 भागेऽनन्ते वर्तमानास्तेऽनन्ताः शाश्वता अपि ॥१३८॥
 बद्धानामपि मुक्तत्वे स्याद्भानिर्न क्षयः क्वचित् ।
 आनन्त्यं हेतुरेवात्र धर्माणामिव वस्तुनः ॥१३९॥
 इत्यमीषां पदार्थानां श्रद्धानं प्रीतिपूर्वकम् ।
 तत्सम्यग्दर्शनं ज्ञातं तेषां भेदप्रकाशकम् ॥१४०॥

(१३३) ये सब प्रकार के बन्ध मोह, राग, द्वेष, स्पन्दन आदि से उत्पन्न होते हैं । जैसे एक अणु का दूसरे अणु से बन्ध स्निग्धता और रुक्षता से होता है उसी प्रकार आत्मा का कर्मों से बन्ध (मोह-राग-द्वेषादि रूप) परिणाम के कारण होता है । (१३४) निःशेष कर्मों का क्षय मोक्ष है । उसका निरूपण पहले किया गया है । (मुक्त होते ही जीव) लोक के अग्रभाग तक ऊर्ध्वगमन करता है । जिन्होंने मोक्षपद प्राप्त किया है वे सिद्ध हैं । (१३५-१३६) सिद्धों के पन्द्रह (१५) प्रकार माने गये हैं । इन सब प्रकारों में नृगति, त्रस, भव्यत्व, पञ्चेन्द्रियत्व, यथाख्यात चारित्र्य, क्षायिकत्व, अनाहाराकत्व, संज्ञित्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन—इन मार्गणास्थानों से ही, अन्य मार्गणास्थानों से नहीं; यथायोग्य विचार किया जाता है । (१३७-१३९) सत्पदादि नव अनुयोगों से भी ये पन्द्रह प्रकार के सिद्धों की प्रतिदिन विचारणा की जाती है । सिद्ध संसार में पुनः नहीं आते । संसार कभी आत्माओं से रहित नहीं होता क्योंकि सिद्धों की संख्या अनन्त होते हुए भी संसारी जीवों की जितनी संख्या है उसके अनन्त भाग की ही सदैव रहेगी । इसलिए संसारी जीव मुक्त होते रहते हैं फिर भी संसारी जीवों का क्षय (संसार में से) नहीं होता, केवल उनकी कमी ही होती है । (१४०) इन सब पदार्थों में प्रीतिपूर्वक श्रद्धा सम्यक् दर्शन माना गया है । सम्यक् दर्शन ही इन सब पदार्थों का भेद ग्रहण कराता है ।

सर्वभावेष्वनेकान्तो धर्माणां युगपद्यदा ।
 स्वस्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्द्रव्यगुणादिभिः ॥१४१॥
 सर्वं स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यस्ति नास्ति द्वयं समम् ।
 स्यादवक्तव्यमेव स्यादस्त्यवक्तव्यमेव तत् ॥१४२॥
 नास्त्यवक्तव्यमेव स्यात् क्रमेण च बुभुत्सया ।
 स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमादेशात् सप्तधा भवेत् ॥१४३॥
 परिणामः क्रमेणैषामक्रमेण तथा भवेत् ।
 गुणपर्यायवद् द्रव्यं गुणास्तु सहभाविनः ॥१४४॥
 पर्यायाः क्रमजाः सत्त्वं प्रौढ्योत्पादव्ययात्मकम् ।
 अनन्तधर्मव्याख्यायां सापेक्षा नयसंहतिः ॥१४५॥
 नयः सदिति विज्ञानात् सदेवैकान्तदुर्नयः ।
 तथा स्यात् सत्प्रमाणं स्यत्त्वं सर्वं स्याद्वादवादिनाम् ॥१४६॥
 सप्तभङ्गीप्रसादेन शतभङ्ग्यपि जायते ।
 इति मीमांसया तत्त्वं जानतो ज्ञानदर्शने ॥१४७॥
 व्यवहारात्मके स्यातां ते पुनर्निश्चयात्मके ।
 स्वसंवेद्यचिदानन्दमयस्वात्मावलोकनात् ॥१४८॥

(१४१) सभी वस्तु अनेकान्तात्मक हैं । एक ही समय स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भाव से वस्तु सत् है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से वस्तु असत् है । इस प्रकार सभी द्रव्य, गुण आदि को लेकर विचार किया जा सकता है । (१४२-१४३) अमुक दृष्टि से वस्तु है, अमुक दृष्टि से वस्तु नहीं है । दोनों दृष्टियों से, क्रम से, वस्तु है और नहीं भी है । दोनों ही दृष्टियों से एक साथ वस्तु का वर्णन करना मुश्किल है अर्थात् वस्तु अवक्तव्य है । वस्तु है और अवक्तव्य है । वस्तु नहीं है और अवक्तव्य है । वस्तु है, नहीं है और अवक्तव्य है । इस तरह वस्तु का वर्णन सप्तभङ्गीरूप सात वाक्यों से होता है । (१४४) (द्रव्यों का) परिणाम क्रम से और अक्रम से होता है । द्रव्य गुणपर्यायात्मक है । गुण सहभावी होते हैं । (१४५) पर्याय क्रम से होते हैं । वस्तु का जो सत्त्व है वह उत्पाद, व्यय और प्रौढ्य से व्याप्त है । वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं । अतः वस्तु का वर्णन अपेक्षाभेद (नयों) से होता है । (१४६) “है”— ऐसा ज्ञान नय है । “है ही”—ऐसा ज्ञान दुर्नय है । और “अमुक अपेक्षा से है”— ऐसा ज्ञान प्रमाण है । यह सब स्याद्वादवादियों को मान्य है । (१४७-१४८) सप्तभङ्गी के आचार पर शतभङ्गी भी हो सकती है । ज्ञान और दर्शन जब इस प्रकार की मीमांसा के द्वारा तत्त्व को जानते हैं तब वे व्यवहारात्मक कहलाते हैं । जब वे स्वसंवेद्य चिदानन्दमय अपनी आत्मा को देखते हैं तब वे ज्ञान और दर्शन निश्चयात्मक कहलाते हैं ।

सर्वसावद्ययोगानामुज्झनं चरणं विदुः ।
 सत्येव दर्शने ज्ञानं चारित्रं स्यात् फलप्रदम् ॥१४९॥
 दर्शनज्ञानविकलं चारित्रं विफलं विदुः ।
 त्रिषु द्व्येकविनाभावात् षोढा स्युर्दुर्नयाः परे ॥१५०॥
 दर्शनादित्रयं मोक्षहेतुः समुदितं हि तत् ।
 महाव्रतोऽनगारः स्यात् सागारोऽणुव्रती गृही ॥१५१॥
 आप्तो यथार्थवादी स्यादाप्ताभासास्ततः परे ।
 आप्तोक्तिरागमो ज्ञेयः प्रमाणनयसाधनः ॥१५२॥
 विपर्यस्तस्तदाभास इति तत्त्वस्य निर्णयः ।
 य एनां तत्त्वनिर्णीतिं मत्वा याथात्म्यमीत्मसीत् ॥१५३॥
 श्रद्धते स तु भव्यात्मा परं ब्रह्माधिगच्छति ।
 पुरुषं पुरुषार्थं च मार्गं तत्फलमाह सः ॥१५४॥
 लोकनाडीं समस्तां च व्याचख्ये त्रिजगद्गुरुः ।
 भवद् भूतं भविष्यच्च द्रव्यपर्यायगोचरम् ॥१५५॥

(१४९) सब प्रकार की दोषयुक्त प्रवृत्ति के त्याग को चारित्र कहते हैं। सम्यक् दर्शन हो तभी ज्ञान और चारित्र फलप्रद होते हैं। (१५०) दर्शन और ज्ञान से रहित चारित्र विफल है— ऐसा विद्वान लोग समझते हैं। इन तीनों में से एक या दो से रहित छः विकल्प होते हैं, जो दुर्नय हैं। (१५१) दर्शन आदि ये तीन मिलकर मोक्ष का एक ही उपाय बनता है। महाव्रतधारी अनगार है। अणुव्रतधारी श्रावक है। (१५२) जो यथार्थवादी है वह आप्त है, बाकी सब आप्त न होते हुए भी आप्त की भ्रान्ति करने वाले हैं। आप्तवचन ही आगम है, ऐसा समझना चाहिए। प्रमाण और नय आत्म के साधन है, उपाय है। (१५३-१५४) इस लक्षण से रहित जो वचन है वह आगमाभास है। आगम में तत्त्व का जो निर्णय किया गया है उसको सचमुच तत्त्वनिर्णय मान कर जो यथायोग्य भावपूर्वक श्रद्धा रखता है वह भव्यात्मा है। वह (मुक्त होता है अर्थात्) परमब्रह्म को प्राप्त करता है। फिर उन्होंने (अर्थात् पार्श्वनाथने) पुरुष, पुरुषार्थ, मार्ग और मार्गफल कहा। (१५५) उपरान्त, तीनों जगत् के गुरु पार्श्व ने समस्त लोकनाडी की व्याख्या की। भूत, भविष्य, वर्तमान (सब) द्रव्य के (सभी) पर्याय (उनके ज्ञान का) विषय था।

आगति गतिमुत्पत्तिच्यवने जन्मिनां जगौ ।
 शलाकापुरुषान् सर्वान् कर्मणां वर्गवर्गणाः ॥१५६॥
 स्पर्द्धकादिव्यवस्थां च कृतं यत् प्रतिसेवितम् ।
 आविः कर्म रहः कर्म भुक्ति मुक्तिमुपादिशत् ॥१५७॥
 श्रुत्वेति भगवद्व्याख्यां घनस्तनितजित्वरीम् ।
 भव्या निष्पीतपीयूषा इव प्रमुदमाययुः ॥१५८॥
 जगृहः केऽपि सम्यक्त्वं केचित् पञ्चमहाव्रतान् ।
 गृहिधर्मं परे सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकम् ॥१५९॥
 श्रीमत्पाश्र्वघनाघनाद्विलसितं मन्द्रं ध्वनेर्गजितं
 ते सामाजिकचातकाः श्रुतिगतं सम्पाद्य सोत्कण्ठिताः ।
 पीत्वा धर्मरसामृतं मृतिजराशून्यं पदं लेभिरे
 भूयान्मङ्गलसङ्गमाय भविनां सैवाऽऽर्हती भारती ॥१६०॥

इति श्रीमत्परापरपरमेष्ठिपदारविन्दमकरन्दसुन्दररसास्वादसंप्रीणितभव्यभव्ये
 पं०पद्ममेरुविनेयपं०श्रीपद्मसुन्दरविरचिते श्रीपाश्र्वनाथमहाकाव्ये
 श्रीपाश्र्वसप्तवसुतिधर्मदेशनोपश्लोकनं नाम षष्ठः सर्गः ।

(१५६-१५७) संसारी जीवों की आगति, गति, उत्पत्ति, ज्यवन की बात भी उन्होंने कही । उन्होंने सभी शलाकापुरुषों का चरित्र वर्णित किया, कर्मों की वर्गणाओं का निरूपण किया, कर्मों की स्पर्द्धा आदि के द्वारा व्यवस्था की । उन्होंने प्रतिसेवना, प्रकट या उदित कर्म, अप्रकट या अनुदित कर्म, कर्मफलभोग और कर्म से मुक्ति - इन सब बातों का उपदेश दिया । (१५८) प्रभु पार्श्व का घनगर्जना से अधिक गंभीर उपदेश सुन कर भव्य जीव अस्यन्त आनन्दित हुए मानों उन्होंने सुधा का आकंठ पान किया हो । (१५९) कुछ जीवों ने सम्यक्त्व धारण किया, कुछ ने पाँच महाव्रतों को स्वीकार किया, अन्य ने सम्यग् ज्ञान-दर्शनपूर्वक श्रावक धर्म को अपनाया । (१६०) श्रीपाश्र्वनाथरूपी घने बाह्रों से जनित गंभीर ध्वनि की गर्जना को सुन कर वे श्रोतारूपी चातक (धर्मरसामृत पीने के लिए) उत्कण्ठित हो गये । फिर धर्मरसामृत का पान करके वे जरामरणरहित पद को प्राप्त हुए । अर्हत्देव की वाणी भव्य जीवों के मंगल की प्राप्ति के लिए हो !

इति श्रीमान् परमपरमेष्ठि के चरणकमल के मकरन्द के सुन्दर रस के स्वाद से भव्यजनों को प्रसन्न करने वाला, पं० श्री पद्ममेरु के शिष्य पं०

श्रीपद्मसुन्दर कवि द्वारा रचित श्रीपाश्र्वनाथ महाकाव्य में

‘श्रीपाश्र्वसप्तवसुति और धर्मदेशना का विवेचन’ नामक

षष्ठ सर्ग समाप्त हुआ ।

सप्तमः सर्गः

अथोदयाद्रिमूर्धस्थमिव मार्तण्डमण्डलम् ।
मणिरत्नपराद्धर्षद्धर्वासीनं हरिविष्टरे ॥१॥
चलच्चामरसंवीज्यमानदेहं जिनेश्वरम् ।
अशोकतरुबुध्नस्थं छत्रत्रितयभासुरम् ॥२॥
प्रावृषेप्यमिवाग्भेदं गम्भीरध्वनिगर्जितम् ।
गिरां विरामे सुत्रामा नत्वा तं भक्तिनिर्झरः ॥३॥
प्रमोदविकसन्नेत्रसहस्रः प्राञ्जलिः प्रभोः ।
समारोभे स्तुतिं कर्तुमेकतानः प्रसन्नधीः ॥४॥ ॥कलापकम्॥
त्वं स्वयम्भूः परंज्योतिः प्रभविष्णुरयोनिजः ।
महेश्वरस्त्वमीशानो विष्णुर्जिष्णुरजोऽरजाः ॥५॥
भवानिव जगत्लोकमशोकं कुरुते तरुः ।
अशोकोऽपि निजच्छायासंश्रितं त्वदुपास्तितः ॥६॥
उदस्तहरतैस्ते दक्षैर्यक्षैरुद्धतचामराः ।
धुनन्ति स्मेव भव्यानां रजांसि प्रचितान्यपि ॥७॥
तव च्छत्रत्रयं भाति मुक्ताजालविलम्बितम् ।
लीलास्थलमिवाऽऽपाण्डु जगत्लक्ष्म्याः समुच्छ्रितम् ॥८॥

(१-४) अब उदयाचलपर्वत की चोटी पर स्थित सूर्यमण्डल की भाँति अमूल्यमणि-
खचित अर्ध सिंहासन पर विराजमान, चलती चामरों से जिस पर पंखा किया जा रहा है ऐसे
शरीरवाले, अशोकवृक्ष के नीचे बैठे हुए, तीन छत्रों से सुशोभित और गम्भीरध्वनि से
गर्जना करते वर्षाकालीन बादल के समान जिनदेव को, अपनी वाणी के विश्रान्त होने पर
नमस्कार करके भक्ति के निर्झरवाले, प्रसन्नता से विकसित सहस्रनेत्रवाले, प्रसन्नबुद्धिवाले
और एकाग्रचित्त इन्द्र ने हाथ जोड़कर प्रभु की स्तुति करनी प्रारम्भ की । (५) हे प्रभो !,
आप स्वयंभू हैं, परम ज्योतिरूप हैं, समर्थ और अयोनिज हैं । आप ही महेश्वर हैं,
विष्णु हैं, अज हैं एवं अरज हैं । (६) आपकी उपासना के कारण अशोकवृक्ष भी आपकी
तरह अपनी छाया का आश्रय लेने वाले जगत् के लोगों को शोकमुक्त करता है । (७)
उन्नत हाथ वाले दक्ष यक्षों के द्वारा हिलाये हुए चामर भव्य लोगों की संचित रज को
दूर करते हैं । (८) हे प्रभो !, मुक्ताजाल से लटकता हुआ आपका छत्रत्रय अतीव शोभा
देता है । मानो यह छत्रत्रय जगत्लक्ष्मी का समुन्नत श्वेत क्रीडास्थल है ।

सुरास्त्वयि वितन्वन्ति नभस्तः सुमनोऽञ्जलीन् ।
स्वर्गश्रियेव निर्मुक्तान् प्रमोदाश्रुकणानिव ॥९॥

अप्रत्नरत्नरचितं तव सिंहासनं विभोः ।
त्वदास्यायै समानीतं मेरोः शृङ्गमिवामरैः ॥१०॥

जगत्त्रयपवित्रत्वविधानायेव यस्यति ।
तव वर्धप्रभाभाराक्रान्तं शालत्रयं विभो ! ॥११॥

तव यो दुन्दुभिध्वानडम्बरो व्यानशोऽम्बरम् ।
शब्दब्रह्मात्र विश्रान्तमितीव जगतां जगौ ॥१२॥

तव वाक्किरणौघोऽयमनन्तज्ञानभास्वतः ।
प्रसर्पन् व्यधुनोद् ध्वान्तं जगज्जनमनोगतम् ॥१३॥

अहार्यप्रतिहार्याणि नान्यसाधारणानि ते ।
स्वर्यं प्रकाशयन्त्येव जगत्साम्राज्यवैभवम् ॥१४॥

सत्यामिन्द्रियसामग्र्यां त्वयि ज्ञानमतीन्द्रियम् ।
जागर्त्यचिन्तनीया हि प्रमूणां खलु शक्तयः ॥१५॥

तव कल्पद्रुमस्येव भक्तिः शक्तिगरीयसी ।
दभ्राऽपि पम्फुलीत्येव फलसम्पदमद्भुतम् ॥१६॥

(९) देवता लोग आप पर आकाश से पुष्पों की वर्षा करते हैं, मानों स्वर्ग की लक्ष्मी के आनन्दाश्रु की बूँदें गिर रही हों । (१०) हे प्रभो !, आपका यह नवीनरत्न-जडितसिंहासन ऐसा लगता है मानों आपके ही बैठने के लिए देवतालोग सुमेरुपर्वत के शिखर को लाये हों । (११) हे प्रभो !, आपके शरीर की कान्ति के भार से व्याप्त शालत्रय (तीन किले) मानों तीनों लोकों को पवित्र करने का प्रयत्न करते हैं । (१२) दुन्दुभि की ध्वनि जैसी आपकी आवाज आकाश में प्रसृत है, वह मानों 'शब्दब्रह्म यहाँ विश्रान्त है' ऐसा तीन जगत् को कहती है । (१३) अनन्त ज्ञान से दीप्त ऐसी आपकी वाणीरूपी किरणों का समुदाय संसार के लोगों के फैलते हुए मानस अन्धकार को दूर करता है । (१४) आपका यह अनन्यसाधारण अहार्य प्रतिहार्य स्वर्यं जगत् साम्राज्य के वैभव को प्रकाशित करता है । (१५) इन्द्रियसामग्री के होने पर भी आपका ज्ञान अतीन्द्रिय है । समर्थ व्यक्तियों की अचिन्तनीय शक्तियाँ जागृत होती हैं । (१६) आपकी भक्ति, कल्प-वृक्ष की भाँति अत्यन्त शक्तिवाली है, अल्प होने पर भी अद्भुत फलसम्पात्त को विकसित करती है ।

मवद्भागमृतास्वादादेव ! देवामरा वयम् ।
सुधान्धसामपि सुधा मुधाऽद्य प्रतिभाति नः ॥१७॥

देवाधिदेवस्त्वं स्रष्टा परमेष्ठी पुरुः परः ।
शंभुः स्वयंभूर्भगवांस्त्वं पुमानादिपुरुषः ॥१८॥

त्वं विस्तोमुखो विश्वराड् विराड् विश्वदृग् विभुः ।
विश्वव्यापी विश्वयोनिः वियोनिर्विश्वभुक् प्रभुः ॥१९॥

त्वमनादिरनन्तश्च परमात्मा परापरः ।
हिरण्यगर्भोऽधिज्योतिस्त्वमिनस्त्वमयोनिजः ॥२०॥

त्वमक्षरोऽजरोऽक्षय्योऽनक्षरोऽनक्ष ईश्वरः ।
त्वमच्युतो हरो भव्यबन्धुस्त्वं भव्यभास्करः ॥२१॥

त्वं शंभुः शंभवः शम्बदः शरण्यश्च शंकरः ।
त्वं पुराणकविर्वाग्मी त्वं स्याद्वादवदावदः ॥२२॥

योगीश्वरो योगविदां वरस्त्वं धर्मतीर्थकृत् ।
त्वं धर्मादिकरो धर्मनायको धर्मसारथिः ॥२३॥

धर्मध्वजो धर्मपतिः कर्मारतिनिबर्हणः ।
त्वमर्हन्नरिहा सार्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शयसि ॥२४॥

(१७) हे प्रभो !, आपकी अमृतवाणी के रसास्वादन से हम अमर बने हैं । अमृत जिनका भोजन है ऐसे हमको आज अमृत व्यर्थ मान्य पड़ता है । (१८) आप देवाधि-देव हैं, स्रष्टा हैं, परमेष्ठी हैं, पुरु हैं, परः हैं, शंभु हैं, स्वयंभू हैं, भगवान् हैं, पुमान् हैं एवं आदिपुरुष हैं । (१९) आप विस्तोमुख हैं, विश्वराट् हैं, विराट् हैं, विश्वदृक् हैं, विभु हैं, विश्वव्यापी हैं, विश्वयोनि हैं, वियोनि हैं, विश्वभुक् है एवं प्रभु हैं । (२०) आप अनादि हैं, अनन्त हैं, परमात्मा हैं, परात्पर हैं, हिरण्यगर्भ हैं, अधिज्योति हैं, इन है, एवं अयोनिज हैं । (२१) आप अक्षर हैं, अजर हैं, अक्षय्य हैं, अनक्षर हैं, अनक्ष हैं, ईश्वर हैं, अच्युत हैं, हर हैं, भव्यबन्धु हैं, एवं भव्यभास्कर हैं । (२२) आप शंभु हैं, शंभव हैं, शम्बद हैं, शरण्य हैं, शंकर हैं, पुराणकवि हैं, वाग्मी हैं, एवं स्याद्वादवदावद हैं । (२३) आप योगीश्वर है, योगविदांवर हैं, धर्मतीर्थकृत् हैं, धर्मादिकर हैं, धर्मनायक हैं, एवं धर्मसारथि हैं । (२४) आप धर्मध्वज हैं, धर्मपति हैं, कर्मारतिनिबर्हण हैं, अर्हन् हैं, अरिहा हैं, सार्व हैं, सर्वज्ञ हैं, एवं सर्वदर्शी हैं ।

त्वं बुद्धस्त्वं स्वयंबुद्धस्त्वं सिद्धः पुरुषोत्तमः ।
सूक्ष्मो निरञ्जनोऽव्यक्तो महनीयो महानपि ॥२५॥

अणीयांश्च गरीयांश्च स्थवीयानुत्तमो जिनः ।
अनुत्तरोऽनश्वरस्त्वं स्थास्तुभूष्णुर्भवान्तकः ॥२६॥

ब्रह्म ब्रह्मविदां ध्येयः शान्तस्त्वं तारकः शिवः ।
आप्तः पारगतोऽपारश्चिद्रूपोऽनन्तदर्शनः ॥२७॥

निर्मदस्त्वं हि निर्मायो निर्मोहो निर्ममः स्वराड् ।
निर्द्वन्द्वो वीतदम्भस्त्वं निष्कलो निर्मलो जयी ॥२८॥

वीतरागोऽनन्तवीर्योऽनन्तज्ञानविलोचनः ।
निष्कलङ्को निर्विकारो निराबाधो निरामयः ॥२९॥

त्वमेव परमज्योतिश्चिदानन्दमयः स्वयम् ।
नाम्नामण्डोत्तरशतं नीत्वा स्वस्मृतिगोचरम् ॥३०॥

संस्तौमि त्वां जगस्तुत्स्यं श्रीमत्पार्श्वजिनेश्वरम् ।
वामेयं महिमाऽमेयमश्वसेननृपाङ्गजम् ॥३१॥

नमस्तेऽनन्तसौख्यायाऽनन्तज्ञानात्मने नमः ।
नमोऽनन्तदृशोऽनन्तवीर्याय भवते नमः ॥३२॥

(२५) आप बुद्ध हैं, स्वयंबुद्ध हैं, पुरुषोत्तम हैं, सूक्ष्म हैं, निरञ्जन हैं, अव्यक्त हैं, महनीय हैं एवं महान् हैं । (२६) आप अणीयान् हैं, गरीयान् हैं, स्थवीयान् हैं, उत्तम हैं, जिन हैं, अनुत्तर हैं, अनश्वर हैं, स्थास्तु हैं, भूष्णु हैं एवं भवान्तक हैं । (२७) आप ब्रह्म हैं, ब्रह्मविदांध्येय हैं, शान्त हैं, तारक हैं, शिव हैं, आप्त हैं, पारगत हैं, अपार हैं, चिद्रूप हैं एवं अनन्तदर्शन हैं । (२८) आप निर्मद हैं, निर्माय हैं, निर्मोह हैं, निर्मम हैं, स्वराड् हैं, निर्द्वन्द्व हैं, वीतदम्भ हैं, निष्कल हैं, निर्मल हैं, जयी हैं । (२९) आप वीतराग हैं, अनन्तवीर्य हैं, अनन्तज्ञानविलोचन हैं, निष्कलङ्क हैं, निर्विकार हैं, निराबाध हैं एवं निरामय हैं । (३०-३१) आप स्वयं परमज्योति हैं एवं चिदानन्दमय हैं । आपके एक सौ आठ नामों का स्मरण करके मैं जगत के स्तुतियोग्य तथा अमेयमहिमा-वाले वामा-अश्वसेन के पुत्र आप श्रीमत्पार्श्वजिनेश्वर की स्तुति कर रहा हूँ । (३२) अनन्तसुखयुक्त, अनन्तज्ञानस्वरूप, अनन्तदर्शनस्वरूप तथा अनन्तवीर्य आपको नमस्कार है ।

जय त्वं त्रिजगद्बन्धो ! जय त्वं त्रिजगद्धित ! ।
 जय त्वं त्रिजगत्त्रातर्जय त्वं त्रिजगत्पते ! ॥३३॥
 त्वदध्यानात् पूतचित्तोऽहं त्वन्नुतेः पूतवागहम् ।
 त्वन्नतेरस्मि पूताङ्गो धन्यस्त्वद्दर्शनादहम् ॥३४॥
 त्वत्पादनस्वरप्रांशुकिरणाम्बुनिमज्जनैः ।
 मूर्धाऽभिषिक्त इव मे भाति नम्रस्य पावनैः ॥३५॥
 तव स्तोत्रार्जितात् पुण्यादित्येवाऽऽशास्महे फलम् ।
 मूयान्नः कर्मरजसां त्वयि भक्तिरवावरी ॥३६॥
 इदं ते पावनं स्तोत्रमश्रान्तं यः स्मरेत् सुधीः ।
 लभते स सदानन्दमङ्गलश्रीपरम्पराम् ॥३७॥
 शतक्रतुरिति स्तुत्वा श्रीपार्श्वं विश्वपावनम् ।
 अथ तीर्थविहारस्याऽकरोत् प्रस्तावनामिति ॥३८॥
 भगवन् ! पापसन्तापतप्तानामङ्गिनां तव ।
 व्याख्यासुधारसस्यन्दैः प्रीणनावसरोऽधुना ॥३९॥
 निःश्रेयसाय भव्यानामुज्जिहीर्षुर्भवाम्बुधेः ।
 करोतु भगवानद्य धर्मतीर्थप्रवर्त्तनम् ॥४०॥

(३३) तीनों जगत के बन्धु आपकी जय हो, तीनों जगत् के हितकारी आपका जय हो । तीनों जगत के रक्षक आपकी जय हो, त्रिजगत्पति आपकी जय हो । (३४) आपका ध्यान करने से मैं पवित्रहृदय हो गया हूँ । आपकी स्तुति करने से मैं पवित्र वाणी वाला हो गया हूँ । आपको नमस्कार करने से मैं पवित्रात्मा हूँ तथा आपके दर्शन से मैं धन्य हो गया हूँ । (३५) आपके चरणों के नखों के ऊर्ध्वगामी किरणरूप जल के पवित्रस्नान से मस्तक पर अभिषिक्त की भाँति छुके हुए शीशवाला मैं महसूस करता हूँ । (३६) आपके स्तोत्र (स्तुति) से अर्जित पुण्य से हम यही फल चाहते हैं कि कम धूलि को हटाने वाली (हमारी) भक्ति आप में हो । (३७) यह आपका पवित्र स्तोत्र लगातार जो बुद्धिमान स्मरण करता है वह सदानन्ददायी मङ्गलकारक लक्ष्मीपरम्परा को प्राप्त करता है । (३८) इन्द्रदेव इस प्रकार विश्व को पवित्र करने वाले श्रीपार्श्व की स्तुति करके तीर्थ-विहार के लिए प्रस्तावना करने लगे । (३९) हे प्रभो !, पाप-सन्ताप से दुःखी शरीर-धारियों को व्याख्यानरूपी अमृतरसास्वादन से संतृप्त करना - यह अब आपका अवसर है । (४०) भव्य प्राणियों के संसारसागर से उद्धार के इच्छुक आप भगवान उनके कल्याण (मोक्ष) के लिए आज धर्मतीर्थ की प्रवर्त्तना करें ।

इति प्रबुद्धोऽपि जिनो विज्ञसोऽथ बिडौजसा ।
 विजहार महीपीठे धर्ममार्गं प्रवर्त्तयन् ॥४१॥
 परार्द्ध्यप्रातिहार्यैर्द्धिभूषितः सुरकोटिभिः ।
 सेव्यमानः स भगवान् विजहार वसुन्धराम् ॥४२॥
 अष्टौ गणधरास्तस्याभर्त्तुल्लब्धिविभूषिताः ।
 सर्वपूर्वधराश्चासन् सार्द्धत्रिंशत्सम्मिताः ॥४३॥
 अवधिज्ञानिनस्तस्य चतुर्दशशतप्रमाः ।
 सहस्रं केवलालोका एकादशशतप्रमाः ॥४४॥
 वैक्रियर्द्धियुतास्तस्य सार्द्धसप्तशतप्रमाः ।
 समनःपर्यायास्तस्य तथाऽनुत्तरगामिनः ॥४५॥
 द्वादशैव शतान्यासन् षट्शती वादिनामपि ।
 मुनयस्त्वार्यदत्ताद्याः सहस्राणि तु षोडश ॥४६॥
 आर्थिकाः पुष्पचूलाद्या अष्टत्रिंशत् सहस्रमाः ।
 लक्षमेकं चतुःषष्टिसहस्राण्यास्तिका विभोः ॥४७॥
 लक्षत्रयं च सप्तविंशतिसहस्रसंयुतम् ।
 श्राविकास्तस्य सद्धर्मं दिशतः सर्वतोऽभवन् ॥४८॥
 एवं निजगणैर्युक्तो भगवान् प्रत्यबूबुधत् ।
 भव्यपद्मकारान् धर्मं केवलज्ञानभास्करः ॥४९॥

(४१) प्रबुद्ध होने पर भी इन्द्र के द्वारा इस प्रकार स्तुति किए हुए जिनदेव ने महापीठ पर धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हुए विहार किया । (४२) परार्द्ध्य प्रतिहार्य समृद्धि से भूषित वह भगवान् जिनदेव पृथ्वी पर विहार करने लगे । (४३-४८) सर्वत्र धर्म को फैलाने वाले उन भगवान् के आठ गणधर थे जो लब्धियां से विभूषित थे, तीन सौ पचास सब पूर्वो के जानकार पूर्वधर थे; चौदह सौ अवधिज्ञानी थे; एक हजार केवलज्ञानी थे, ग्यारह सौ वैक्रियलब्धिवाले थे, सातसौ पचास मनःपर्यायज्ञानी थे, बारह सौ अनुत्तरगामी थे, छःसौ वादी थे, सोलहहजार आर्थदत्त आदि मुनि थे; अड़तीसहजार पुष्पचूला आदि आर्थिकाये थीं, एक लाख चौसठ हजार आस्तिक श्रावक थे और तीन लाख सत्ताइसहजार श्राविकाये थीं । (४९) इस प्रकार अपने गणों से युक्त केवलज्ञान के कारण भास्कररूप भगवान् ने धर्म में भव्यजनोरूपी कमलों को प्रबुद्ध किया ।

एवं त्र्यशीतिदिवसैरूनान् सप्ततिवत्सरान् ।
 विहृत्य भगवान् पार्श्वः प्रान्ते सम्मेतमासदत् ॥५०॥
 आयुर्वर्षशतं पूर्णं समापय्य महामनाः ।
 संलिरुय मासभक्तेन प्रलम्बितभुजद्वयः ॥५१॥
 स्वयं योगनिरोधार्थं समुद्घातं तदाऽकरोत् ।
 पूर्वं दण्डं कपाटं च मन्थानं लोकपूरणम् ॥५२॥
 चतुर्भिः समथैर्विश्वमापूर्यं व्यानशे विभुः ।
 सञ्जहारान्तरं मन्थं कपाटं दण्डमुत्क्रमात् ॥५३॥
 प्रदेशानुपसहृत्याऽघातिस्थित्यंशसंहतीः ।
 असङ्ख्येया निराकृत्यानुभागस्य च कर्मणाम् ॥५४॥
 भागाननन्तान् सोऽप्यन्तर्मुहूर्ताद्योगरुन्धनम् ।
 कुर्वाणो वाङ्मनयोगौ सूक्ष्मीकृत्याश्रयात् तनोः ॥५५॥
 ततश्च काययोगं च सूक्ष्मीकृत्याविनश्वरम् ।
 दध्यौ सूक्ष्मक्रियाध्यानं रुद्धयोगो गतास्रवः ॥५६॥
 अयोगी स समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमनश्वरम् ।
 पञ्चह्रस्वाक्षरैर्ध्यायन् शैलेशीकरणं गतः ॥५७॥

(५०) इस प्रकार सत्तर (७०) वर्षों में तरासी (८३) दिन कम विहार करके भगवान् पार्श्व अन्तकाल में सम्मेतशिखर पर्वत पर गये । (५१-५७) उदारमनवाले, प्रलम्बित महाभुजावाले पार्श्वप्रभु ने सो वर्ष की पूर्ण आयु समाप्त कर मासभक्त की संलेखना करके स्वयं प्रवृत्ति को रोकने के लिए समुद्घात किया । सर्वप्रथम दण्ड की तरह ऊर्ध्व और अधोदिशाओं में, फिर कपाट की तरह चारों दिशाओं में, फिर मन्था की तरह अन्तरालों में आत्मप्रदेशों को फैलाकर लोक को उन्होंने भर दिया । इस तरह चार क्षणों में विश्व का आत्मप्रदेशों से भरकर प्रभु व्यापक हो गये । बाद में उल्टे क्रम से मन्था, कपाट और दण्ड की तरह उन्होंने आत्मप्रदेशों का संकोच किया । आत्मप्रदेशों का संकोच कर अघाती कर्मों के असंख्येय भाग स्थितिबन्ध को उन्होंने नष्ट कर दिया तथा उन कर्मों के अनुभागबन्ध के अनन्त भागों को भी नष्ट कर दिया । तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त में शरीर की सूक्ष्मक्रिया का आश्रय कर उन्होंने वाणी और मन की प्रवृत्ति का निरोध किया । बाद में शरीर की क्रिया को सूक्ष्म कर प्रवृत्तिनिरोधवाला और आस्रवरहित वह अविनश्वर सूक्ष्मक्रिया ध्यानने लगा कर । उसके पश्चात् प्रवृत्तिरहित वह पाँच ह्रस्व अक्षर के उच्चारण में जितनाकाल लगता है उतने काल तक अविनश्वर समुच्छिन्नक्रिया ध्यान करके शैलेशीकरण को प्राप्त हुआ ।

त्रयोदशास्य कर्मोशाः प्रक्षीणाश्चरमे क्षणे ।
 द्वासप्ततिरुपान्त्येऽथ निर्लेपो निष्कलः शिवः ॥५८॥
 श्रावणे धवलाष्टम्यां त्रयस्त्रिंशत् तपोधनैः ।
 पूर्वाह्णे तु विशाखायां श्रीपार्श्वो निर्ववौतराम् ॥५९॥
 सम्भूयाथ सवासवाः सुरगणाः श्रीपार्श्वदेहं शुचि
 ज्वालाजालपरिष्कृते हुतभुजि प्रक्षिप्य गन्धोद्भुरैः ।
 गोशीर्षेऽधमसमेधिते परिलसत्काश्मीरजैश्चन्दनै-
 रभ्यर्च्याक्षतपुष्पमाल्यनिवहैस्ते भस्मसाच्चक्रिरे ॥६०॥
 क्षीरोदे च निचिक्षिपुर्जिनपतेर्भूति पवित्राङ्गजां
 बालादित्यसपत्नरत्नविलसत्कोटीरकोटीधरैः ।
 नत्वा तां निजमूर्द्धभिः सुरगणाः सेन्द्राः समस्तास्ततो ।
 जम्भुः स्वालयमेव ते कृतमहानिर्वाणपूजोद्धवाः ॥६१॥
 शक्रस्तूपरिमां च दक्षिणहनुं जग्राह चेशानपो
 वामां तां चमरोऽग्नि्यां द्रुतमधःस्थां वामजातां बलिः ।
 अङ्गोपाङ्गगतास्थिवृन्दमपरे शेषाः सुराः सादरं
 कृत्वा स्तूपविधानमत्र सकला नन्दीश्वरादौ ययुः ॥६२॥

(५८) उनके (पार्श्व के) तेरह कर्म के अंश चरम (अन्तिम) क्षण में नष्ट हो गये और उपान्त्य क्षण में बहत्तर (७२) कर्म के अंश भी नष्ट हुए । तदनन्तर वे निर्लेप, निष्कल व शिव हो गए । (५९) श्रावणमास में शुक्लाष्टमी के दिन तेतीस तपोधन मुनियों के साथ विशाखानक्षत्र में, पूर्वान्ह में श्रीपार्श्व ने निर्वाणपद प्राप्त किया । (६०) इन्द्रसहित सभी देवताओं ने एकत्रित होकर श्रीपार्श्व के पवित्र देह को कान्तिमान सुगन्धित केसर एवं चन्दन से तथा अक्षत, पुष्प और मालाओं से सजा कर, ज्वालाओं से परिष्कृत और गोशीर्षचन्दन के इन्धन से प्रज्वलित अग्नि में रख कर भस्मीभूत कर दिया । (६१) उन्होंने जिनपति श्रीपार्श्व के पवित्र अंग से उत्पन्न भस्म को क्षीर समुद्र में विसर्जित किया । प्रातःकालीन सूर्य के समान विलसित मणियों से जटित मुकुट की कोटि को धारण करने वाले अपने अपने मस्तकों से नमस्कार कर (झुककर) इन्द्रसहित वे सभी देवता वहाँ से अपने स्थान को महानिर्वाणपूजा का उत्सव कर चले गये । (६२) इन्द्र ने ऊपर की टुड्डी को ग्रहण किया और दाहिनी टुड्डी को ईशानेन्द्र ने और बायी टुड्डी को चमरेन्द्र ने तथा बलि ने अधोस्थित वाम हनु के अग्रभाग को लिया । अन्य देवताओं ने अंग व उपांगों के अस्थिसमूह को ग्रहण किया । स्तूपविधान करके सब नन्दीश्वर आदि स्थानों को प्रस्थान कर गये ।

यद्गर्भोद्भव-संयमग्रह-महाकैवल्य-निर्वाणता-

कल्याणेषु सुरासुराः सुरपातेव्रातैः समं सादराः ।

स्फूर्जद्रत्नकिरीटकोटिमणिभिर्नीराजयन्तो जग-

च्चक्षुस्फीतमहामहं स तनुतात् पार्श्वः सतां मङ्गलम् ॥६३॥

पूर्वं यो मरुभूतिरास स गजो देवश्च विद्याधर-

स्तस्मादच्युतनिर्जरो नरपतिः श्रीवज्रनाभिर्बभौ ।

पश्चान्मध्यममध्यमे त्रिदिवपो हेमप्रमश्चक्रद्यभूद्

गीर्वाणः स च पार्श्वनाथजिनपो भूयात् सतां भूतये ॥६४॥

यः शत्रौ कमठे प्रसादविशदा दृष्टि कृपामन्थरां

व्यातेने भगवान् शतामृतरसाभ्योधिश्च तस्मै ददौ ।

सम्यक्त्वश्रियमेष शेखरतया ख्यातस्तितिक्षावतां

गाभीर्यैकपयोनिधिः स तनुतान्नः पार्श्वनाथः शिवम् ॥६५॥

आनन्ददोदयपर्वतैकतरणेरानन्दमेरुगुरोः

शिष्यः पण्डितमौलिमण्डनमणिः श्रीपद्ममेरुगुरुः ।

तच्छिष्योत्तमपद्मसुन्दरकविः श्रीपार्श्वनाथाह्वयं

काव्यं नव्यमिदं चकार सरसालङ्कारसंदर्भितम् ॥६६॥

(६३) जिन भगवान् पार्श्व की गर्भ से उत्पत्ति, संयमग्रहण, केवलज्ञान और निर्वाण कल्याणकों में इन्द्र के साथ सुर और असुर सभी आदर के साथ देदीप्यमान रत्नमुकुटों की कोटि के मणियों से जगच्चक्षुरूप (जिस भगवान की) आरती करते हैं वह पार्श्वप्रभु सज्जनों के विस्तृत महोत्सव वाले मंगल को करें। (६४) पहले जो (प्रथम भव में) मरुभूति थे, वही (द्वितीय भव में) हाथी बने, (तृतीय भव में) देव हुए, (चतुर्थ भव में) विद्याधर देव हुए, उसके पश्चात् (पंचम भव में) अच्युतदेव हुए, और (षष्ठ भव में) नरपति श्रीवज्रनाभि राजा (रूप से) शोभित थे। तत्पश्चात् (सप्तम भव में) मध्यममध्यम नामक स्वर्ग में इन्द्र हुए, (अष्टम भव में) हेमप्रम चक्री हुए, पश्चात् देव हुए। ऐसे पार्श्वनाथ जिनदेव सज्जनों के ऐश्वर्य के लिए हों (अर्थात् उनका कल्याण करें)। (६५) जिस प्रभु ने दुष्ट शत्रु कमठ में प्रसन्नता से निर्मल और कृपायुक्त दृष्टि रक्खी, जिस शतामृत-रससागर प्रभु ने उसे सम्यक्त्व प्रदान किया और जो सहनशीलता वालों में श्रेष्ठ हैं और जो गम्भीरता के उत्तमसागर हैं ऐसे पार्श्वनाथ प्रभु हमारा कल्याण करें। (६६) आनन्ददोदयपर्वत के एकमात्र सूर्य आनन्दमेरु गुरुजी के शिष्य, पण्डितों के मुकुट के मणिरूप श्रीपद्ममेरु थे। उनके उत्तम शिष्य पद्मसुन्दरकवि ने पार्श्वनाथ नामक यह नूतन काव्य रस तथा अलंकारों से युक्त रचा है।

इति श्रीमत्परापरपरमेष्ठिपदारविन्दमकरन्दसुन्दररसास्वादसम्प्रीणितभव्य—
भव्ये पं० श्रीपद्ममेरुविनेय पं० पद्मसुन्दरविरचिते श्रीपार्श्वनाथ—
महाकाव्ये श्रीपार्श्वनिर्वाणमङ्गले नाम
सप्तमः सर्गः ॥

इति श्रीमान् परमपरमेष्ठी के चरणकमलरूपी मकरन्द के सुन्दर रस के
स्वाद से भव्यजनों को प्रसन्न करने वाले, पं० श्रीपद्ममेरु के
शिष्य पं० श्रीपञ्चसुन्दरकवि द्वारा रचित श्रीपार्श्वनाथ-
महाकाव्य में “श्रीपार्श्वनिर्वाणमंगल” नामक सातवाँ
(अन्तिम) सर्ग समाप्त हुआ ।

परिशिष्ट-१

पार्वनाथचरित में प्रयुक्त अलंकार

अतिशयोक्ति २. ७। ३. ७, १२, ४८, १४६। ४. २, ३, ४, ३०, ३२, ६५, ६६,
६७, १३५। ५. २६।

अनन्वय ५. १४

अनुप्रास ४. ३९, ६२। ५. २, ७, २५, २९, ३३, ४७, ७२, ८५, ८७, ६. ४६,
६७, ८१। ७. १९-२९।

अनुमान ३. ८, १५६

अर्थान्तरन्यास १. १९, २६, ४६, ४८, ५०। २. १२, ३५, ६८, ७७। ३. १५२, २०४।
४. ८६, ९०, १३०, १८०, १८६। ५. १, ३७, ३९, ४२, ४९, ६२,
६३, ६९, ७३, ७५, ७६, ८०। ७. १५

आरोप १. १६

उत्प्रेक्षा १. १, ३, ५, १९, २६। २. ३, ४, १६। ३. ३, ४, ११, १५, ४०, ४१, १५३,
१५५, १७१, १८८, २०१। ४. २, १८, २६, ५१, ५६, ५७, ५९-६१,
६३, ६४, १३८, १३९, १४६, १४७, १५१, १५५, १६८, १७१। ५. ५, ६,
१४, १७, २५, २८, २९, ३१, ३५। ६. २०, ५१, ७९, ८०, ८२। ७. ८

उपमा. १. ६, १५, १६, १८, ३४. ६९। २. १, २, ५, ७, १४, १७, २२, ५०।
३. १, २, ५, १७, १८, ४२, ६२-६५, ६९, १०३, १०४, १२१,
१४७, १४९, १५१, १५४, १५७-१६०, १७३, १८७, १८९, १९०,
१९३-१९७, २०५, २०६। ४. १७, १९, २२, २६, ४२-४६,
४८-५०, ५२-५५, ५८, ६२, ६५, ६८, ९४, ९६, १३७, १४०,
१४२, १४३, १४९, १५९, १६०, १६५, १७२, १७३, १७४, १७६,
१७७, १८१, १८२, १८५, १८६। ५. ६, ७, १०, ११, १८, १९,
३२, ६१, ७९, १०१। ६. ८१, ८५, ११२, ११३, ११५, १३९, १५८।
७. ६-१२, १६, ३५,

कारणमाला ४. ९।

भ्रान्तिमान ३. १६१। ४. ३

दृष्टान्त ५. ३८, ४१, ७९, ८१, ८८,

मालोपमा १. १७। ४. ९। ७. १

यमक १. २५, ३८। ४. ४०। ५. १२, १५, १०६। ६. ५०, ७१, ७५, ७८,
१०१, १५६, १६०

रूपक २. १०, ५१। ४. १६०, १७२, १८५। ५. ९, २२, २४, ८६। ६. २१,
२८, ७९, ८६। ७. ६६.

विभाषना २. १०

विषम १. ५०, ५६

व्यतिरेक १. ७०। ३. २००। ५. १३, २४

संदेह ५. १६। ६. २१

स्वभावोक्ति १. २७, २८

परिशिष्ट-२
पार्श्वनाथचरित मे' प्रयुक्त छन्द

अनुष्टुभ १. १४-२८, ४१-४९, ५१-६७ । २. १-७०, ७२-७७ । ३. १-२२८ ।
४. १-१४९, १५२-१८४ । ५. ६१-६६ । ६. १-७०, ७६-७८, ८६-१३२ ।
७. १-५६ ।

आर्या १. ११, ६८-८३

इन्द्रवज्रा १. १२

कुङ्कुमलदन्ती ६. ७९

जलधरमाला ६. ८०

तोटक ६. ८२

दोधक ६. ८३

व्रतविलम्बित १. ४० । ४. १८८-१९४

मयूरसारिणी ६. ८१

मालिनी २. ७१ । ६. ७१-७५, ८५

रथोद्धता १. ३०-३६ । ५. ९६-१०६

बसन्ततिलका १. ३-५, ७, २९, ३७-३९ । ५. ४४-६०, ६७-७१,
९१-९३, ९५

वंशस्थ ५. १-४३

शार्ङ्गलविक्रीडित १. २, ६, ५०, ८४ । ३. २२९ । ४. १८५-१८७, १९५ ।
५. ९४, १०७ । ७. ६०-६६

शालिनी १. ८-१०, १३ । ४. १५१ । ५. ७२-९०

स्रग्धरा १. १ । ४. १५० । ६. ८४

परिशिष्ट-३

पाठान्तर

| | |
|----------------------------|-----------------------------|
| (१) प्रणयन्त्यमी ब | सर्ग २, श्लोक ५५, पंक्ति ड. |
| (२) चरिता ब | २. ५७ ड. |
| (३) तोयधारा ब | ३. ७७ क. |
| (४) मन्दिरम् ब | ३. ११४ ब, |
| (५) शातेकुम्भ अ | ३. १२९ ब. |
| (६) सेवधिः ब | ३. १९५ ड. |
| (७) स्थितिरिति ब | ४. १२३ क. |
| (८) ख्यार्तिं ब | ४. १२७ क. |
| (९) प्रहतः निःस्वान ब | ४. १६१ अ |
| (१०) रतियौवनश्रियोः अ | ५. १८ ब. |
| (११) मां स्म ब | ६. ८३ ब. |
| (१२) स्वापेक्षा अ | ६. १४५ क. |
| (१३) संभवः अ | ७. २२ अ. |
| (१४) स्थवीयानुत्तमोत्तमः ब | ७. २६ ब. |

नोट—छठे सर्ग का १४८ वां श्लोक (व्यवहारात्मके स्यातां... ...आदि) बह्वीदा वाली प्रति में नहीं है, मात्र अहमदाबाद वाली प्रति में ही पाया जाता है ।

